अपने गुरुवर

डा० भीखन लाल आत्रेय

अध्यक्ष, दर्शन विभाग,

हिन्दू-विश्वविद्यालय,

काशी

को सप्रेम समर्पित

प्रकाशकीय

जैन, बौद्ध, वैदिक—भारतीय संस्कृतिकी इन प्रमुख धाराओंका अवगाहन किये बिना अपनी आर्यपरम्पराका ऐतिहासिक विकास-क्रम हम जान ही नहीं सकते। सभ्यताकी इन्हीं तीन सरिताओंकी त्रिवेणीका सङ्गम हमारा वास्तविक तीर्थराज होगा। और, ज्ञानपीठके साधकोंका अनवरत यही प्रयत्न रहेगा कि हमारी मुक्तिका महा मन्दिर त्रिवेणीके इसी सङ्गम पर बने, उसी सङ्गम पर महा मानवकी प्राण प्रतिष्ठा हो।

लुप्त ग्रन्थोंका उद्धार; अलभ्य और आवश्यक ग्रन्थोंका सुलभीकरण; प्राकृत अपभ्रंश, संस्कृत, कन्नड और तामिलके जैन वाङ्मयका मूल और यथा सम्भव अनुवाद रूपमें प्रकाशन, त्रिपिटक (पाली)की पुस्तकोंका नागरी लिपिमें प्रकाशन; ऐसे कार्योंमें ज्ञानपीठ लगा हुआ ही है, और आगे भी लगा रहेगा ही। इन कार्योंके अतिरिक्त सर्वसाधारणके लाभके लिए ज्ञानपीठने 'लोकोदय ग्रन्थमाला'का आरम्भ किया है। इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत हिन्दीमें सरल सुलभ सुरुचिपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की जायंगी। जीवनके स्तरको ऊँचाई पर ले जाने वाली कृतिके किसी भी रचयिताको ज्ञानपीठ प्रोत्साहित करेगा, वह केवल नामगत प्रसिद्धिके पीछे नहीं पड़ेगा। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, इतिहास—पुस्तक चाहे किसी भी परिधिकी हो परन्तु हो लोकोदयकारिणी।

प्रस्तुत पुस्तक 'पाश्चात्य तर्कशास्त्र' का प्रकाशन करके ज्ञानपीठ दर्शन, मनोविज्ञान आदि गम्भीर विषयोंकी पाठ्य पुस्तकोकी कमीकी पूर्ति-का प्रयत्न कर रहा है। हमे पूरी आशा है कि अपने विषयमे राष्ट्रभाषाको शिक्षाका माध्यम स्थापित करनेमें यह पुस्तक पूर्णत. सफल होगी।

इसके लेखक भिक्षु काश्यप जी अपने विषयके प्रगाढ पण्डित और सफल अध्यापक है। पाश्चात्य तर्कशास्त्रके गम्भीर विषयोको इतनी सरलतासे हिन्दीमें लिखकर इन्होने एक नया मार्ग प्रदर्शित किया है। ज्ञानपीठ भिक्षुजीकी इस सेवाका आभार मानता है।

डालमिया नगर
१३—७—४७

लक्ष्मीचन्द्र जैन
ग्रन्थमाला सम्पादक

दो शब्द

यह पुस्तक हमने इस विचार से लिखने का प्रयत्न किया है कि आई० ए० क्लासो मे लॉजिक पढ़ाने के लिए यह हिन्दी का माध्यम स्थापित कर सके। आई० ए० परीक्षा के लिए लॉजिक का प्राय. जो पाठ्यक्रम निश्चित किया जाता है उसके अनुकूल ही यह हो, इसका सदा ध्यान रक्खा है। कुछ आवश्यक विषयों पर अतिरिक्त विचार करने के हेतु उनके परिशिष्ट अन्त में दे दिए है। पारिभाषिक शब्दो के अगरेजी रूप उन्ही पृष्टों पर नीचे दे दिए हैं, जिससे विद्यार्थियो को हिन्दी के साथ साथ अगरेजी का भी अभ्यास होता जाय। विषय, क्रम उदाहरण, उपमा, शैली आदि सभी प्रकार से यह पुस्तक अपने अगरेजी सस्करणो का प्रतिरूप है। पुस्तक के अन्त मे एक परिशिष्ट 'प्रश्नावली' का दे दिया है जिस में परीक्षोपयोगी प्रश्नो का सकलन—हिन्दी और अगरेजी दोनो मे—कर दिया है, जिससे अगरेजी के प्रश्नपत्र को विद्यार्थी झट समझ ले और हिन्दी में उत्तर लिख सके।

मुझे विश्वास है कि यदि अधिकारी वर्गो की स्वीकृति हुई, और अध्यापक वर्गों का सहयोग हुआ, तो यह पुस्तक इस विषय के शिक्षण मे हिन्दी का माध्यम स्थापित करने मे सफल हो सकेगी। हिन्दी के पारिभाषिक शब्द कदाचित् प्रारम्भ मे वैसे न जचे जैसे अगरेजी के, किन्तु एक बार व्यवहार में आने के बाद वे ही अधिक सरल, सुबोध और स्वाभाविक प्रतीत होने लगेगे।

× × ×

मेरे विद्वान मित्र प्रोफेसर पं० दलसुख भाई मालवणिया ने पुस्तक लिखने में बड़ी सहायता दी है। विश्वविद्यालय के दर्शनाध्यापक सुहृद्वर

मूर्ति जी भी समय समय पर बहुमूल्य सम्मति देते रहे। उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

मेरे शिष्य उपासक अवध किशोर नारायण ने पुस्तक के सारे चित्र तैयार किए हैं। श्री मार्कण्डेय शुक्ल ने अनुक्रमणी बनाई है। इसके लिए उन्हें अनेक धन्यवाद।

बुद्धकुटी,
हिन्दू विश्व विद्यालय,
बनारस
८ ५ ४७

भिक्षु जगदीश काश्यप
पालि अध्यापक

पाश्चात्य तर्कशास्त्र

पहिला अध्याय

परिचय-प्रकरण

दूसरा अध्याय

पद-प्रकरण

तीसरा अध्याय

लक्षण प्रकरण

चौथा अध्याय

विभाग-प्रकरण

पाँचवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

पहला भाग

(वाक्य का रूप)

छठा अध्याय

वाक्य प्रकरण

दूसरा भाग

(वाक्य के प्रकार)

सातवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

तीसरा भाग

(वाक्य मे पदों के विस्तार)

आठवाँ अध्याय

अनुमान प्रकरण

निगमन-विधि

पहला भाग

अनन्तरानुमान

नवाँ अध्याय

अनुमान प्रकरण

निगमन-विधि

दूसरा भाग

परंपरानुमान

न्याय वाक्य

(क. शुद्ध)

निगमन-विधि

दूसरा भाग

(परंपरानुमान)

न्यायवाक्य

(ख. मिश्र)

निगमन-विधि

दूसरा भाग

(परंपरानुमान)

न्यायवाक्य

(ग संक्षिप्त)

न्यायवाक्य

(घ. युक्ति-माला)

न्यायवाक्य

(ङ. संक्षिप्त युक्तिमाला)

१. परिशिष्ट

विचार की मर्यादा

२. परिशिष्ट

३. परिशिष्ट

४. परिशिष्ट

अनन्तरानुमान

५. परिशिष्ट

६. परिशिष्ट

७. परिशिष्ट

पाश्चात्य तर्कशास्त्र

पहिला अध्याय

परिचय-प्रकरण

§ १—विषय-प्रवेश

पाश्चात्य तर्कशास्त्र का आदि प्रणेता प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) माना जाता है, जिसका काल चौथी शताब्दी ईसा पूर्व है। ग्रीक भाषा में तर्कशास्त्र को 'लॉजिक' (Logic) कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति 'लोगस' शब्द से है, जिसका अर्थ है 'वाणी' और 'विचार'। 'लॉजिक' शब्द का इस तरह द्व्यर्थक होना बड़ा सार्थक है, क्योंकि इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य न्यायसगत 'वाणी' और 'विचार' का अध्ययन करना है, जिससे हम असत्य से बच कर सत्य का लाभ कर सके।

शास्त्र का क्षेत्र

वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, वैद्यकशास्त्र आदि जितने शास्त्र है सभी के क्षेत्र अपने अपने भिन्न है। वनस्पतिशास्त्र वनस्पतिजगत का अध्ययन करके यह समझने की कोशिश करता है कि उसकी व्यवस्था मे कौन-कौन से सिद्धान्त काम कर रहे है। इसी तरह, दूसरे शास्त्र भी अपने अपने क्षेत्र की व्यवस्था को अधिक से अधिक जानना चाहते है।

बहुत निरीक्षण और परीक्षा करने के बाद हम एक सिद्धान्त बनाते है कि इस क्षेत्र मे ऐसी-ऐसी अवस्थाओ में ऐसे परिणाम होते है। अमुक

रासायनिक द्रव्यो के अमुक अनुपात मे सम्मिश्रण होने से अमुक गैस पैदा होते है, अमुक अमुक कुपथ्य होने से अमुक रोग होते है, इत्यादि। किंतु बहुधा ऐसा भी होता है कि एक सिद्धान्त स्थापित हो चुकने के बाद आगे चल कर ऐसे उदाहरण उपस्थित होते है जो उस सिद्धान्त के विरुद्ध ठहरते हैं, और वह सिद्धान्त दूषित ठहरता है। तव, इन नये उदाहरणो की दृष्टि से उस सिद्धान्त मे फिर सशोधन करना होता है। बहुत दिनो तक ज्योतिष-शास्त्र यह सिद्धान्त मानता रहा कि सौर्यमण्डल का केन्द्र पृथ्वी है, और सूर्य पृथ्वी के चारो ओर घूमता है। फिर, बाद मे यह सिद्ध हुआ कि सौर्य-मण्डल का केन्द्र पृथ्वी नही किंतु सूर्य है। इसी भाति प्रत्येक शास्त्र मे अनेक उदाहरण मिलेगे कि सिद्धान्त स्थापित हो जाने के बाद भी आगे चल कर वे खण्डित हो जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान के विकास का यही मार्ग है।

यदि इसे देख कर कोई यह कहे कि 'इन शास्त्रो का क्या विश्वास जो कभी कुछ कहते हैं और फिर बदल कर कभी कुछ' तो यह पण्डिताई की बात नही होगी। मनुष्य अत्यन्त अल्प प्राणी है। प्रकृति की गहन जटिल समस्याओ को समझने मे यदि उसे बार बार गिरना पड़े तो इसमे क्या आश्चर्य है! इतना तो अवश्य है कि प्रत्येक बार गिर कर वह कुछ न कुछ सीखता ही है, और सत्य से निकटतर से निकटतम होता है। इसी प्रेरणा से अग्रसर होते संसार के जितने शास्त्र है इस विकास को प्राप्त हुए है।

हा, तो प्रस्तुत प्रश्न यह कि 'तर्कशास्त्र' का अपना विषय क्या है? ससार के किस क्षेत्र की व्यवस्था को 'तर्कशास्त्र' अध्ययन करता है?

तर्कशास्त्र "शास्त्रो का शास्त्र"[1] कहा गया है। इसका अर्थ यह नही कि तर्कशास्त्र जितने भी शास्त्र है सभी के विषयो को एक साथ अध्ययन करना चाहता है। शायद यह सम्भव भी नही है। इसको

---

[1] The Science of Sciences.

'शास्त्रों का शास्त्र' इसलिये कहा है कि यह उन सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करता है जिनसे सभी शास्त्रों की विचार-पद्धति व्यवस्थित है। शास्त्रो के विषय अलग अलग होने पर भी उनके विचार करने की पद्धति समान सिद्धान्तो पर ही आश्रित है, जो विचार-व्यवस्था की मर्यादा का अतिक्रमण नही कर सकती। हमे किसी विशेष शास्त्र का ज्ञान भले ही कुछ न हो, किंतु जिन तर्कों से वह एक बात का प्रतिपादन करता है वह न्यायसगत है या नहीं इसकी हम अवश्य परीक्षा कर सकते हैं। विषय भिन्न भिन्न होने पर भी हमारे विचार की साधारण सरणी भिन्न नहीं होती। उसी साधारण सरणी के स्वरूप और मर्यादा का अध्ययन करना तर्कशास्त्र का अपना विषय है। जब कभी मनुष्य उन मर्यादाओं का, जान या अनजान, उल्लंघन कर देता है तो उसके निष्कर्ष झूठे उतरते हैं। मानव-इतिहास के प्रत्येक क्षेत्र से ऐसे उदाहरणों का संग्रह कर सकते हैं जो यह दिखाते हैं कि किस प्रकार विचार-सकलन के अयुक्त होने के कारण अनर्थ परिणाम हुए हैं। वैद्य के विचार में भूल हो जाने से रोगी का प्राणान्त हो जाता है; कप्तान के विचार में भूल होने से सारा जहाज संकटापन्न हो जाता है, इत्यादि। तर्कशास्त्र इन उदाहरणो का अध्ययन करता है और समझना चाहता है कि समजस व्यवस्थित विचार के नियम क्या है, जिनका पालन करना सत्य-समाधान के लिये आवश्यक है, और जिनका उल्लंघन होने से कुपरिणाम होते है। ऐसे उदाहरण वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, प्राणी-शास्त्र, अथवा किसी भी शास्त्र के विचारको के विचार से लिये जा सकते है। इसी कारण 'तर्कशास्त्र' को 'शास्त्रो का शास्त्र' कहते है।

रूपविषयक शास्त्र

तब, कह सकते है कि तर्कशास्त्र के अपने अध्ययन का विषय 'विचार' है। 'विचार' का विषय क्या है इससे तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध नही।

इस अर्थ मे तर्कशास्त्र अकगणित के प्रकार का है। अंकों का हिसाब लगा देना भर गणित का काम है। उसे इसकी परवाह नही कि दो और दो मिल कर जो चार हुए वे बैल थे, या लडके, या मिट्टी की गोलिया। चाहे विषय कुछ भी क्यो न हो, गणित का यह रूप कि '२+२=४' सभी जगह समान रूप से सत्य है। उसी तरह, तर्कशास्त्र 'विचार' के उन रूपो का पता लगाता है जो, जिनके विषय चाहे कुछ भी क्यो न हो, सर्वथा सत्य न्यायसगत निष्कर्ष दे। इसी कारण 'तर्कशास्त्र' बहुधा 'रूप-विषयक' (Formal) शास्त्र कहा जाता है।

किंतु 'विचार' के 'रूप' को उसके 'विषय' से सर्वथा पृथक् कर अध्ययन करना कहा तक सभव है यह एक परीक्षणीय बात है। इसकी परीक्षा हम आगे चल कर करेंगे कि तर्कशास्त्र कहा तक 'रूप-विषयक' है और कहा तक 'विषय-विषयक'।[1]

§ २—विचार[2]

तर्कशास्त्र के अध्ययन का विषय है 'विचार'। तो जानना चाहिये कि 'विचार' क्या है।

सामने से हो कर एक चौपाया जानवर गुजरता है। उसे देख कर अग-प्रत्यगो सहित उसे हम स्पष्ट जान लेते है, और बाहर उसकी वास्तविक स्थिति का अनुभव करते है। उसके चले जाने पर मन में उसका एक प्रतिबिम्ब सा रह जाता है, जो कालान्तर मे धुधला हो जाता है। फिर भी, उसी तरह का एक दूसरा जानवर आता है, जो बहुत बातो मे पहले से भिन्न होने पर भी वैसा ही है। इसके भी चले जाने पर इसका भी प्रतिबिम्ब मन मे पहले प्रतिबिम्ब के साथ मिल जाता है। ऐसे पुनरावर्तन का फल यह होता है कि उन जानवरो मे कुछ साधारण गुणो को ले कर

---

[1] देखो पृ० ८, १२-१८. [2] Thought.

हम एक 'सकेत' वना लेते है कि ऐसे जानवरों को इन सकेतो से पहचानेगे, और दूसरे जानवरो को इनसे अलग करेंगे। इसी प्रकार संसार की सभी चीजो का 'सकेत' हम मन मे वनाते रहते है। और, उनके लिये पृथक् पृथक् नाम दे देते है। अभ्यास के कारण 'सकेतो' का स्मरण होते उनके नामो का, और उन नामो का स्मरण होते उन 'सकेतो' का उद्बोध हो जाता है। वे दूध-पानी की तरह इतना मिल जाते है कि एक को दूसरे के विना ग्रहण करना असम्भव हो जाता है।

इन संकेतो का, अथवा नामो का, सव से वडा उपयोग यह है कि इनके सहारे (१) अवस्थाये वदल जाने पर भी हम किसी वस्तु को वही है करके पहचान लेते है, और (२) भिन्न व्यक्तियो को देख कर उनके एक जाति का होना जान लेते है।

एक वच्चा युवा होने पर विलकुल वदल जाता है, और वृद्ध होने पर और भी वदल जाता है। किंतु उसका जो 'सकेत' पकड़ लिया है, और उसे यज्ञदत्त या ब्रह्मदत्त जो नाम दे दिया है वह हमे उसे सभी अवस्थाओ मे 'वही' करके पहचानने में सहायक होता है। उसी तरह, एक कुत्ता के दूसरे कुत्ते से रूप-रंग-आकार आदि अनेक प्रकार से अत्यन्त भिन्न होने पर भी, पूर्व मे ग्रहण कर लिये 'संकेत' के आधार पर, उसे एक ही जाति का होना समझ लेते है।

इन्ही 'नाम-संपृक्त सकेतो' से हमारे विचारो का निर्माण होता है। इन सकेतो को 'कल्पना'[1] कहते है। संसार मे जितनी चीजे है, उनमे परस्पर जो सम्बन्ध है, अथवा प्रकृति के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे जो व्यवस्था चल रही है, सभी का प्रतिरूप हम अपने विचार मे 'कल्पना' की भाषा में उतार लेने का प्रयत्न करते है। सूर्य क्या है, ग्रह क्या है, उपग्रह क्या है, एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालता है, इत्यादि सारे सौरमण्डल की व्यवस्था

---

[1] कल्पना=प्रत्यय

को ज्योतिषशास्त्र विचार में तद्रूप 'कल्पनाओं' की व्यवस्था कर लेता है। दूसरे सभी शास्त्र अपने अपने क्षेत्र मे यही बात करते है। 'कल्पनाओं का निर्मित यह विचार' कोई स्थायी चीज नही है, किंतु नये नये अनुभवों के साथ इसमे विकास होता रहता है। वस्तुस्थिति के अनुकूल रखने के लिये हम अपनी कल्पना में तथा विचार-व्यवस्था मे निरन्तर संशोधन करने को तैयार रहते हैं, जिसमें ही उसकी सार्थकता है। वस्तुस्थिति से असम्बद्ध स्वच्छन्द विचार को 'निराधार कल्पना की उडान' कहते हैं। तर्कशास्त्र मे ऐसे विचार का कोई स्थान नही है। 'कल्पनायें' जितनी अधिक साधार होगी विचार उतना ही अधिक प्रामाणिक होगा। तर्कशास्त्र ऐसे ही विचार का अध्ययन करता है।

§ ३—तीन वाद

ऊपर देख चुके है कि वस्तुओ को पहचानने के लिये, तथा उन्हे दूसरों से अलग करने के लिये, उनके सामान्य-साधारण गुणो को ले कर हम मन मे उनके 'सकेत' बना लेते है, और उन 'सकेतों' के अपने अपने नाम दे कर उन्हें स्थिर कर लेते है। फिर उस वस्तु की उपस्थिति या अनुपस्थिति मे उन्हे उन्ही नामो से याद करते है।

कुछ दार्शनिको ने यहा प्रश्न उठाया है कि, तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध किस से है? तर्कशास्त्र क्या वस्तुओ के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्धो का अध्ययन करता है, अथवा विचारो के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्धो का, अथवा उन्हे व्यक्त करने वाले नामो के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्धो का?

(१) वस्तुवाद[1]

कुछ दार्शनिक पहली अवस्था का प्रतिपादन करते है। इनका कहना

[1] Realism.

है कि तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध वस्तुस्थिति से है। अवास्तविक विचारो तथा शाब्दिक नामों से क्या !! तर्कशास्त्र के नियम वास्तविक प्रकृति के नियम पर ही आश्रित होने चाहिये। तर्क करके हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते है वह यदि वास्तविक सत्य से भिन्न हुआ तो उसकी प्रामाणिकता कहा रही ! इस वाद का पोषक दार्शनिक स्पेन्सर तर्कशास्त्र की परिभाषा करते हुए कहता है—"यह वह शास्त्र है जो सच्ची वस्तुओ के परस्पर सम्बन्ध के परम सामान्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है।"[1] इस वाद को वस्तुवाद,[2] या यथार्थवाद,[3] या विषयवाद[4] कहते है, क्योंकि इसके अनुसार तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध विचार के विषय यथार्थ वस्तु से ही है।

(२) कल्पनावाद[5]

हैमिल्टन, मैन्सल प्रभृति दूसरे दार्शनिको का उक्त वाद के विरुद्ध कहना है कि यदि तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध वस्तु-विषय के साथ हो तो तर्कशास्त्र में वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि सभी शास्त्रो का समावेश हो जायगा। यह तो किसी प्रकार सम्भव नही है। अत. तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध 'विचार' के अन्त.-सामजस्य से ही हो सकता है। 'विचार' का विषय क्या है यह तर्कशास्त्र के लिये गौण बात है। तर्कशास्त्र तो यही अध्ययन करेगा कि किन दोषो के कारण एक विचार के भीतर असगति उत्पन्न हो जाती है, तथा उसका किस प्रकार निवारण

---

[1] "Logic is the science which formulates the most general laws of correlation among existences considered as objective."

[2] Objective view. [3] Realistic view.

[4] Material view. [5] Conceptualism.

करके सगत और समजस विचार प्राप्त किया जाय। उदाहरणार्थ—यदि हम इस युक्ति का प्रयोग करे कि—

सभी मनुष्य अमर हैं,
मैं मनुष्य हू,
∴ मैं अमर हू—

तो तर्कशास्त्र को कोई आपत्ति नही होनी चाहिये। यथार्थ में सभी मनुष्य अमर हैं या नहीं इसकी परीक्षा करना तर्कशास्त्र का काम नही है। तर्कशास्त्र को तो केवल इसकी परीक्षा करनी है कि इतनी वात से कि "सभी मनुष्य अमर हैं, और मैं मनुष्य हू" यह निष्कर्ष निकालना कि "मै अमर हू" न्यायसगत है या नही। इस विचार के भीतर कोई असगति है या नही? यदि नही तो यह 'युक्ति-प्रयोग' बिल्कुल ठीक है, भले ही वस्तुस्थिति इसके विरुद्ध हो। अर्थात्, इस वाद के अनुसार तर्कशास्त्र 'विचार' के केवल 'रूप' की सचाई देखता है, उसके 'विषय' की नही। इसी वात को साधारणत. इस तरह व्यक्त करते है कि तर्कशास्त्र 'रूपविषयक' शास्त्र है, 'विपय-विपयक' नही।

अत. हैमिल्टन तर्कशास्त्र की परिभाषा यो करते है—"तर्कशास्त्र विचारो के अपने नियमो का शास्त्र है, अथवा विचार के रूप-विषयक नियमो का शास्त्र है।"[१] इस वाद को विचार-वाद, कल्पनावाद या रूपविषयकवाद कहते है।

(३) नामवाद[२]

मद्ले प्रभृति कुछ दूसरे दार्शनिको का कहना है कि तर्कशास्त्र का सीधा सम्वन्ध उचित और सम्वद्ध शब्द तथा भाषा के प्रयोग से है,

---

[१] "The science of the laws of thought as thought, or the science of the formal laws of thought."
[२] Nominalism.

क्योकि जो वस्तु या विचार भाषा मे व्यक्त नही किये गये है उनसे तर्कशास्त्र का कोई प्रयोजन नही। तर्क-शास्त्र को वस्तु या विचार का परिचय भी न मिले यदि उन्हे व्यक्त करने वाली भाषा का उपयोग न किया गया हो। अत, इस वाद के अनुसार तर्कशास्त्र 'पद', 'वाक्य' तथा युक्तियो के उचित प्रयोग का शास्त्र है।

इस वाद को भाषावाद या नामवाद कहते है।

* * * *

ये तीनो वाद अंशत सत्य है। पूर्ण सत्य तो तीनो के समन्वय से ही प्राप्त होगा। तर्कशास्त्र का सम्बन्ध 'भाषा' के उचित प्रयोग से अवश्य है, किंतु उतनी ही दूर तक जितनी दूर वह उस 'विचार' का व्यञ्जक है जिसका 'वस्तु' के साथ सवाद है। विचारशून्य भाषा मे कोई प्रयोजन नही। और वह विचार भी निरर्थक है जिसका वस्तु के साथ सवाद नही। तर्कशास्त्र का तो आदर्श वास्तविक सचाई से पूर्ण विचार को उचित भाषा में व्यक्त करना है। हा, आगे चल कर हम देखेंगे कि 'निगमन विधि'[1] में विचार के 'रूप'[2] की प्रधानता है, और 'व्याप्ति विधि'[3] मे विचार के 'विषय'[4] की। किंतु पूरा अनुमान दोनो विधियो के मिलने से ही होता है, अत. यथार्थ 'सत्य' तो वही है जो 'रूप' और 'विषय' दोनो तरह से सच्चा है।

§ ४—विचार और भाषा

सभी प्राणियो मे राग-द्वेष, प्रेम, क्रोध आदि भाव उत्पन्न होते है, और वे उन भावो को प्रगट करने के लिये मुह से कुछ ध्वनि निकालते है, अथवा हाथ-पैर से कुछ संकेत करते है। मनुष्य जाति भी जब विकास

---

[1] Deduction. [2] Form. [3] Induction.
[4] Matter.

की प्रारम्भिक अवस्था मे थी तब ऐसे ही कुछ ध्वनियो और सकेतों से एक दूसरे पर अपना विचार प्रगट करती थी। कालान्तर मे उस जाति के विकास के साथ साथ उसकी बुद्धि और भाषा का विकास हुआ। देश, अवस्थाये, वश आदि में भिन्नता होने के कारण अनेकानेक भाषाओ की उत्पत्ति हुई। भाषाओ की शब्दावली तथा रचनाशैली मे बराबर विकास होता गया। जैसे नये नये ज्ञान-विज्ञानों का आविष्कार हुआ, भाषा में उनको व्यक्त करने के लिये नये नये शब्द गढे गये। शब्द मे स्वय ऐसी कोई शक्ति नही है कि वह किसी विशेष अर्थ का ही बोधक हो। अमुक शब्द मे अमुक अर्थ का आना तो मनुष्यो के अपने व्यवहार की रूढि है। एक ही शब्द भिन्न भिन्न भाषाओ मे भिन्न भिन्न अर्थों मे भी रूढ़ हो जाता है। "उदाहरण के लिए सीधा-सीधा 'पास' शब्द लीजिए। हम हिन्दी वाले इसका अर्थ 'निकट', 'समीप' या 'नजदीक' समझते हैं। पुरानी हिन्दी मे इसका अर्थ 'ओर' या 'तरफ' होता था। अब वह 'अधिकार या कब्जे में' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। परन्तु भारत के समीपवर्ती फारस देश की फारसी भाषा मे इसी शब्द का अर्थ होता है—(क) लिहाज या खयाल, (ख) तरफदारी या पक्षपात और (ग) पहरा-चौकी आदि। अँगरेजी मे इसके अर्थ होते है—(क) उत्तीर्ण, (ख) दर्रा या खाडी और (ग) गुजरना या बीतना आदि। ससार की अन्यान्य भाषाओ मे इसके न जाने और क्या-क्या अर्थ होते होगे। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वयं 'पास' शब्द मे कोई ऐसी विशेषता नही है, जिससे उसका कोई अर्थ सूचित हो। अलग-अलग देशो के निवासियो ने उसके अलग-अलग अर्थ मान रखे हैं।"[१]

एक ही 'विचार' भिन्न-भिन्न भाषाओ में भिन्न-भिन्न शब्दावलियो मे भिन्न-भिन्न रचना-शैली से प्रकट किया जा सकता है। अत 'विचार'

---

[१] रामचन्द्र वर्मा—अच्छी हिन्दी, पृ० ३.

का किसी खास भाषा से अविनाभाव का सम्बन्ध नहीं है। किंतु हां, यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या 'विचार' बिना किसी भाषा के रह सकता है। हम लोग जब कुछ विचार करते हैं तब यथार्थ में अपने मन ही मन बात करते अपने को पाते हैं। साधारणतः बच्चे, और कभी-कभी बड़े भी, एकान्त में बोल-बोल कर विचार किया करते हैं। बिना मन में शब्द लाए हम कोई विचार कर सकते हैं इसकी कल्पना करना भी कठिन प्रतीत होता है—चाहे वह शब्द हिन्दी का हो, या अंगरेजी का, या संस्कृत का या किसी भी भाषा का।

इसके विरुद्ध, कुछ का कहना है कि 'विचार' के लिये भाषा अनिवार्य नहीं है। पशु, छोटे बच्चे, या गूंगे विचार तो अवश्य करते हैं, किंतु उन्हें कोई भाषा नहीं है। कभी-कभी हमी लोगों के मन में ऐसा विचार उठता है जिसके लिए शब्द नहीं मिलते। खोज करने के बाद उसके व्यञ्जक शब्द मिलते हैं।

'विचार' भाषा के बिना रह सकता है या नहीं यह विवाद तर्कशास्त्र का विषय नहीं है। हां, तर्कशास्त्र उन्हीं विचारों का अध्ययन करता है जो भाषा में व्यक्त किये जाते हैं—पशु-पक्षियों की चीं-चीं में-में की भाषा में नहीं, बच्चे या गूंगे की अस्पष्ट ध्वनियों की भाषा में नहीं, किंतु मनुष्य की गढ़ी-गढ़ाई गठित भाषा में। तर्कशास्त्र के लिए भाषा का जो महत्व है वह भाषा की दृष्टि से नहीं, किंतु यथार्थ 'विचार' के व्यञ्जक होने की दृष्टि से। यहीं तर्कशास्त्र और व्याकरण की दिशायें अलग हो जाती हैं। भाषा की बाह्य रचना व्याकरण का विषय है, और भाषा का आभ्यन्तरिक विचार तर्कशास्त्र का। भाषा और विचार में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण व्याकरण विचार की तथा तर्कशास्त्र भाषा-रचना की एकदम उपेक्षा नहीं कर सकता। किन्तु व्याकरण की अशुद्धि से तर्कशास्त्र को, और तर्क-शास्त्र की अशुद्धि से व्याकरण को कोई विशेष खतरा नहीं है। हां, तर्कशास्त्र

व्याकरण की उन अशुद्धियो से अवश्य बचेगा जिनसे अर्थ पर आघात आता हो।

भाषा के प्रयोग कभी-कभी अत्यन्त भ्रामक होते हैं। यह जानते हुए भी कि सूर्य अपने स्थान पर ही रहता है और यह कि पृथ्वी उसकी प्रदक्षिणा कर रही है, हम कहा करते हैं कि सूर्य निकला, सूर्य ऊपर उठा, सूर्य डूब गया। हम ही नहीं, ज्योतिषशास्त्र भी इसी भाषा में बात करता है। इससे किसी अनभिज्ञ पुरुष को भ्रम हो सकता है कि यथार्थ में सूर्य उठता और डूबता है, और वह इसकी पुष्टि के लिए ज्योतिषशास्त्र की किताब दिखा सकता है। ऐसे स्थलो पर तर्कशास्त्री को सावधान रहना होगा, और दिखा देना होगा कि भाषा के प्रयोग मात्र से वस्तु को वैसा समझना नही होगा।

कहने के लिए तो हम कहते हैं कि 'घड़े में गोलाई है, ललाई है, लम्बाई है, मोटाई है, भारीपन है, कड़ापन है इत्यादि', तो क्या इससे यह समझना होगा कि घडे मे इतनी चीजे भरी पडी है और उसमे पानी रखने की जगह नहीं है !!

भाषा और भी बहुत तरह से भ्रामक हो सकती है। तर्कशास्त्र को 'भाषा की बहक' से बचना होगा, और यथार्थ ग्रहण करने का प्रयत्न करना होगा।

§ ५—विचार के रूप और विषय[1]

विचार तो अमूर्त पदार्थ है, उसका कोई 'रूप' नहीं हो सकता। तो भी, जिस प्रकार उपाधि-भेद से अमूर्त आकाश के घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक रूप हो जाते है, उसी तरह जिन पद, वाक्य तथा युक्ति-प्रयोगो मे विचार उपस्थित होते है उनके विचार से 'विचार के रूप' होने की बात

---

[1] Form and Matter of Thought.

समझ में आ सकती है। उदाहरणार्थ, "सभी मनुष्य मरण-धर्मा हैं", और "कोई मनुष्य अमर नहीं है" इन दो वाक्यो के रूप भिन्न होने पर भी विषय में भेद नहीं है। फिर, "सभी मनुष्य मरण-धर्मा हैं", और "सभी देव अमर हैं" इन दो वाक्यो के 'रूप' समान होने पर भी दोनो के विषय दो हैं। इससे सिद्ध हुआ कि 'विचार' का एक ही 'विषय' भिन्न 'रूपो' मे उपस्थित हो सकता है, और 'विचार' के एक ही 'रूप' मे भिन्न 'विषय' उपस्थित हो सकते है।

रूप और विषय का यही सम्बन्ध स्थूल जगत मे भी लागू होता है। एक ही विषय अनेक रूप ग्रहण कर सकता है, और एक ही रूप अनेक विषयों मे व्यक्त हो सकता है। यथा, एक ही विषय-सुवर्ण के कुण्डल, कङ्कण, केयूर आदि अनेक रूप हो सकते हैं; और, सुवर्ण, रजत, पीतल आदि अनेक विषय कुण्डल का एक ही रूप ग्रहण कर सकते हैं। रूप विषय के विना, और विषय रूप के विना नहीं रह सकता है। तो भी, दोनो दो चीजें हैं, और हम उनकी परीक्षा पृथक् पृथक् कर सकते हैं। जब हमें कुण्डल के सोने का खरापन आँकना है तो उसकी काट-छाँट पर ध्यान नहीं देते, और जब उसकी काट-छाँट की वारीकी की परख करनी है तो इसका ख्याल नहीं करते कि उसका सोना कैसा है।

कुछ तर्कशास्त्रियों ने रूप और विषय का यह सम्बन्ध 'विचार' के क्षेत्र मे भी हू-बहू सच्चा होना स्वीकार किया है। उनके मत से तर्कशास्त्र शुद्ध 'रूप-विषयक'[1] शास्त्र है। किन 'रूपों' मे ढले हुए विचार सत्य-साधक होते हैं, और किन 'रूपो' में ढले हुए विचार भ्रामक तथा असगत होते हैं—यही अध्ययन करना तर्कशास्त्र का कर्तव्य है। कुण्डल की काट-छाँट की वारीकी की परख करने वाला जैसे इसकी परवाह नहीं करता कि उसका सोना सच्चा है या नहीं, उसी तरह तर्कशास्त्र 'रूप-

---

[1] Formal.

विषयक' होने के कारण इसकी परवाह नही करता कि 'विचार का विषय' आम है या इमली ।

बीजगणित भी इसी तरह सामान्य-सिद्ध ऐसे 'रूपों' का पता लगाता है जो, जिनके अक जो भी हो, सर्वथा ठीक परिणाम देते है । यथा, इस प्रकार का एक रूप है—क²–ख²=(क+ख) (क—ख) । अब, 'क' और 'ख', एक या लाख, जो भी अंक हो समीकरण सर्वथा सत्य होगा । बाजार के बनिये भी हिसाब लगाने के लिये सामान्य सिद्ध 'रूपों' का प्रयोग करते है । यथा, 'रुपये के जितने सेर, आने के उतने ही छटाँक' यह एक रूप है, जिसके उपयोग से चाहे चावल का क्रय-विक्रय कर ले, चाहे गेहू का, चाहे घास का, चाहे मिट्टी का ।

इसी तरह तर्कशास्त्र 'विचार' के उन सामान्य सिद्ध 'रूपों'[1] का पता लगाता है जो संगत तथा समंजस विचार के प्रतीक है । 'विषयों' के सत्यासत्य से इन रूपो की संगति तथा सामजस्य मे कोई आपत्ति नही आती । यथा, 'युक्ति-प्रयोग' के सामान्य सिद्ध 'रूप' का एक प्रसिद्ध उदाहरण है—

सभी 'क' 'ख' है,
सभी 'ग' 'क' है,
∴ सभी 'ग' 'ख' है ।

अब, 'क', 'ख' और 'ग' चाहे जो कुछ भी हो, 'युक्ति-प्रयोग' सर्वथा न्याय-सगत होगा । मान लिया कि 'क'=पशु, 'ख'=चतुष्पद और 'ग'= घोड़ा है । तो 'युक्ति-प्रयोग' का यह रूप ऐसा होगा—

सभी 'पशु' चतुष्पद' है,
सभी 'घोडे' 'पशु' है,
∴ सभी 'घोडे' 'चतुष्पद' है ।

---

[1] Forms.

इस 'युक्ति' का 'रूप' भी सामान्य सिद्ध है, और साथ ही साथ 'विषय' की वास्तविकता भी है। किंतु, इसी 'रूप' का दूसरा उदाहरण ले—

सभी 'मनुष्य' 'अमर' हैं,
सभी 'वनिये' 'मनुष्य' हैं,
∴ सभी 'वनिये' 'अमर' हैं।

इस 'युक्ति-प्रयोग' का 'रूप' तो सामान्य-सिद्ध है, किंतु इस 'विषय' की सचाई नहीं है। भला मनुष्य अमर कहा है!

तर्कशास्त्र के लिये दोनो उदाहरण मान्य है। 'विचार' के क्षेत्र मे ऐसे कितने सामान्य-सिद्ध 'रूप' स्थापित किये जा सकते है इसकी खोज तर्कशास्त्र करता है। इसी लिए तर्कशास्त्र को 'रूप-विषयक' शास्त्र कहा गया है। विचार के संगत तथा समजस 'रूपो' को खोज निकालने मे ही तर्कशास्त्र का महत्त्व है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हिगेल् कहता है, "यदि यह जानकारी कि सुग्गे साठ से भी अधिक प्रकार के होते है एक महत्वपूर्ण खोज समझी जाती हो, तो 'यक्ति-प्रयोग' के सामान्य-सिद्ध प्रकारो की खोज और भी अधिक महत्व की समझी जानी चाहिए। क्या सुग्गे के प्रकार से लाखो गुना अधिक महत्व 'युक्ति-प्रयोग' के प्रकार में नहीं है?"[1]

---

[1] "If it is held a valuable achievement to have discovered sixty and odd species of parrot....it should surely be held a far more valuable achievement to discover the forms of reason; is not a figure of the syllogism something infinitely higher than a species of parrot?"

—*Wissenschaft der Logik*, p. 139

§ ६—'रूपविषयक' कहाँ तक ?

तर्कशास्त्र 'रूप-विषयक'[1] अवश्य है, किंतु इसके इस पहलू पर आवश्यकता से अधिक जोर दे कर कुछ लोगो ने वडा अनुचित किया है। 'रूप' का अर्थ क्या है ? भिन्नताओ से पूर्ण व्यक्तियो मे जो सामान्य एकता है वही न ? रग, आकार आदि में अनेक भिन्नताओ से पूर्ण सभी घोडो मे अग-सस्थान की जो सामान्य एकता है वही न घोडे का 'रूप' है ? इस तरह तो सभी शास्त्र 'रूप विषयक' है, क्यो कि सभी शास्त्र अपने-अपने विषय मे भिन्नताओ के बीच सामान्यता का अन्वेषण करते है। शास्त्र अनेकानेक उदाहरणो की परीक्षा तभी तक करता है जब तक उसे उनका सामान्य स्वरूप मालूम नही हो जाता। सामान्य स्वरूप मालूम हो जाने के वाद उसके विशेष उदाहरणो से शास्त्र को कोई दिलचस्पी नही रहती। किसी भी शास्त्र को अध्ययन करने के लिए नये-नये प्रकार के उदाहरण चाहिए। एक ही प्रकार के अनेक उदाहरणो से उसे कोई लाभ नही होता।

उसी तरह, तर्कशास्त्र 'धर्म' और 'धर्मी' के सम्वन्ध वताने वाले 'विचार के' रूपो और 'प्रकारो' का अध्ययन करता है। एक बार एक 'प्रकार' को समझ लेने के वाद उसे उसके हजारो उदाहरण लेने की आवश्यकता नही रहती। उन अनेक उदाहरणो मे भिन्नता केवल 'विषय' की रहती है कि किस 'धर्म' का सम्वन्ध किस 'धर्मी' के साथ स्थापित किया गया है। किंतु 'धर्म' और 'धर्मी' के सम्वन्ध के जो 'प्रकार' है वह सभी मे वही है।

रूपविषयकता पर अनुचित जोर

जिन लोगो ने इस वात पर जोर दिया है कि तर्कशास्त्र 'रूप-विषयक ही शास्त्र है' उनका अभिप्राय यह नही है कि इस वात मे

---

[1] Formal.

तर्कशास्त्र दूसरे शास्त्रों के समान ही है जो अपने-अपने विषय के 'रूप' या 'सामान्य' की खोज करते है; किंतु उनका अभिप्राय यह है कि तर्क-शास्त्र विचार के उन रूपों का अध्ययन नही करेगा जो समस्त विषयों के 'विचार' में लागू न हो सके।

यह तो वैसा ही हुआ कि कोई वनस्पतिशास्त्री कहे कि वह उन सिद्धान्तो का अध्ययन नही करेगा जो ससार के समस्त पेड़-पौधो में लागू न हो सकें। अथवा, कोई ज्यामितिशास्त्री कहे कि वह उन सिद्धान्तो का अध्ययन नहीं करेगा जो ससार के समस्त क्षेत्रो के साथ लागू न हो सकें। सारे पेड़-पौधे एक ही प्रकार के नही है। उनकी भिन्न-भिन्न जातियां है; उनकी व्यवस्थाये भी भिन्न-भिन्न है। वनस्पति-शास्त्र उनका अलग-अलग अध्ययन करता है। उन जातियो के भीतर भी जितनी उपजातिया निकाल सके उतनी ही उसकी सफ-लता है।

उनकी गलती

उन तर्कशास्त्रियो ने यही गलती की है कि 'विपयो' की भिन्नता होने से 'विचार' के 'रूपों' में जो प्रकार-भिन्नता हो जाती है इसका ख्याल नहीं किया। उन्होंने यह समझा कि विचार के 'विषय' की बिल्कुल उपेक्षा करके ऐसे 'समान्य रूप' स्थापित किए जा सकते है जो समस्त 'विपयों' पर लागू हो सकें। किंतु, सच्ची बात तो यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के विपयों पर हम भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार करते है। अतः यदि अपने 'विचार' की व्यवस्था के सिद्धान्तो को जानना है तो 'विपय' की भिन्नता के कारण जो 'विचार' मे भिन्नता हो जाती है उसकी भी कुछ परीक्षा करनी ही होगी। तभी हम ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि तर्कशास्त्र कहां तक 'रूप-विपयक' है और कहा तक 'विषय-विपयक'।

'सामान्य-विधि' वाक्य[1] का 'रूप' है—"सभी 'क' 'ख' है ।" इसके तीन उदाहरण ले—

(१) सभी 'घोड़े' 'पशु' है
(२) सभी 'फूल' 'सुन्दर' है
(३) सभी 'भारतीय' 'हिन्दुस्तानी' है

इन वाक्यो के 'रूप' समान होते पर भी, क्या उनके माने एक ही प्रकार के है ? 'सभी भारतीय हिन्दुस्तानी है' का माने हुआ कि भारतीय और हिन्दुस्तानी मे कोई भेद नही है । किंतु, पहले वाक्य का यह माने नही है कि 'घोड़े' और 'पशु' एक ही है । 'पशु' 'घोडे' का विशेषण कहा जा सकता है, किंतु क्या 'पशु' 'घोड़े' का विशेषण उसी प्रकार है जिस प्रकार दूसरे वाक्य मे 'सुन्दर' 'फूल' का है ? बिना 'सुन्दर' हुए भी फूल फूल ही रहेगा, किंतु बिना 'पशु' हुए 'घोड़ा' घोडा नही रह सकता ।

अत. इस सामान्य-सिद्ध 'रूप'—सभी 'क' 'ख' है—का मतलब जानने के लिए पहले हमे जानना होगा कि 'क' क्या चीज है और 'ख' क्या चीज । विचार के 'रूपो' को समझने के लिए उसके 'विषयो' की भी परीक्षा करनी ही होगी ।

तर्कशास्त्र के 'रूपविषयक' ही होने पर जोर देने वाले दार्शनिको का यह प्रयास कि 'विचार' के 'विषयो' की सर्वथा उपेक्षा कर उनके सामान्य-सिद्ध 'रूपो' की स्थापना कर लेंगे, मिथ्या है । इस से यह नही समझ लेना चाहिए कि तर्कशास्त्र के अध्ययन के विषय वे वस्तु भी होने चाहिए जिन पर विचार किया गया है । तर्कशास्त्र उन वस्तुओ को इसी लिए जानना चाहता है कि उनके सामान्य-सिद्ध 'रूप' कितने प्रकार से समझे जा सकते है । एक बार उन 'प्रकारो' का निश्चय कर लेने के बाद वस्तुओं से उसे सीधा सम्बन्ध नही रहता ।

---

[1] Universal affirmative proposition.

अतः, यह कहा जा सकता है कि तर्कशास्त्र 'रूप-विषयक' शास्त्र है, किंतु यह नहीं कि वह सर्वथा 'विषय-विषयक' नहीं है।

§ ७—ज्ञान[1]

'ज्ञान' वह व्यवस्थित विचार है जिसका संवाद यथार्थ वस्तु-व्यवस्था से हो, और जिस संवाद में पूरा भरोसा हो। सूर्य-मण्डल का ज्ञान तभी होगा जब आकाश मे सूर्य-ग्रह-उपग्रह की जैसी व्यवस्था है ठीक उसी का प्रतिरूप व्यवस्थित विचार हो और साथ-साथ उस विचार और वस्तु-स्थिति के संवाद मे पूरी आस्था हो। अंधेरे मे रस्सी को देख कर साप समझ लेना 'ज्ञान' नहीं हो सकता, क्योकि यहा विचार और वस्तुस्थिति मे संवाद नहीं है। और, साप को देख कर यह साप है ऐसा समझ लेने पर भी यदि मन मे कुछ खटका बना रहे कि शायद रस्सी तो नहीं है, तो उसे 'ज्ञान' नहीं कहेंगे।

वस्तु-व्यवस्था के अनुकूल विचार जितना अधिक व्यवस्थित होगा उतना ही वह 'ज्ञान' गम्भीर होगा, और जितना अधिक वह विचार शिथिल होगा उतना ही अधिक वह 'ज्ञान' छिछला होगा। उदाहरण के लिए एक 'फूल के पौधे' का ज्ञान तीन भिन्न-भिन्न व्यक्तियो का ले। एक बच्चा भी फूल के पौधे को देख कर उसका ज्ञान कर लेता है, उसी पौधे का ज्ञान बगीचे के चतुर माली को भी है, और उसी पौधे का ज्ञान वनस्पति शास्त्र मे विख्यात एक प्रोफेसर को भी है। तीनो के ज्ञान ज्ञान ही है, क्योकि पौधे के विषय मे सभी के विचार का संवाद वस्तुस्थिति से है, और उन्हें उस संवाद मे कोई खटका भी नहीं। किंतु, पौधे के विषय में तीनो के विचार समान रूप से व्यवस्थित नहीं है। बच्चा केवल यही जानता है कि पौधे की टहनिया, उसके पत्ते और फूल किस तरह

---

[1] Knowledge.

आपस मे सम्बद्ध है। बगीचे का माली इतना जान कर यह भी जानता है कि वह पौधा कैसे लगाया जाता है, उसके लिए कैसी खाद चाहिए, भिन्न-भिन्न ऋतुओ का प्रभाव उस पर कैसा पडता है इत्यादि-इत्यादि। और, वनस्पतिशास्त्र का प्रोफेसर इन सभी बातो को जान कर वनस्पति-जगत मे उस पौधे के विषय मे जितनी भी बातें है सभी जानता है। एक ही 'ज्ञान' के ये तीन उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते है कि 'ज्ञान' के लिए वस्तु-स्थिति से सवाद होना आवश्यक होते हुए भी उसकी पूर्णता और प्रामाणिकता विचार के अधिकाधिक व्यवस्थित होने मे ही है।

§ ८—ज्ञान के मार्ग[1]

'ज्ञान' के मार्ग तीन है—(क) प्रत्यक्ष[2] (ख) अनुमान[3] और (ग) आप्तवचन[4]।

(क) प्रत्यक्ष.—स्थूल ससार मे ज्ञान के विषय पाच है—रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श। रूप को आख से देख कर, शब्द को कान से सुन कर, गन्ध को नाक से सूघ कर, रस को जीभ से चख कर, और स्पर्श को शरीर से छू कर जान लेते है। आनन्द, शोक, सतोष, असतोष, क्रोध, प्रेम आदि जो अपने मन की अवस्थाये है उन्हे हम साक्षात् अपने मन से ही जान लेते है। इन छ इन्द्रियो से जो विषय का साक्षात् ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। प्रत्यक्ष ज्ञान ठीक होने के लिए आवश्यक है कि (१) इन्द्रिया निर्दोष हो, (२) विषय सामने उपस्थित हो, (३) विषय के रूप को विकृत या अवरुद्ध कर देने वाला बीच में कोई व्यवधान न हो, और (४) प्रमाता का ध्यान दूसरी ओर लगा न हो।

प्रत्यक्ष ज्ञान ही ज्ञान के दूसरे मार्गो का आधार है। 'अनुमान' या

[1] Sources of knowledge.

[2] Perception. [3] Inference. [4] Authority.

'आप्तवचन' से प्राप्त ज्ञान में यदि कोई शका उपस्थित हो तो उसका निराकरण विषय का प्रत्यक्ष कर के ही होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान ही की प्रामाणिकता सब से ऊची है। प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व इसमे है कि इसी ज्ञान मे 'विषय' की विशेषतायें स्पष्ट रूप से उपस्थित होती हैं। अनुमान या आप्तवचन से प्राप्त ज्ञान मे 'विषय' के केवल सामान्य धर्मो का बोध होता है विशेष धर्मोका नहीं।

(ख) **अनुमान**—किसी चीज के ज्ञान हो जाने पर उसके आधार पर दूसरी परोक्ष चीज का जो ज्ञान कर लेना है उसे 'अनुमान' कहते है। 'अनुमान' करने से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'अनुमिति' कहते है।

रात के सन्नाटे मे दूर से 'राम नाम सत्य है' की आवाज आती है। उससे हम अनुमान कर लेते है कि कोई मुर्दा जा रहा होगा। यहा आवाज का ज्ञान प्रत्यक्ष हुआ; और उस आवाज से सम्बन्धित जो मुर्दे का जाना है सो मेरे परोक्ष रहने पर भी उसका ज्ञान हो गया।

अनुमिति ज्ञान मे 'विषय' की अपनी असाधारण विशेषताओ का, प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह, स्पष्ट बोध नही होता। किंतु इसमे 'विषय' के केवल साधारण सामान्य धर्मो का बोध होता है। ऊपर के उदाहरण में 'कोई मुर्दा जा रहा है' ऐसा जो अनुमिति ज्ञान हुआ उसमें यह मालूम नहीं हुआ कि मुर्दा कैसे कपडे से ढका है, उसके साथ कितने आदमी जा रहे है, मुर्दा लड़के का है या बडे का, इत्यादि।

(ग) **आप्त-वचन**—विश्वसनीय व्यक्ति की बात सुन या पढ कर ही जो 'विषय' का ज्ञान होता है उसे 'आप्त-वचन' या 'शब्द' कहते है। नित्य-प्रति अखबार पढ कर हम जो ससार की घटनाओ का ज्ञान करते है वह इसी प्रकार का ज्ञान है। नौकर बाहर से आ कर खबर देता है कि अमुक सज्जन मिलने के लिए बाहर बैठे है। यह सुनते ही हम उनसे मिलने बाहर चले आते है। यहा, नौकर के कहने पर जो उन सज्जन के आने का ज्ञान हुआ वह भी इसी प्रकार का ज्ञान है। अखबार, नौकर,

मित्र, गुरु या कोई भी जो विश्वसनीय व्यक्ति है ऐसा ज्ञान करा सकता है।

आप्तवचन-जन्य ज्ञान मे भी 'विषय' के साधारण सामान्य धर्मों का ही बोध होता है, उसके स्वलक्षण विशेष धर्मों का नही। 'शब्द' केवल 'कल्पना' के ही व्यञ्जक है, और 'कल्पना' सामान्य का बोध कराती है, विशेष का नही। इस प्रकार, आप्तवचन-जन्य-ज्ञान अनुमिति-ज्ञान के समान ही हुआ।

तर्कशास्त्र का सम्बन्ध किस से ?

इन तीन प्रकार के ज्ञानो मे तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध किस से है ? प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्रामाणिकता इस बात पर निर्भर करती है कि हमारी इन्द्रिय निर्दोष हो और बाहर कोई ऐसी बात उपस्थित न हो जिससे ज्ञान विकृत होने का डर हो। आख खराब होने से भी हम ठीक-ठीक नही देख सकते, और बाहर अधेरा होने से भी कुछ को कुछ समझ लेने का डर रहता है। कान मे कोई रोग हो तब भी अपने मित्र की बात ठीक-ठीक नही सुनते, और सड़क पर कोई बाजा बज रहा हो तब भी, इत्यादि। यदि इन्द्रिय निर्दोष हो, और बाहर किसी प्रकार का व्यवधान न हो तो ठीक प्रत्यक्ष-ज्ञान आप हो जाता है। केवल उस ओर ध्यान देने की जरूरत है, किसी बुद्धिमानी की नही। कोई आदमी आ कर सामने खड़ा होता है, और हम उधर ताकते ही उसे जान लेते है, हमे कोई प्रयास नही करना पड़ता। बल्कि, शायद सामने खडे मनुष्य को न जानने का प्रयास भी करें तो ऐसा नहीं कर सकते।

यही बात 'वचन-जन्य-ज्ञान' मे भी है। नौकर की बात सुनते हम झट जान लेते है कि अमुक सज्जन बाहर बैठे है। बात सुन कर यह जानने के लिए हमे कोई प्रयास नही करना पड़ता। बल्कि, बात सुन कर शायद इसे न जानने का प्रयास करे भी तो ऐसा नहीं कर सकते।

अनुमिति-ज्ञान की उत्पत्ति मे वह बात नही है। यह 'ज्ञान' तो हम

अपनी बुद्धि दौड़ा कर प्राप्त करते है। जानी चीज या चीजो के आधार पर उछल कर अनजानी चीज़ तक पहुचते है। तर्कशास्त्र इसी उछलने की विद्या को सिखाता है। इसमे जो निपुण नही है वे भयकर भूल मे पड सकते है।

भारतवर्ष की स्थितियो से अनभिज्ञ कोई विदेशी हिन्दू-मुसलमान के भेद को न समझ कर कह सकता है—सभी 'हिन्दू' 'हिन्दुस्तानी' है, और सभी 'मुसलमान' भी 'हिन्दुस्तानी' है, तब सभी 'मुसलमान' 'हिन्दू' हुए। साधारण मनुष्य को ऐसी भ्रामक युक्तियो मे क्या दोष है जल्दी पता नही चलता। 'युक्ति' दोषपूर्ण है यह स्पष्ट कर लेने पर भी दोष के निश्चित स्थल का पता नही लगा सकते। ऐसे दोषो को साफ साफ जान उनसे बच कर सत्य निष्कर्ष तक कैसे पहुच सकते है इसकी परीक्षा तर्कशास्त्र करता है। अत. तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध 'अनुमान' से है। 'अनुमान' की परीक्षा के लिए जितनी दूर तक उसका 'प्रत्यक्ष' या 'आप्तवचन' से सम्बन्ध है उतनी दूर तक वह उन पर भी विचार कर लेगा।

§ ९—अनुमान की दो विधियाँ

'अनुमान' की दो विधिया है—(क) निगमन-विधि[1] और (ख) व्याप्ति-विधि[2]।

(क) निगमन-विधि—"जो बात जिस तरह किसी सारी 'जाति' के साथ लागू हो वही बात उसी तरह उन सभी के साथ लागू होगी जो उस 'जाति' मे अन्तर्गत है।" यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें किसी को आपत्ति नही हो सकती। 'अनुमान' की 'निगमन-विधि' इसी सिद्धान्त पर आश्रित है।

---

[1] Deduction. [2] Induction.

यदि सभी मनुष्य मरण-धर्मा है, और सभी राजा मनुष्य ही है, तो निश्चित रूप से अनुमान कर सकते है कि सभी राजा भी मरण-धर्मा है। अथवा, यदि कोई मनुष्य पूर्ण नही है, और सभी राजा मनुष्य ही है, तो निश्चित रूप से अनुमान कर सकते है कि कोई राजा भी पूर्ण नही है। राजा मनुष्य-जाति के अन्तर्गत ही है; अतः यदि 'मरण-धर्मत्व' सारी मनुष्य-जाति के साथ 'विधि-रूप' से लागू है, और 'पूर्णत्व' 'निषेध-रूप' से, तो वे सभी राजा के साथ भी उसी रूप से लागू होगे।

'सामान्य' के ज्ञान के आधार पर अल्प सामान्य या विशेष के विषय मे अनुमान करने की इस पद्धति को 'निगमन-विधि' कहते है। इस 'विधि' के 'युक्तिप्रयोग' का एक रूप निम्न प्रकार है—

सभी 'मनुष्य' 'मरण-धर्मा' है,
सभी 'राजा' 'मनुष्य' है,
∴ सभी 'राजा' 'मरण-धर्मा' है।

पहले दो वाक्यो को 'आधार-वाक्य'[1], और निष्कर्ष को 'निगमन-वाक्य'[2] कहते है। इस विधि में 'आधार-वाक्यो' के आधार पर ही 'निगमन-वाक्य' की निष्पत्ति होती है, इसी से इसे 'निगमन-विधि' कहते है।

'निगमन-वाक्य' की व्यापकता 'आधार-वाक्यो' से कभी अधिक नही हो सकती। 'आधार-वाक्यो' का जो विस्तार है उससे अधिक के विषय मे कोई निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है!

यही नही, 'निगमन-वाक्य' का कोई 'पद' भी वह 'आधार-वाक्य' में जितना व्यापक है उससे अधिक व्यापक नही हो सकता। उदाहरणार्थ, 'सभी घोड़े पशु है' इस आधार-वाक्य से यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि 'सभी पशु घोड़े है'। आधार-वाक्य मे 'पशु' पद पूरी व्यापकता मे ग्रहण नही किया गया है। 'सभी घोड़े पशु है' इसका अर्थ यह

---

[1] Premise. [2] Conclusion=निष्कर्ष

नही है कि सभी घोडे सभी पशु है, किंतु इसका अर्थ है कि सभी घोडे कुछ पशु है। तब, यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि 'सभी पशु घोड़े हैं'।

सक्षेप मे, 'निगमन-विधि' अनुमान की यही पहचान है कि इसका 'आधार' अपने 'निष्कर्ष' से व्यापकता में कभी कम नहीं हो सकता।

(ख) व्याप्ति-विधि[1]—कुछ विशेष उदाहरणो की परीक्षा करके, उनके आधार पर किसी सामान्य सिद्धान्त के अनुमान करने की पद्धति को 'व्याप्ति-विधि' कहते है।

रसोई घर मे, लोहार की भट्ठी में, कारखाने मे, हुक्के की चिलम पर, और भी अनेक जगह धूआ आग से निकलता देख कर एक का दूसरे से अविनाभाव सम्बन्ध स्थापित कर लेते है, और ऐसा सामान्य सिद्धान्त बना लेते है कि—जहां-जहा धूआ है वहा-वहा आग है। इस सामान्य सिद्धान्त को 'व्याप्ति'[2] कहते हैं; जो सभी जगह समान रूप से सत्य ठहरता है।

ऐसे तो अपने दैनिक व्यवहार के जीवन मे जहा कहीं हम कुछ समान घटनायें देखते है कोई न कोई व्याप्ति बना लिया करते है। किसी विदेश के पांच-दस आदमियो में कोई समानता देख कर समझ लेते है कि वहा के सभी आदमी ऐसे ही है। किसी पेड के एक दो आम मीठे निकले तो समझ लेते है कि उस पेड के सभी आम मीठे होते हैं। इस तरह अनायास बना ली गई व्याप्तिया बहुधा झूठी ठहरती है। तर्कशास्त्र के लिए इनका कोई महत्त्व नहीं।

तर्कशास्त्र तो वैसी व्याप्तिया बनाना चाहता है जो कार्य-कारण सम्बन्ध पर आश्रित हो। जिनका कभी व्यभिचार न हो। न्यूटन ने पेड़ से फल गिरते देख कर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता लगा लिया, और सिद्ध किया कि सभी चीज पृथ्वी के केन्द्र की ओर आकृष्ट

---

[1] Induction. [2] Universal Real Proposition.

होती है। मलेरिया रोग के कुछ उदाहरणो की परीक्षा कर डाक्टरो ने पता लगा लिया कि इस रोग की उत्पत्ति अमुक प्रकार के मच्छरो के काटने से होती है। इस तरह, भिन्न २ शास्त्र जिस प्रक्रिया से कुछ को देख कर सब के विषय मे जान लेते है वही सच्ची शास्त्रीय 'व्याप्ति-विधि' है।

§ १०—अनुमान[1] के पहले

ऊपर देख चुके कि 'आधार-' वाक्य या वाक्यो से न्यायसंगत निष्कर्ष निकालना ही 'अनुमान' है। अनुमान की निगमन-विधि[2] मे आधार-वाक्य जितना व्यापक होता है निष्कर्ष उतनी ही या उससे कम व्यापकता का निकाला जाता है, उससे अधिक का नही। और, व्याप्ति-विधि[3] मे आधार-वाक्य विशेष उदाहरण होते है, और निष्कर्ष होता है सामान्य-सिद्ध व्याप्ति।

आधार-वाक्य और निष्कर्ष-वाक्य (निगमन-विधि मे 'निगमन-वाक्य', और व्याप्तिविधि मे 'व्याप्ति-वाक्य') साथ मिला कर जो युक्ति का प्रयोग किया जाता है वही 'अनुमान' की सर्वाङ्गीन अभिव्यक्ति है। तर्कशास्त्र के अध्येय विषय का यही केन्द्र है।

अनुमान की अभिव्यक्ति वाक्यो[4] मे होती है, । और, वाक्य उद्देश-पदका[5] विधेय पद[6] के साथ सम्बन्ध का सूचक होता है। अतः तर्कशास्त्र मे 'अनुमान-प्रकरण' के पूर्व 'पद-प्रकरण' और 'वाक्य-प्रकरण' का रहना आवश्यक है। 'पद' के स्वरूप, प्रकार, अर्थभेद, परस्पर सम्बन्ध आदि विचारणीय विषयो की चर्चा 'पद-प्रकरण' मे कर ली जायगी। और, वाक्य के स्वरूप, प्रकार, आदि विषयो पर विचार 'वाक्य-प्रकरण' मे होगा। 'पद' और 'वाक्य' के यथार्थ ज्ञान पर ही 'अनुमान' का ज्ञान होगा।

---

[1] Inference. [2] Deduction. [3] Induction.
[4] Proposition. [5] Subject-Term. [6] Predicate Term.

§ ११—कुछ दूसरे आवश्यक प्रकरण

जब हम कोई 'युक्ति-प्रयोग' दूसरे के सामने उपस्थित करते है तब यह आवश्यक है कि वाक्य के 'पदो' को जिन अर्थो में हम कह रहे है ठीक-ठीक उन्ही अर्थो मे उन्हे वह भी समझे; नही तो परस्पर कोई समझौता हो ही नही सकता। भाषा मे एक ही शब्द के कभी-कभी कई अर्थ होते है, और कभी-कभी तो परस्पर अत्यन्त भिन्न भी। कभी-कभी एक ही 'पद' को हम स्वय ही भिन्न-भिन्न स्थलो मे भिन्न-भिन्न व्यापकता मे प्रयोग करते है।

उदाहरण के लिए, 'हिन्दू' पद ही ले। 'हिन्दू' कौन है इसे भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न अर्थो मे समझते देखे जाते है। कितने लोग कहते है कि वे सभी 'हिन्दू' है जिनकी मातृभूमि हिन्दुस्तान है। दूसरे लोग मुसलमान और ईसाई को 'हिन्दू' मानने को तैयार नही है; वे कहते है कि 'हिन्दू' वे है जो किसी भी भारतीय धर्म को मानते है। फिर, दूसरे लोग बौद्धो और जैनो को 'हिन्दू' मानने को तैयार नही है, वे कहते है कि वे 'हिन्दू' है जो वेद को प्रमाण मानते है। अब, यदि वक्ता अपनी युक्ति के प्रयोग मे 'हिन्दू' पद को एक अर्थ में समझे, और श्रोता दूसरे अर्थ मे तो कैसे काम चलेगा !!

इस कठिनाई से बचने के लिए तर्कशास्त्र ऐसे स्थलो मे 'लक्षण'[1] का प्रयोग करता है। 'लक्षण' करने मे 'पद' के उन धर्मो का निर्देश कर देते है जिससे वह ठीक-ठीक पकडा जा सके कि उससे किसका बोध होता है। अत:, शास्त्रीय लक्षण की भी विवेचना तर्कशास्त्र के एक स्वतत्र प्रकरण में होनी चाहिए।

'लक्षण' उस निश्चित सकेत को बता देता है जिसके सहारे यह जाना

---

[1] Definition.

जा सके कि उस पद से ठीक-ठीक कौन वस्तु समझे जायेंगे। यथा, त्रिभुज का लक्षण किया कि—त्रिभुज वह क्षेत्र है जो तीन भुजाओं से घिरा हो। अथवा, पक्षी का लक्षण किया कि—पक्षी वह प्राणी है जो अपने पंख के सहारे हवा में उड़ सके। किंतु, यह तो त्रिभुज या पक्षी का सामान्य ज्ञान भर हुआ। उनके विशेष ज्ञान के लिए जानना होगा कि त्रिभुज या पक्षी कितने प्रकार के होते हैं; और जाति-उपजाति-सजाति[1] के विचार से उनके 'विभाग'[2] तथा 'वर्ग'[3] किस तरह निर्धारित करेंगे। अत. तर्कशास्त्र में उन पर शास्त्रीय विचार करने के लिए स्वतंत्र 'विभाग-प्रकरण' और 'वर्ग-प्रकरण' भी होंगे।

§ १२—तर्कशास्त्र या तर्कविद्या?[4]

कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध-विद्या की तरह तर्क-विद्या भी कला है। लाठी-तलवार चलाने की कला से शत्रु को परास्त करना युद्धविद्या बताती है। और, दलीलों के प्रयोग की कला से प्रतिवादी को हरा देना तर्क-विद्या बताती है। अत', 'तर्कशास्त्र' न कह कर 'तर्कविद्या' कहना अधिक अच्छा होता।

इस पर विचार करने के लिए स्मरण रखना होगा कि 'कला' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'वह मनुष्य संगीत-कला का विशेषज्ञ है'—इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वह खूब अच्छी तरह गा-बजा सकता है, भले ही उसे इस विद्या के साहित्य का कोई अध्ययन न हो, और इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि इस विद्या के साहित्य का ही उसे गम्भीर अध्ययन है, भले ही वह 'सा-रे-ग-म-' का एक गत भी न गा न बजा सके।

---

[1] Genus—Species—Coordinate Species.

[2] Division. [3] Classification.

[4] Is Logic a Science or an Art?

अत. कला शब्द का अर्थ व्यवहार-नैपुण्य भी हो सकता है, और सैद्धान्तिक-ज्ञान भी। सैद्धान्तिक-ज्ञान शास्त्र का अनुगामी होता है। इस अर्थ मे तर्क-विद्या को अलबत्ता 'कला' कह सकते है। यह सूचित करता है कि वे सैद्धान्तिक-ज्ञान उस तर्कशास्त्र पर आश्रित है जो न्यायसगत 'विचार' की शैली का निर्णायक है। तब, इतनी मर्यादा के साथ यह कह सकते है कि 'तर्कविद्या' नाम की एक कला है जो तर्क-शास्त्र पर आश्रित है।

'कला' व्यावहारिक निपुणता का द्योतक है, और 'शास्त्र' व्यवस्थित सैद्धान्तिक-ज्ञान का। तब कह सकते है कि तर्कशास्त्र न्यायसंगत तर्क की व्यावहारिक निपुणता का व्यवस्थित सैद्धान्तिक-ज्ञान है।

तर्कशास्त्र पर आक्षेप

तर्कशास्त्र के विरुद्ध कोई ऐसी आपत्ति कर सकता है कि जब तर्कशास्त्र बिना पढे लोग अच्छा से अच्छा तर्क कर लेते है तब इसकी क्या आवश्यकता ? यह आपत्ति ठीक वैसी ही होगी कि यदि कोई कहे कि गांव के नीम-हकीम भी जब अपनी जड़ी-बूटी से मार्के की चिकित्सा कर लिया करते है तब वैद्यक शास्त्र के पीछे पड़ने की क्या आवश्यकता ? या, कोई कहे कि जब अपढ़ मिस्त्री भी बड़े-बड़े कारखाने की मशीनो को बैठा और चला लेता है तब इञ्जीनियरिङ्ग शास्त्र पढने से क्या लाभ ?

हो सकता है कि नीम-हकीम या अपढ़ मिस्त्री वैद्य या इञ्जीनियर से भी बढ कर चिकित्सा कर लें या मशीन बैठा ले, किंतु उनके ज्ञान में बड़ा अन्तर होता है। वैद्य को अमुक रोग और उसकी चिकित्सा के सच्चे सिद्धान्तो का व्यवस्थित ज्ञान है, वह जानता है कि अमुक रोग किस कारण से होता है और अमुक चिकित्सा किस कारण से उसका निवारक है। नीम-हकीम को यह ज्ञान नही है। उसी तरह, इञ्जीनियर को मशीन

चलाने वाली बिजली की शक्ति किन सिद्धान्तो पर आश्रित है उसका, तथा और भी सभी अन्य सिद्धान्तो का, व्यवस्थित ज्ञान है। मिस्त्री को यह ज्ञान नही है।

तर्कशास्त्र के महत्त्व मे भी वही बात है। तर्कशास्त्री को इस बात का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त है कि उसके अच्छे तर्क की अच्छाई किस बात मे है, और बुरे तर्क की बुराई किस बात मे। तर्कशास्त्र के अध्ययन के बिना यह ज्ञान नही हो सकता; यदि हो भी तो इतना पूर्ण व्यवस्थित नही।

§ १३—दार्शनिक लॉक की आपत्ति

प्रसिद्ध दार्शनिक लॉक तर्कशास्त्र की सार्थकता पर आपत्ति करते हुए कहता है—"यह हो नही सकता कि ईश्वर ने मनुष्य को द्विपद प्राणी बना कर छोड दिया, और इसका जिम्मा (तर्कशास्त्र के प्रणेता) अरस्तू को सौंप दिया कि वह उसे 'विवेक' दे दे।"

यदि तर्कशास्त्र इसका दावा करता कि बिना तर्कशास्त्र पढे मनुष्य विवेक-पूर्ण विचार नही कर सकता तो अलबत्ता लॉक की यह आपत्ति ठीक होती। किंतु तर्कशास्त्र कभी भी ऐसा दावा नही करता। तर्कशास्त्र का यह काम नही है कि मनुष्य मे विवेकशीलता प्रदान करें; उसका तो काम इतना भर है कि मनुष्य को समझा दे कि उसकी विवेक-शीलता किस बात मे है। और, यह सम्भव नही होता यदि मनुष्य पहले से ही विवेकशील न होता। यदि ईश्वर मनुष्य को केवल द्विपद प्राणी बना कर छोड देता तो अरस्तू उसे विवेकशील होना नही बता सकता, क्योकि बताने से भी वह नही समझता।

उन सिद्धान्तो को बिना जाने जिनकी स्थापना आये दिन तर्कशास्त्र ने की है मनुष्य पहले ही से उनके अनुसार विचार करते आ रहे है। तर्क-शास्त्र की शास्त्रीयता इसी मे है कि उसने उन्हे उन सिद्धान्तो से परिचित कर दिया।

§ १४—विज्ञान-शास्त्र[1] और विधान-शास्त्र[2]

यह बात ठीक है कि सभी शास्त्रो का काम नये-नये सिद्धान्तो का आविष्कार करना है। किंतु इसका अर्थ यह नही कि वे सिद्धान्त पहले विद्यमान ही न थे। पृथ्वी मे आकर्षण शक्ति तब से विद्यमान है जब से पृथ्वी है। पहले लोग उसे उस व्यवस्थित रूप से नही जानते थे जैसा आगे चल कर न्यूटन ने बताया। वैसे ही, पदार्थ-शास्त्र ने जब यह बताया कि शून्य डिग्री तापमान मे पानी जम जाता है तो यह कोई नई बात न थी जो पहले न होती थी। आदि काल से पानी जमा करता था।

पदार्थ-शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, आदि शास्त्रो का काम यही है कि प्रकृति की सभी बातें खोज-खोज कर बता दे, उनका वर्णन भर कर दे। बात जैसी है उसे वैसी जान लेना और बता देना—बस, ये शास्त्र इतना ही करते है। इसी से इन्हे 'विज्ञान-शास्त्र' कहते है—अथवा, वे शास्त्र जिनका काम केवल विशेष रूप से ज्ञान कर लेना भर है।

'विज्ञान-शास्त्र' के समकक्ष कुछ दूसरे शास्त्र है जो 'विधान-शास्त्र' कहे जा सकते हैं। क्या है, यह बताना 'विज्ञान-शास्त्र' का काम है। और, क्या होना चाहिए, यह बताना 'विधान-शास्त्र' का काम है। पदार्थ-शास्त्र विज्ञान-शास्त्र है, क्योकि वह बता भर देता है कि शून्य डिग्री के तापमान मे पानी जम जाता है : वह यह विचार नही करता कि किस डिग्री के तापमान में पानी को जमना चाहिए। प्रकृति के नियम तो ध्रुव है, उनके विषय मे ऐसा होना चाहिए ऐसा नही की बात उठाने का कोई अर्थ नही। यदि कोई उठावे तो वह मनोरञ्जन मात्र होगा।

ऐसा होना चाहिए और ऐसा नही—यह बात मनुष्य के अपने व्यक्तित्व को छोड़ और कही बाह्य जगत मे सम्भव नही है। 'हमे इस तरह विचार

---

[1] Positive Science. [2] Regulative Science.

करना चाहिए, इस तरह नही, इस तरह अनुभव करना चाहिए, इस तरह नही; इस तरह कर्म करना चाहिए, इस तरह नही'—इन्ही तीन प्रश्नों को ले कर तीन 'विधान-शास्त्रो' का निर्माण हुआ है। इन तीन 'विधान-शास्त्रों' के क्रमश नाम है—तर्कशास्त्र[1], सौन्दर्यशास्त्र[2], और कर्तव्य-शास्त्र[3]। तर्कशास्त्र का लक्ष्य सत्य-प्राप्ति, सौन्दर्यशास्त्र का लक्ष्य सौन्दर्य-प्राप्ति, और कर्तव्यशास्त्र का लक्ष्य औचित्य (=शिव)-प्राप्ति है। ये तीनो शास्त्र अपनी-अपनी दिशा का निर्देश करते है जिससे उनके आदर्श सिद्ध हो सके। इसी से इन्हे 'सादर्श शास्त्र'[4] या 'व्यावहारिक शास्त्र'[5] भी कहते है।

§ १५—मानसशास्त्र और तर्कशास्त्र[6]

मानसशास्त्र और तर्कशास्त्र मे अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। मानसशास्त्र, किसी भी दूसरे शास्त्र की तरह, अपनी शास्त्रीय विवेचना मे तर्कशास्त्र के सिद्धान्तो का पालन करता है। किंतु, दूसरी ओर, तर्क-शास्त्र को न्यायसगत 'विचार' के सिद्धान्तो की स्थापना करने मे मानस-शास्त्र से सहायता लेनी पडती है। मन की वास्तविक प्रवृत्तियो को समझ कर ही 'सत्य' के साधक सिद्धान्तो का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इन दो शास्त्रो मे, इतना परस्पर सम्बन्ध होने पर भी, काफी भेद है। भेद की निम्न बाते मुख्य है—

(१) मानसशास्त्र का क्षेत्र तर्कशास्त्र के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। मानसशास्त्र मन की सभी प्रवृत्तियो की परीक्षा करता है, जो मूलतः तीन है—सज्ञा[7], वेदना[8] और चेतना[9]। मन की जो

---

[1] Logic. [2] Aesthetics. [3] Ethics. [4] Normative Science [5] Practical Science. [6] Psychology and Logic. [7] Thinking. [8] Feeling. [9] Willing.

जानने की प्रवृत्ति है वह 'संज्ञा' है, सुख-दु.खादि अनुभव करने की जो प्रवृत्ति है वह 'वेदना' है, और कर्म करने की जो प्रवृति है वह 'चेतना' है। इनमें, 'वेदना' और 'चेतना' से तर्कशास्त्र का कोई सम्बन्ध नही; उनसे तो सम्बन्ध क्रमश. सौन्दर्यशास्त्र और कर्तव्यशास्त्र को है।

'संज्ञा' के क्षेत्र मे भी, मानसशास्त्र का क्षेत्र तर्कशास्त्र के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। हम ऊपर देख चुके हैं कि तर्कशास्त्र का विषय प्रत्यक्ष-ज्ञान नही है। 'स्मृति' और 'भावना' मानसशास्त्र के मुख्य अध्येय विषय हैं, किंतु तर्कशास्त्र को उनके अध्ययन से मतलब नही।

(२) मानसशास्त्र मानसिक प्रवृत्ति की प्रक्रिया का अध्ययन करता है—यह कि विचार कैसे करते हैं। उस प्रक्रिया से प्राप्त जो फल है उनका अध्ययन करता है तर्कशास्त्र। तर्कशास्त्र इसकी परीक्षा नही करता कि 'प्रत्यय'[1], 'अध्यवसाय'[2] या 'ऊहा'[3], किस प्रक्रिया से होते है, यह मानसशास्त्र करता है। किंतु जब 'प्रत्यय', 'अध्यवसाय' या 'ऊहा' बन कर तैयार हुए तो वे तुरत तर्कशास्त्र के अध्येय विषय बन जाते हैं। तर्कशास्त्र इसकी परीक्षा करता है कि ये प्रामाणिक हैं या नही।

(३) मानसशास्त्र 'विज्ञान-शास्त्र' है, किंतु तर्कशास्त्र 'विधान-शास्त्र' या 'सादर्श-शास्त्र' है। विज्ञान-शास्त्र का अभिप्राय केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना भर है, कैसे कुछ करना चाहिए इस पर वह विचार नहीं करता। विज्ञान-शास्त्र, बिना किसी लक्ष्य या आदर्श का नेतृत्व स्वीकार किए, घटनाये जिस रूप में उपस्थित होती है उसी रूप मे उनकी परीक्षा करता है। किंतु, विधान-शास्त्र किसी आदर्श की सिद्धि की दृष्टि से एक मार्ग की दिशा बताता है।

---

[1] Concept.

[2] Judgment.

[3] Reasoning.

मानस-शास्त्र, विना किसी लक्ष्य या आदर्श के नेतृत्व के 'विचार' जिन रूपो में उपस्थित होते है उन्ही रूपो में उनकी परीक्षा करता है। किंतु, तर्कशास्त्र 'सत्य' की प्राप्ति की दृष्टि से न्यायसगत विचार की दिशा वताता है।

(४) मानसशास्त्र यह सिद्ध करता है कि मन की यह तीन प्रवृत्तिया —संज्ञा, वेदना, चेतना—सदा परस्पर सश्लिष्ट रहती है। एक का दूसरे के विना अध्ययन नही किया जा सकता। किंतु, यह होने पर भी, तर्कशास्त्र 'प्रत्यय', 'अध्यवसाय' और 'ऊहा' को उनके अपने शुद्ध रूपो में अध्ययन करता है। उनसे सश्लिष्ट जो भी वेदना या चेतना हो उस पर विचार नही करता। अतः, यह कह सकते है कि मानसशास्त्र के विषय की अपेक्षा तर्कशास्त्र का विषय अधिक सूक्ष्म और गहन है।

§ १६—तर्कशास्त्र और तत्त्वशास्त्र[1]

दृश्यजगत की आधारभूत पारमार्थिक सत्ता क्या है इसका अध्ययन तत्त्वशास्त्र करता है। तर्कशास्त्र का आधारभूत पारमार्थिक सत्ता के तत्त्वनिरूपण से सम्वन्ध नही है। जिस अर्थ में 'पद'[2] उद्देश[3] और विधेय[4] के रूप ग्रहण करता है, तथा जिस अर्थ में वाक्य[5] उनके बीच सम्बन्ध स्थापित करता है उन्ही अर्थों में तर्कशास्त्र वाह्य पदार्थो को ग्रहण करता है, उससे अधिक नही। तत्त्वशास्त्र का 'विचार' के 'रूपो' से कोई सम्बन्ध नही, किंतु तर्कशास्त्र के लिए उनका वड़ा अर्थ है। यह भेद होने पर भी इन दो शास्त्रो में परस्पर वडा सम्बन्ध है।

तत्त्वशास्त्र, शास्त्र होने के नाते, तर्कशास्त्र के सिद्धान्तो के विरुद्ध

---

[1] Logic and Metaphysics. [2] Term.
[3] Subject. [4] Predicate.
[5] Proposition.

नहीं जा सकता। तत्त्वशास्त्र का तर्कशास्त्र के नियमो से सयत होना आवश्यक है।

फिर, तर्कशास्त्र की भित्ति तत्त्वशास्त्र पर वनती है। तर्कशास्त्र का लक्ष्य है सत्य-प्राप्ति। तव, उस 'सत्य' का स्वरूप है क्या जिसकी प्राप्ति करनी है? यह प्रश्न तर्कशास्त्र को वलात् तत्त्वशास्त्र के पास ले आता है। विशेप क्या है, सामान्य क्या है, कारण क्या है आदि आदि तत्त्वशास्त्र की वातो पर तर्कशास्त्र विचार करने को वाध्य होता है।

आगे चल कर हम देखेंगे कि तर्कशास्त्र की आधारशिला है 'विचार की मर्यादा के नियम',[1] जो यथार्थ मे पदार्थ की मर्यादा के नियम है; क्योंकि वे विना वैसा हुए विचार की मर्यादा की रक्षा किस तरह कर सकते! और, पदार्थ की मर्यादा का निरूपण करना 'तत्त्वशास्त्र' का विषय है।

§ १७—तर्कशास्त्र के कुछ लक्षण

इतना परिचय प्राप्त करने के वाद 'तर्कशास्त्र' के कुछ लक्षण जो भिन्न भिन्न दार्शनिको ने किए है उन पर विचार कर लेना अच्छा होगा। कुछ के लक्षणो मे 'अतिव्याप्ति'[2] दोष आता है, और कुछ के लक्षणो मे 'अव्याप्ति' दोष[3]।

(क) अतिव्याप्त लक्षण

(१) दार्शनिक यूवर्वेग ने तर्कशास्त्र का लक्षण किया है—तर्कशास्त्र मानवीय ज्ञान के विधायक नियमों का शास्त्र है।[4]

---

[1] Laws of thought. विशेप देखिए, परिशिष्ट.......

[2] Too wide.   [3] Too narrow.

[4] "Logic is the science of the regulative laws of human knowledge."

—*System of Logic, translated by Lindsay*, p. 1.

समीक्षा—हम ऊपर देख चुके है कि 'ज्ञान' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है। प्रत्यक्ष, अनुमिति और आप्तवचन, सभी ज्ञान ही है। इनमे, तर्कशास्त्र को प्रत्यक्ष-ज्ञान का अध्ययन करना नही है, क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष हो ही गया उसके विषय मे तर्क की क्या आवश्यकता ? उसे तो हम बिना विवाद किए वैसा जान लेते है।

रस्सी मे साप का, सूर्य की प्रखर किरणो में पानी का, ठूंठ मे मनुष्य का आदि जो प्रत्यक्ष-ज्ञान मे भ्रान्ति होती है उसके कारण इन्द्रिय-दोप, दूरी, या किसी प्रकार का व्यवधान हो सकता है। एक प्रकार के अक्षि-रोग से पीडित मनुष्य को सभी चीजें पीली ही पीली दीखती है। किसी किसी को दूर ही की चीज साफ दीखती है, पास की चीज़ धुंधली। इन कारणो का अध्ययन वैद्यकशास्त्र करेगा। ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया का जहा तक सम्बन्ध है वहा तक उसका अध्ययन मानसशास्त्र भी करेगा। किंतु, तर्कशास्त्र का इससे सीधा सम्बन्ध नही है। तर्कशास्त्र का तो ज्ञान से सीधा सम्बन्ध तभी होता है जब वह 'विचार' का रूप ले लेता है।

आप्तवचन-जन्य ज्ञान भी तर्कशास्त्र का विषय नहीं हो सकता। विश्वसनीय दिशा से आई हुई वात को हम वैसा मान लेते है। वह तर्क का विषय नही होता। हा, इस पर भले ही पहले विचार कर ले कि अमुक विश्वसनीय है या नही।

तर्कशास्त्र का अपना विषय, उक्त दो ज्ञानो को छोड, तीसरा अनुमिति-ज्ञान ही है। जानी चीज़ के आधार पर अनजानी चीज को समझने में, भूल होने का खतरा है। प्रत्यक्ष-ज्ञान या आप्तवचन-जन्य-ज्ञान मे उसी समय सदेह नहीं रहता। अनुमिति-ज्ञान मे उसी समय सदेह का रहना सम्भव है, क्योकि वह परोक्ष का ज्ञान है, और परोक्ष मे संदेह का वना भी रहना स्वाभाविक है। यहा विवेक की वड़ी आवश्यकता है। अत तर्कशास्त्र का अध्येय विषय 'अनुमिति-ज्ञान' ही है।

' दार्शनिक युववेंग के 'ज्ञान' सामान्य शब्द का प्रयोग करनें से जो

प्रत्यक्ष और आप्तवचन का भी उसमे अन्तर्भाव हो गया है यह अतिव्याप्ति दोष है।

(२) पोर्ट रॉयल लाजिक के कर्ता ने भी तर्कशास्त्र के लक्षण करने मे ऐसी ही भूल की है। उसका लक्षण है—सत्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य की बुद्धि का जो व्यापार है उसी का शास्त्र तर्कशास्त्र है।[1]

समीक्षा—सत्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य की बुद्धि का व्यापार प्रत्यक्ष-ज्ञान और आप्तवचन-जन्य-ज्ञान मे भी होता ही है। किंतु देख चुके है कि तर्कशास्त्र का उनसे सम्बन्ध नही है। अत., इस लक्षण में भी अतिव्याप्ति दोष है।

(ख) अव्याप्त लक्षण

(१) दार्शनिक अल्डरिच तर्कशास्त्र का लक्षण इस प्रकार करता है—तर्कशास्त्र ऊहापोह करने की विद्या (कला) है[2]।

समीक्षा—इस लक्षण के अनुसार तर्कशास्त्र का सम्बन्ध केवल 'अनुमान' से बताया गया है। किंतु, हम देख चुके है कि, 'अनुमान' पर विचार करने के साथ साथ, तर्कशास्त्र इन बातो पर भी विचार करता है कि 'लक्षण' क्या है, तथा शास्त्रीय विभाजन और वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है। और भी, तर्कशास्त्र केवल एक कला नही है; यह शास्त्र भी है। अत इस लक्षण में अव्याप्ति दोष है।

(२) अलबर्ट्स मॅग्नस तथा कुछ दूसरे अरबी शास्त्रियो ने तर्कशास्त्र का लक्षण इस प्रकार किया है—तर्कशास्त्र शास्त्रार्थ करने का शास्त्र है[3]।

---

[1] "Logic is the science of the operations of the human understanding in the persuit of truth."

[2] Logic is the Art of Reasoning.

[3] Logic is the Science of Argumentation.

समीक्षा—तर्कशास्त्र शुद्ध शास्त्र नही है; यह विद्या भी है। इस लक्षण में तर्कशास्त्र के विधायक स्वभाव का समावेश नही हुआ है।

फिर, शास्त्रार्थ किया जा सकता है सत्य की प्राप्ति के लिए, अथवा केवल प्रतिवादी को जैसे हो तैसे नीचा दिखाने के लिए। किंतु, तर्कशास्त्र का दूसरे उद्देश्य से किए गए शास्त्रार्थ से कोई मतलब नही। तर्कशास्त्र तो उसी शास्त्रार्थ की विधियो का अध्ययन करता है जिनसे 'सत्य' का लाभ हो।

(३) तर्कशास्त्री वट्ले तर्कशास्त्र का लक्षण इस प्रकार करता है—

तर्कशास्त्र ऊहापोह का शास्त्र भी है, और उसकी विद्या भी।[१]

समीक्षा—यद्यपि इस लक्षण मे तर्कशास्त्र के विज्ञानात्मक और विधानात्मक दोनो भावो का सग्रह कर लिया गया है, तथापि यह इसे नही व्यक्त करता कि 'लक्षण-विभाजन-वर्गीकरण'[२] भी तर्कशास्त्र के अध्येय विषय हैं। इस तरह, उतनी दूर तक इसमे भी अव्याप्ति-दोष वर्तमान है।

इसी प्रकार कुछ दूसरे दार्शनिको के भी लक्षण उद्धृत किए जा सकते है जिनकी समीक्षा इन्ही दृष्टियो से की जा सकती है—

थॅमसॅन—तर्कशास्त्र विचार की मर्यादाओ का शास्त्र है।

हैमिल्टन—तर्कशास्त्र विचार की रूपविषयक मर्यादाओ का शास्त्र है। इत्यादि

---

[१] Logic is the Science and also the Art of Reasoning.

[२] Definition—Division—Classification.

दूसरा अध्याय

पद-प्रकरण

§ १—प्राक्कथन

तर्कशास्त्र का अपना विषय 'अनुमान' है, जिसका वह अध्ययन करता है। अनुमान के दो अंग होते है—(१) आधार-वाक्य, एक या अनेक, और (२) निष्कर्ष-वाक्य। इन वाक्यो को एक साथ क्रम से जमा कर जो उपस्थित किया जाता है उसे 'युक्ति' कहते हैं। निगमन-विधि की युक्ति को 'निगमन युक्ति'[1] और व्याप्ति-विधि की युक्ति को 'व्याप्ति-युक्ति'[2] कहते है। उदाहरणार्थ—

निगमन-युक्ति—

सभी 'पशु' 'चतुष्पद' है,
सभी 'घोड़े' 'पशु' है,
∴ सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' है।

व्याप्ति-युक्ति—

'कौआ' 'अण्डज' है,
'सुग्गा' 'अण्डज' है,
'मैना' 'अण्डज' है,
'मोर' 'अण्डज' है इत्यादि
∴ सभी 'पक्षी' 'अण्डज' है।

---

[1] Deductive Argument.
[2] Inductive Argument.

देखा कि 'युक्ति' वाक्यो के सम्मेलन से बनती है; अतः 'युक्ति' का स्वरूप समझने के लिए पहले 'वाक्य'[1] का स्वरूप समझना आवश्यक है।

'वाक्य' के तीन अंग होते हैं—(१) उद्देश,[2] (२) विधेय[3] और (३) संयोजक[4]। 'उद्देश' वह है जिसके साथ कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाय . 'विधेय' वह है जिसका सम्बन्ध 'उद्देश' के साथ स्थापित किया जाय : और 'संयोजक' वह क्रिया-पद है जो 'उद्देश' और 'विधेय' के बीच के सम्बन्ध का सूचक है। जैसे—

सभी 'पशु' 'चतुष्पद' हैं।

इस वाक्य मे 'सभी पशु' उद्देश है, और 'चतुष्पद' विधेय, क्योंकि पहले के साथ दूसरे का सम्बन्ध बताया गया है। अन्त मे जो क्रिया का रूप 'हैं' है वह संयोजक है, क्योंकि वह सूचित करता है कि उद्देश के साथ विधेय का विधानात्मक[5] सम्बन्ध है।

अंग्रेजी भाषा के वाक्य मे इनके प्रयोग का क्रम इस प्रकार रहता है—उद्देश-संयोजक-विधेय। जैसे—All men are mortal। उद्देश और विधेय के प्रयोग वाक्य के दोनो छोर पर होते है, इससे उन्हे Term (टर्म=छोर) कहते है। किंतु, हिन्दी भाषा में उन्हे 'छोर' का नाम नही दिया जा सकता, क्योंकि हिन्दी की वाक्य-रचना के अनुसार उनका क्रम भिन्न—उद्देश-विधेय-संयोजक—है। अंगरेजी में इनका जो क्रम है उससे एक बड़ी सहूलियत होती है। यह कि, संयोजक के बीच में आ जाने से उद्देश और विधेय साफ साफ अलग हो जाते है, और उनके आपस मे खिल्त-मिल्त होने का डर नही रहता। हिन्दी में यह डर बना रहता है। उदाहरण के लिए यह वाक्य लें—

---

[1] Proposition. [2] Subject. [3] Predicate.
[4] Copula. [5] Affirmative.

मेरा मित्र गंगा जा रहा है।

इस वाक्य में क्या उद्देश है और क्या विधेय यह निश्चय करना बड़ा कठिन है। गंगा मेरे मित्र का नाम हो सकता है; और तब इस वाक्य के उद्देश और विधेय को इस प्रकार अलग अलग कर सकते हैं—'मेरा मित्र गंगा' 'जा रहा' है। और, यदि गंगा मेरे मित्र का नाम नहीं किंतु नदी का नाम है तो वाक्य इस प्रकार समझा जायगा—'मेरा मित्र' 'गंगा जा रहा' है।

अतः, इस भ्रम से बचने के लिए उद्देश और विधेय को पृथक् पृथक् उल्टे कॉमा से '—' इस प्रकार चिह्नित कर देना आवश्यक है।

उद्देश एक शब्द का भी हो सकता है, या अनेक शब्दों का भी, जो मिल कर एक बात प्रगट करें। विधेय के साथ भी यही बात है। उदाहरण के लिए निम्न वाक्य देखें जिसका उद्देश अनेक शब्दों का है, और विधेय केवल एक शब्द का—'भारतवर्ष के जो सबसे बड़े आदमी हैं उनका नाम' 'गांधी' है। उद्देश तथा विधेय को, चाहे वे एक शब्दात्मक हों या अनेक-शब्दात्मक, 'पद'[1] कहते हैं। वाक्य[2] इन दो पदों में सम्बन्ध स्थापित करता है। अत. 'वाक्य' के स्वरूप को समझने के लिए 'पद' का स्वरूप समझना आवश्यक है।

§ २—'पद' क्या है ?

उस शब्द या शब्दों के समूह को 'पद' कहते हैं जो किसी वाक्य में उद्देश या विधेय के ऐसा प्रयुक्त हो सके।

सभी 'पद' शब्द हैं, किंतु सभी शब्द 'पद' नहीं हैं। सभी संज्ञा, सर्वनाम, और विशेषण स्वतंत्र रूप से वाक्य में उद्देश या विधेय के ऐसा प्रयुक्त हो सकते हैं; अतः वे 'पद-योग्य' शब्द हैं। ने, को, से, इत्यादि कारक के चिह्न; जल्दी, धीरे, इत्यादि क्रिया-

---

[1] Term.　　[2] Proposition.

विशेषण; और, जो, सो, इत्यादि संयोजक-सर्वनाम ऐसे शब्द हैं जो स्वतन्त्र रूप से किसी वाक्य में उद्देश या विधेय के ऐसा प्रयुक्त नही हो सकते। हां, वे किसी अनेक-शब्दात्मक 'पद' मे सयुक्त हो सकते है। अतः, ऐसे शब्दो को 'पद-संयोज्य' कहते है। फिर, कुछ ऐसे शब्द भी है जो न स्वयं 'पद' के ऐसा प्रयुक्त हो सकते है, और न किसी पद मे संयुक्त हो सकते है, जैसे—हाय, अरे, ओह इत्यादि। ऐसे शब्दो को 'पदायोग्य' कहते है। इस तरह, तर्कशास्त्र की दृष्टि से शब्द तीन प्रकार के हुए—(१) पदयोग्य, (२) पद-संयोज्य और (३) पदायोग्य[१]।

'पद-संयोज्य' तथा 'पदायोग्य' शब्द भी जब सज्ञा बन कर वाक्य में उद्देश के ऐसा प्रयुक्त होते है, जैसे—

'ने' 'कर्ताकारक का चिह्न' है,
'धीरे' 'क्रियाविशेषण' है,
'जो' 'एक सयोजक सर्वनाम' है,
'हाय' 'शोक का व्यञ्जक' है,—
तब उन्हें भी 'पदयोग्य शब्द' की कोटि मे अन्तर्गत करना चाहिए।

§ ३—'पद' के दो बोध

कोई 'पद' क्या बोध करता है? मनुष्य, पक्षी, मछली इत्यादि सज्ञायें 'पद' है : जब हम उनके नाम लेते है तो हमारे मन मे क्या बात आती है?

तर्कशास्त्र की दृष्टि से वे दो बातो का बोध कराते है। सर्व प्रथम तो उनसे उन सभी व्यक्तियो का बोध होता है जो उन नामो से जाने जाते

---

[१] (१) Categorematic.
(२) Syncategorematic.
(३) Acategorematic.

है। इस बोव को 'व्यक्ति-बोव'[1] या 'द्रव्य-बोध'[1] कहते हैं। संसार में जितने मनुष्य हैं सभी 'मनुष्य' पद के 'व्यक्तिबोव-द्रव्यबोध' में अन्तर्गत हैं। इसी तरह, 'पक्षी' और 'मछली' पदो के व्यक्ति-बोध में ससार के सभी पक्षी और मछलियां सम्मिलित हैं। इस बोव को 'पद का विस्तार'[2] भी कहते हैं, क्योंकि यह बताता है कि अमुक 'पद' से समझे जाने वाले व्यक्तियो या द्रव्य का विस्तार क्या है।

'व्यक्ति-बोव' के साथ साथ, 'पद' से उन धर्मो का भी बोध होता है जिनके कारण वे व्यक्तियां (या द्रव्य) उस नाम से जानी जाती हैं। उन धर्मों को 'स्वभाव-बोव'[3] कहते हैं। 'मनुष्य' पद से जिन व्यक्तियो का बोव होता है उन्हें 'मनुष्य' क्यो कहते है ? क्योंकि वे विवेकशील प्राणी हैं। 'पक्षी' पद से जिन व्यक्तियो का बोव होता है उन्हें 'पक्षी' क्यो कहते है ? क्यो कि वे पंख वाले प्राणी हैं। 'मछली' पद से जिन व्यक्तियो का बोव होता है उन्हे 'मछली' क्यो कहते हैं ? क्यो कि वे जलचर प्राणी हैं। यहां, विवेकशीलता और प्राणित्व 'मनुष्य' का, पंख वाला होना और प्राणित्व 'पक्षी' का, तथा जलचर होना और प्राणित्व 'मछली' का 'स्वभाव-बोव' है।

यदि उस पद को सुनते उसका 'स्वभाव-बोध' उद्बुद्ध न होता तो हम उसका 'व्यक्ति-बोव' भी नहीं कर सकते। इस तरह, व्यक्ति-बोध स्वभाव-बोव पर और स्वभावबोव व्यक्तिबोध पर आश्रित है। पद के दोनो बोध अल्पाधिक मात्रा मे साथ साथ होते हैं। जिस तरह व्यक्तिबोध को 'पद का विस्तार' भी कहते हैं, उसी तरह स्वभावबोध को 'पद की गहनता'[4] भी कहते हैं। व्यक्तिबोध को 'पद का क्षेत्र', 'पद की परिधि', 'पद का साम्राज्य' आदि नामो से भी पुकारते हैं। स्वभावबोध

---

[1] Denotation. [2] Extension of the Term.
[3] Connotation. [4] Intension of the Term.

भी 'पद का भाव', 'पद का पदत्व' 'पद का सामर्थ्य' आदि नामो से जाना जाता है।

§ ४—दोनो 'बोधों' का परस्पर सम्बन्ध

व्यक्तिबोध और स्वभावबोध मे परस्पर क्या सम्बन्ध है? ऐसा स्वीकार किया गया है कि किसी पद के व्यक्तिबोध और स्वभावबोध विपरीत दिशा मे घटते बढते है।[1] अर्थात्, जब एक बढता है तब दूसरा घटता है, और जब एक घटता है तब दूसरा बढता है।

'विवेकशील प्राणी होना' मनुष्य पद का स्वभावबोध है; और उसका व्यक्तिबोध है ससार की अखिल जन-सख्या। अब, उसके स्वभाव-बोध में 'सुन्दरता' का एक और गुण बढा दे; तो 'सुन्दर विवेकशील प्राणी' से वे मनुष्य नही समझे जायेगे जो कुरूप है। इस तरह, 'मनुष्य' पद के स्वभावबोध मे वृद्धि कर देने से उसके व्यक्तिबोध मे ह्रास हो गया। यदि उसमे 'विद्वत्ता' का एक गुण और बढा दे, तो 'विद्वान सुन्दर विवेकशील प्राणी' से मनुष्य के व्यक्तिबोध मे और भी कमी हो जायगी, क्यो कि जो विद्वान नही है उनकी गिनती यहां नही की जायगी।

इसका उलटा, पद के 'व्यक्तिबोध' मे वृद्धि होने से उसके 'स्वभाव-बोध' मे ह्रास होने का नियम भी इसी उदाहरण को प्रतिलोम दिशा मे देखने से स्पष्ट हो जायगा। 'विद्वान-सुन्दर-विवेकशील-प्राणी' इतना एक पद हुआ, जिसका व्यक्तिबोध उन कुछ लोगो से ही है जो इन गुणों से सम्पन्न है। अब, इस व्यक्तिबोध मे यदि हम उन लोगो को भी शामिल कर लें जो मूर्ख है तो हमे इस पद के 'स्वभावबोध' से 'विद्वत्ता' का गुण कम कर देना होगा। यदि इसके व्यक्तिबोध को इसमे कुरूप लोगो को

---

[1] The denotation and the connotation of a term vary inversely.

भी सम्मिलित कर के बढाना चाहें तो उसके स्वभावबोध में 'सुन्दरता' के गुण का भी ह्रास हो जायगा।

'मनुष्य' पद का स्वभावबोध मान ले 'क' है, और व्यक्तिबोध 'ख'। तब, पहले में वृद्धि होने से दूसरे के ह्रास होने का नियम निम्न तालिका से प्रकट होगा—

स्वभावबोध	व्यक्तिबोध
'क'=विवेकशीलता और प्राणित्व	'ख'=ससार की अखिल जन संख्या
'क'+सुन्दरता	'ख'—कुरूप लोग
'क'+सुन्दरता+अमीरी	'ख'—कुरूप लोग—गरीब लोग
'क+सुन्दरता+अमीरी+पण्डिताई	'ख'—कुरूप लोग—गरीब लोग —मूर्ख लोग

यहां, 'पण्डित-अमीर-सुन्दर-विवेकशील-प्राणी' यह एक पद हुआ। इस पद का व्यक्तिबोध मान लें 'अ' है, और स्वभावबोध 'व'। तब, पहले में वृद्धि होने से दूसरे के ह्रास होने का नियम निम्न तालिका से प्रकट होगा—

व्यक्तिबोध	स्वभावबोध
'अ'=ससार के कुल ऐसे मनुष्य	'व'=पण्डिताई. . .प्राणित्व
'अ'+मूर्ख लोग	'व'—पण्डिताई
'अ'+मूर्ख लोग+गरीब लोग	'व'—पण्डिताई—अमीरी
'अ'+मूर्ख लोग+गरीब लोग+ कुरूप लोग	'व'—पण्डिताई—अमीरी—सुन्दरता

पहली तालिका को नीचे की ओर से देखने पर मालूम होगा कि जैसे-जैसे पद के स्वभावबोध मे एक एक गुण लुप्त होते गये वैसे वैसे व्यक्ति-बोध में नये नये प्रकार के लोग भी सम्मिलित किए जाने लगे। उसी तरह, दूसरी तालिका को नीचे की ओर से देखने पर मालूम होगा कि जैसे जैसे पद के व्यक्तिबोध मे एक एक प्रकार के लोग लुप्त होते गये वैसे वैसे स्वभाव बोध में नये नये गुण भी सम्मिलित किए जाने लगे।

अत', पद के दोनो 'बोधों' के परस्पर वृद्धि-ह्रास का नियम चार प्रकार से सिद्ध हुआ—

(१) स्वभावबोध में वृद्धि होने से व्यक्तिबोध में ह्रास होता है।
(२) व्यक्तिबोध में वृद्धि होने से स्वभावबोध में ह्रास होता है।
(३) स्वभावबोध में ह्रास होने से व्यक्तिबोध में वृद्धि होती है।
(४) व्यक्तिबोध मे ह्रास होने से स्वभावबोध में वृद्धि होती है।

इस नियम को सक्षेप में इस तरह समझा जा सकता है कि, पद जितना विशेष होता जायगा उसका स्वभावबोध उतना ही बढता जायगा जैसे—

पद	स्वभावबोध
मनुष्य	मनुष्यत्व
एशियाई	मनुष्यत्व+अमुक महादेश का होना
भारतीय	मनुष्यत्व+अमुक महादेश का होना+अमुक देश का होना
पंजाबी	मनुष्यत्व+अमुक महादेश का होना+अमुक देश का होना+अमुक प्रान्त का होना
......	....
हिम्मत सिंह	मनुष्यत्व, अमुक महादेश, देश, प्रान्त, नगर, महल्ला, घर का होना, अमुक धर्म, जाति, परिवार का होना, इत्यादि इत्यादि।

व्यक्तिबोध की दृष्टि से एक 'जाति'[1] में उसकी 'उपजाति'[2] अन्तर्गत है, किंतु स्वभावबोध की दृष्टि से 'उपजाति' में ही 'जाति' अन्तर्गत है।[3]

'पशु' एक जाति है, जिसकी एक उपजाति 'घोड़ा' है। व्यक्तिबोध की दृष्टि से, पशुओ मे घोडे भी सम्मिलित है : और स्वभाव-बोध की दृष्टि से, घोड़ेपने मे पशुत्व भी है।

§ ५—नये पदों की उत्पत्ति

किसी नये गुण का समावेश करके जब किसी पद का स्वभावबोध बढा देते है तब वह वही पद नहीं रहता, किंतु नया पद हो जाता है। 'मनुष्य' पद के स्वभावबोध में 'सुन्दरता' का एक और गुण बढा दें, तो यह 'सुन्दर-मनुष्य' एक नया पद बन जाता है : और इस नये पद का व्यक्तिबोध प्रथम पद के व्यक्तिबोध से कम विस्तार का होता है।

इसके उलटे भी, किसी नये प्रकार के लोगो का समावेश करके जब किसी पद का व्यक्तिबोध बढा देते है, तब वह वही पद नहीं रहता किंतु नया पद हो जाता है। 'सुन्दर-मनुष्य' एक पद है। इस पद के व्यक्ति-बोध में 'कुरूप' लोगों को भी शामिल कर लें, तो यह एक नया पद 'मनुष्य' उपस्थित होगा। और, इस नये पद का स्वभावबोध पहले पद से कम 'गहन' होगा।

यहा ध्यान देना आवश्यक है कि यदि किसी पद के स्वभावबोध मे कोई ऐसा गुण बढा दे जो उसकी सभी व्यक्तियो मे सामान्य रूप से पाया जाता है तो उसके व्यक्तिबोध मे कोई ह्रास नहीं होगा। 'त्रिभुज' पद का स्वभावबोध है 'तीन भुजाओ से घिरा होना'। अब, यदि इसमे 'तीन कोणो

---

[1] Genus.　　　　[2] Species.

[3] देखो पृ० ५८

का होना' एक और गुण बढ़ा दे, तो उसमें पद के व्यक्तिबोध में कोई ह्रास नही होगा, क्यो कि जितने भी त्रिभुज हैं सभी के तीन कोण होते हैं।

§ ६—'बोध' का अर्थ

'व्यक्तिबोध' या 'स्वभावबोध' से उन व्यक्तियो या गुणो का मतलब नही है जिन्हे हम या आप जाने ही। हम या आप जानें चाहे न जानें, उस जाति के जितने व्यक्ति-विशेष ससार मे है सभी उसके व्यक्तिबोध से समझे जायेंगे। उसी तरह, जाने चाहे न जाने, वे सभी धर्म पद के स्वभावबोध में सम्मिलित है जिनके आधार पर उस जाति का जातित्व निर्भर करता है। जब कोलम्बस ने अमेरिका महाद्वीप का पता लगाया, तब हम लोगो ने एक नये महाद्वीप से परिचय प्राप्त किया ठीक, किंतु इसका अर्थ यह नही कि 'महाद्वीप' पद के व्यक्तिबोध मे कोई वृद्धि हुई; और उस कारण उसके स्वभाव-बोध मे कोई ह्रास भी नही हुआ। उसी तरह, विज्ञान के विकास से यदि किसी जाति के 'जातित्व' का हमें पूर्णतर ज्ञान प्राप्त हो जाय, तो इसका मतलब यह नही कि उसके 'स्वभाव-बोध' में कोई वृद्धि हो गई, और उस कारण उसके व्यक्तिबोध मे भी कोई ह्रास नही होता। न्यूटन ने पता लगाया कि पदार्थ मे आकर्षण शक्ति है; इससे पदार्थ के एक नये गुण के साथ हमारा परिचय हुआ ठीक, किंतु इसका अर्थ यह कभी नही कि न्यूटन ने पदार्थ के स्वभावबोध को बढ़ा दिया; और इसी कारण उससे 'पदार्थ' पद के व्यक्तिबोध मे कोई ह्रास नही होता।

§ ७—परस्पर ह्रास-वृद्धि का कोई निश्चित नियम नहीं

'पद' के एक बोध में ह्रास-वृद्धि का जो दूसरे बोध मे उलटा प्रभाव पडता है इसके अनुपात का कोई निश्चायक नियम नही है। स्वभावबोध मे कैसे गुण की वृद्धि करने से व्यक्तिबोध में कैसा अन्तर होगा यह तो इस बात पर निर्भर है कि वह गुण कैसा है।

'मनुष्य' पद के स्वभावबोध में यदि 'लोभी' का गुण बढ़ा दें तो उसके व्यक्तिबोध में बहुत कम अन्तर पड़ता है, क्यो कि अधिक लोग लोभी ही है। किंतु, यदि उसके स्वभाव-बोध में 'निर्लोभी' का गुण बढ़ा दे तो उसके व्यक्तिबोध में भारी ह्रास हो जायगा, क्यो कि संसार में निर्लोभी मनुष्य बहुत ही कम हैं।

§ ८—पदों का विभाजन[1]

किन्हीं चीजो या व्यक्तियो को भिन्न भिन्न प्रकार से विभागों मे बांट कर उनकी परीक्षा कर लेने से उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप स्पष्ट समझने में बडी सुविधा होती है। जैसे—

मान लें कि 'क', 'ख' और 'ग' तीन मनुष्य है। धर्म के ख्याल से—'क' हिन्दू है; और 'ख+ग' मुसलमान। धन के ख्याल से—'क+ख' धनी हैं, और 'ग' गरीब। स्वास्थ्य के ख्याल से—'ख' नीरोग है, और 'क+ग' रोगी। विद्या के ख्याल से—'क+ख' पढा लिखा और 'ग' अपढ।

इन विभागों की परीक्षा करने से पता चलता है कि—

(१) 'क' एक पढ़ा-लिखा धनी हिन्दू है, किंतु रोगग्रस्त रहा करता है;
(२) 'ख' एक पढा-लिखा धनी मुसलमान है, और वह नीरोग भी रहता है;
(३) 'ग' एक अपढ गरीब मुसलमान है, जो रोगग्रस्त भी रहा करता है।

इसी तरह, जितने भी 'पद' है उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार से विभागो मे बाट कर उनकी परीक्षा कर लें तो किसी विशेष 'पद' का स्वरूप स्पष्टतः निर्धारित करने में बड़ी सुविधा होगी। अनेक तर्कशास्त्रियो ने 'पदो' के

---

[1] Divisions of Terms.

विभाग अपने अपने ढंग से किए है। उनमे ध्यान देने योग्य कुछ सम्मत विभाजन नीचे दिये जाते हैं—

(क) एकशब्दात्मक—अनेकशब्दात्मक[1]

जो 'पद' एक से अधिक शब्दो के सयोग से बने है उन्हे 'अनेकशब्दात्मक पद' कहते है; और शेष 'पदो' को 'एकशब्दात्मक'। जो शब्द 'पदयोग्य' है वही 'एक-शब्दात्मक पद' हो सकते है। 'पदयोग्य' और 'पदसंयोज्य'[2] दोनो प्रकार के शब्द मिल कर 'अनेक-शब्दात्मक पद' बनते है। पदो का यह विभाजन उनके केवल बाह्य-रूप का विचार करता है, उनके अपने अर्थों का नही। उदाहरणार्थ—

एक-शब्दात्मक पद—मनुष्य, कुर्सी, राजा, देश इत्यादि।

अनेक-शब्दात्मक पद—कुर्सी पर बैठा मनुष्य, देश का राजा इत्यादि

(ख) व्यक्तिवाचक—जातिवाचक[3]

जिस पद से किसी खास एक का बोध होता हो उसे व्यक्तिवाचक पद कहते है। जैसे—'हिमालय', 'महात्मा गांधी', 'यह किताब', 'महाराष्ट्र का वह सिह जिसने मुगलो के छक्के छुड़ा दिये थे' इत्यादि।

जिस पद से उन सभी का बोध हो जो अपने कुछ साधारण धर्म के कारण एक जाति=वर्ग के समझे जाय, उसे 'जातिवाचक पद' कहते है। जैसे—'मनुष्य', 'पुस्तक', 'जो सदा देश की सेवा के लिए तैयार रहा करते है' इत्यादि। इस तरह, 'जातिवाचक' पद से केवल उनका

---

[1] Simple (or Single-worded) and Composite (or Many-worded).

[2] Categorematic and Syncategorematic words.

[3] Singular (or Individual) and General (or Common).

ही बोध नहीं होता है जो उस नाम से जाने जाते हैं, किंतु उससे उनके उस साधारण धर्म का भी बोध होता है जिस कारण वे उस नाम से जाने जाते हैं।

'व्यक्तिवाचक' पद दो प्रकार के होते हैं—सार्थक और यादृच्छिक[1]। 'जातिवाचक' पद के भी यह विभाग कर सकते हैं, किंतु उस पर यहां विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्यों कि तर्कशास्त्र की दृष्टि से उस भेद का कोई महत्व नहीं है।

(१) सार्थक व्यक्तिवाचक पद वह है जिससे उस धर्म का भी पता लग जाय जिस कारण उस का वह नाम दिया गया है। जैसे, 'संसार का सर्वोच्च शिखर' यह एक 'सार्थक व्यक्तिवाचक पद' है; क्यो कि इससे अमुक शिखर एवरेस्ट का बोध होता है, और साथ साथ उसके इस असाधारण धर्म ऊंचाई का भी पता लगता है। 'पंजाब', 'महात्मा जी', 'बुद्ध', 'भूमध्यसागर', 'सीमाप्रान्त', 'युक्तप्रान्त' इत्यादि ऐसे ही पद के उदाहरण हैं। इन पदो का 'व्यक्तिबोध' भी है, और 'स्वभावबोध' भी।

पद के शब्द का कोई अर्थ होने मात्र से वह 'सार्थक व्यक्तिवाचक पद' नहीं समझा जाता। उस व्यक्तिवाचक पद की सार्थकता तो तब है जब उस व्यक्ति का व्यक्तित्व इसी अर्थ मे हो। बहुधा ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति के नामकरण के समय वह सार्थक होता है, किन्तु आगे चल कर वह अपना अर्थ खो देता है। बचपन मे सुन्दर आँखो वाला होने के कारण किसी का उस समय नाम 'सुलोचन' रक्खा जा सकता है; किंतु आगे चल कर उसके अंधा हो जाने पर भी उसका नाम नहीं बदलता। बहुधा लोगो के नाम सार्थक होने पर भी उन अर्थों से उनके व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नही रहता। जिसका नाम अमर सिंह है वह भी मर जाता है, जिसका नाम धनपाल है वह भी कंगाल हो सकता है,

---

[1] Significant and Non-significant Singular Terms.

इत्यादि। अतः, यथार्थ मे 'सार्थक व्यक्तिवाचक पद'[1] वही है जिसका अर्थ उस खास व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ घुलमिल कर इतना एक हो गया है कि एक को दूसरे के बिना समझा भी नही जा सकता।

(२) यादृच्छिक व्यक्तिवाचक[2] पद वह है जो किसी का रूढ़ नाम हो। जैसे—राम, मोहन, अब्दुल्ला, कलकत्ता, गगा, विंध्याचल इत्यादि। ऐसे रूढ नाम से किसी खास एक का सकेत भर होता है। उसका स्वभाव क्या है इसे बोध कराने का सामर्थ्य उस नाम मे नही होता। परिचय प्राप्त करने के उपरान्त भले ही अमुक व्यक्ति का नाम लेते उसके असाधारण गुणो का भी बोध कर लें: किंतु, इसका अर्थ यह नही कि उस नाम में स्वय उस व्यक्ति विशेष के स्वभाव उद्बुद्ध कराने की योग्यता थी। अतः, ऐसे रूढ यादृच्छिक व्यक्तिवाचक पदो के 'व्यक्तिबोध' तो है, किंतु उनके 'स्वभावबोध' नही है।

(ग) समूहवाचक—असमूहवाचक[3]

समूहवाचक पद उसे कहते है जिससे अनेक समान व्यक्तियो के एक समुदाय का बोध हो। जैसे—सेना, क्लास, सभा, झुण्ड, गट्ठर, जगल। प्रत्येक सिपाही को पृथक् पृथक् सेना नही कह सकते, किंतु कवायद के लिए जब वे एक साथ व्यूह बना कर खडे होते है तो वह समुदाय सेना कहा जाता है। अलग अलग विद्यार्थी क्लास नही कहा जाता, किंतु पढने के लिए जब शिक्षक के सामने एक जगह मिल कर बैठते है तब उस समुदाय को क्लास कहते है। अलग अलग वृक्ष को जगल नही कहते, किंतु जब कही एक जगह वे घने उगे रहते है तब उस समुदाय को जगल कहते है। इत्यादि

---

[1] Significant Singular Term.

[2] Non-significant Singular Term.

[3] Collective Terms—Non collective Terms.

जिस पद से किसी एक समुदाय का बोध न हो उसे असमूहवाचक पद कहते हैं। जैसे—सिपाही, विद्यार्थी, मनुष्य, वृक्ष, राजा, हिमालय, जंगल का राजा इत्यादि।

जब किन्हीं समान व्यक्तियों के समुदाय का कोई विशेष नाम नहीं रहता, तो उसे (=उस समुदाय को) सभी मिल कर, दोनों मिल कर, तीनों मिल कर, ऐसे शब्द जोड कर प्रकट करते हैं। जैसे—सभी लडके मिल कर बैठे हैं, तीनों कोण मिल कर दो समकोण हुए इत्यादि। ऐसे पदों को भी समूहवाचक ही समझना चाहिए।

समूहवाचक पद 'व्यक्तिवाचक' भी हो सकते हैं, और 'जातिवाचक' भी। 'भारतीय राष्ट्र', 'यहां की गोरी पलटन', 'हजारीबाग का जंगल' इत्यादि समूहवाचक पद व्यक्तिवाचक हैं, क्योंकि वे एक खास राष्ट्र, पलटन तथा जंगल के नाम हैं। राष्ट्र, पलटन, जंगल इत्यादि समूहवाचक पद जाति-वाचक हैं, क्योंकि वे राष्ट्र, पलटन, या जंगल की जाति का बोध करते हैं।

(घ) द्रव्यवाचक—भाववाचक[1]

द्रव्यवाचक पद वह है जिससे किसी वस्तु का बोध हो; और भाव-वाचक पद वह है जिससे किसी गुण का बोध हो। जैसे—बालक, लोहा, देश, राजा इत्यादि द्रव्यवाचक पद हैं। बालकता, मनुष्यत्व, बुढ़ापा बेवकूफी, पागलपन इत्यादि भाववाचक पद हैं।

विशेषण के शब्द 'द्रव्यवाचक पद' ही हैं, क्योंकि उनसे यह पता चलता है कि किन वस्तुओं का निर्देश किया गया है। लाल टोपी—यहां 'लाल' शब्द यह निर्देश करता है कि किन टोपियों से मतलब है। 'लाल' टोपी ही को बोध कराता है, टोपी की ललाई को नहीं। अत सभी विशेषणों से उनके गुण के बोधक 'भाववाचक पद' बनाये जा सकते हैं। जैसे, लम्बा

[1] Concrete —Abstract.

से लम्बाई, मोटा से मोटाई, कडवा से कड़वापन, बूढा से बुढ़ापा इत्यादि। यही नही, 'द्रव्यवाचक पदों' से भी उनके गुण के बोधक 'भाववाचक पद' बनाये जा सकते है। जैसे—वृक्ष से वृक्षत्व, मनुष्य से मनुष्यत्व, इत्यादि। क्रिया से भी 'भाववाचक पद' बन सकते है। जैसे—कृति, स्मृति, दृष्टि, सतोष इत्यादि।

भाववाचक पदो में व्यक्तिवाचक और जातिवाचक का भेद किया जा सकता है या नही इस बातपर तर्कशास्त्रियो मे मतभेद है। 'ललाई' एक भाववाचक पद है; इसे व्यक्तिवाचक समझना चाहिए या जातिवाचक ? कुछ का कहना है कि यह एक जाति का बोध करता है, क्योकि गहरी-फीकी पचासो तरह की ललाइया हो सकती है। दूसरो का कहना है कि चाहे कितनी ही प्रकार की चीजो मे वह रग उपस्थित क्यो न हो, किंतु उनमें वह 'ललाई' तो एक ही है न ! मनुष्य भिन्न भिन्न है, किंतु सब मे मनुष्यत्व एक ही है। सत्य बहुत बातें है, किंतु सब मे सत्यता का भाव एक ही है।

पहले पक्ष के अनुसार सभी भाववाचक पद जातिवाचक है; और दूसरे पक्ष के अनुसार सभी व्यक्तिवाचक।

इस विषय में बीच का रास्ता ग्रहण करना अधिक ठीक है। कुछ भाववाचक पद तो निश्चित रूप से जातिवाचक है। जैसे—रंग, सद्गुण, दुर्गुण, इत्यादि; क्योकि कालापन हरापन आदि अनेक रग होते है, और सद्गुण तथा दुर्गुण भी अनेक है।

ललाई, मनुष्यत्व, सुन्दरता आदि पदो को व्यक्तिवाचक ही मानना उचित है।

(ङ) विधि[1]—निषेध[2]—अभाव[3]

विधि-पद[1] वह है जो चीज का रहना बतावे। निषेध-पद[2] वह है

---

[1] Positive. [2] Negative. [3] Privative.

जो चीज़ का न रहना बतावे। अभाव पद वह है जो चीज़ के अभाव का रहना बतावे, और जिससे यह मालूम हो कि उस चीज़ को वहां रहने की योग्यता है। जैसे—घड़ा भरा है; घड़ा नहीं भरा है; और घड़ा खाली है। 'भरा' विधिपद है। 'नहीं भरा' निषेध-पद है; क्योंकि यह भरा होने का निषेध भर करता है : हो सकता है कि घडा आधा या चौथाई ही भरा हो। 'खाली' अभाव-पद है, क्योंकि यह भरा होने के बिल्कुल अभाव के होने का सूचक है; और इससे यह मालूम होता है कि घड़ा फिर भी भरा जा सकता है। इस तरह, 'अभाव-पद' बताता है कि (१) पहले वह चीज़ यहां थी, अथवा साधारणत रहा करती है, (२) अब एकदम नहीं है, और (३) भविष्य मे उसके फिर भी आने की कल्पना की जा सकती है। 'अन्धा, बहरा, गूंगा, लगड़ा, बांझ' आदि शब्द अभाववाचक पद के उदाहरण हैं।

(च) स्वतंत्र[1]—सम्बद्ध[2]

स्वतंत्र-पद[1] वह है जो, बिना किसी दूसरे की अपेक्षा किए, अपना अर्थ स्वयं व्यक्त कर दे। सम्बद्ध-पद[2] वह है जिसका अर्थ किसी दूसरे के सम्बन्ध से ही समझा जा सके। जैसे—फूल, मनुष्य, पहाड़ आदि 'स्वतंत्र-पद' हैं। बेटा, गुरु, नौकर, प्रजा आदि 'सम्बद्ध-पद' हैं; क्योंकि बाप के सम्बन्ध से ही बेटा बेटा है, शिष्य के सम्बन्ध से ही गुरु गुरु है, मालिक के सम्बन्ध से ही नौकर नौकर, राजा के सम्बन्ध से ही प्रजा प्रजा है। बाप क्या है बिना समझे बेटा क्या है नहीं समझा जा सकता, शिष्य क्या है बिना समझे गुरु क्या है नहीं समझा जा सकता, मालिक क्या है बिना समझे नौकर क्या है नहीं समझा जा सकता, राजा क्या है बिना समझे प्रजा क्या है नहीं समझा जा सकता। 'सम्बद्ध-पद' बराबर जोड़े जोड़े

---

[1] Absolute Term.　　[2] Relative Term.

हो कर रहते है; जैसे—बाप-बेटा, शिष्य-गुरु इत्यादि। कभी कभी जोड़े एक ही शब्द के होते है; जैसे—दोस्त-दोस्त, भाई-भाई, साथी-साथी, पड़ोसी-पड़ोसी, शत्रु-शत्रु इत्यादि। ऐसे शब्द भी 'सम्बद्ध-पद' ही के उदाहरण है।

यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ससार मे किसी भी चीज़ की स्थिति एकान्तत. स्वतत्र नही हो सकती। सभी चीज अपनी उत्पत्ति तथा स्थिति के लिए किसी दूसरी चीज़ पर आश्रित करती है। मनुष्य हवा-जल-भोजन पर आश्रित है। किंतु, मनुष्य-हवा सम्बद्धपद नही है, क्योकि विना यह समझे कि मनुष्य किसे कहते है यह समझा जा सकता है कि हवा किसे कहते है।

(छ) स्वभाववाचक—नि.स्वभाववाचक

स्वभाववाचक पद[1] वह है जिसका 'व्यक्तिवोध' और 'स्वभाववोध' दोनो हो। नि.स्वभाववाचक पद[2] वह है जोकिसी व्यक्तिवाचक वस्तु या भाव का नाम हो; जिसका केवल 'व्यक्तिवोध' हो; जो किसी 'स्वभाववोध' से नही, किन्तु निर्देश करने से जाना जाय।

'मनुष्य' पद स्वभाव-वाचक है, क्योकि इससे उन सभी व्यक्तियो का वोध होता है जो इस नाम से पुकारे जाते है, और साथ ही साथ मनुष्यत्व गुण का भी वोध होता जिससे सभी मनुष्य मनुष्य समझे जाते है। अर्थात्, इस पद से 'व्यक्तिवोध' और 'स्वभाववोध' दोनो की प्राप्ति होती है।

रामनारायण, महादेवी, सत्यता, ललाई आदि पद 'निःस्वभाववाचक' है, क्योकि वे व्यक्तिवाचक वस्तु या गुण के नाम भर है। इन पदो के केवल 'व्यक्तिबोध है, स्वभाववोध नही।

---

[1] Connotative. [2] Non-connotative.

निम्न प्रकार के पद 'स्वभाववाचक' है—

(क) सभी जातिवाचक पद—वृक्ष, कुर्सी, कलम, मनुष्य, रंग, सद्गुण, दुर्गुण इत्यादि।

(ख) सभी सार्थक व्यक्तिवाचक पद—महात्मा जी, संयुक्तप्रान्त, संसार का सर्वोच्च शिखर इत्यादि।

निम्न प्रकार के पद 'नि:स्वभाववाचक' है—

(क) सभी व्यक्तिवाचक वस्तु—हिमालय, रामनारायण, गगा इत्यादि।

(ख) सभी व्यक्तिवाचक भाव—सत्यता, लडाई, बराबरी, खीचा-तानी इत्यादि।

§ ९—पदों में परस्पर सम्बन्ध

(क) जाति-उपजाति[1]—यदि दो पदों मे परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि पहले का व्यक्तिबोध दूसरे के व्यक्तिबोध को अपने अन्तर्गत कर ले, तो पहला दूसरे के सम्बन्ध मे 'जाति' है, और दूसरा पहले के सम्बन्ध में 'उपजाति' है। भारतीय-पंजाबी, पशु-घोड़ा, वृक्ष-आम इत्यादि पदो में यही जाति-उपजाति का सम्बन्ध है।

'भारतीय' पद का व्यक्तिबोध[2] 'पंजाबी' पद के व्यक्तिबोध को अपने अन्तर्गत करता है, क्योंकि 'भारतीय' पद से समझे जाने वाले व्यक्तियो में 'पंजाबी' पद से समझे जाने वाले सभी व्यक्तिया अन्तर्गत है। अतः 'पंजाबी' पद के सम्बन्ध में 'भारतीय' पद जाति है; और 'भारतीय' पद के सम्बन्ध मे 'पजाबी' पद उपजाति है।

यहां, 'जाति-उपजाति' सम्बन्ध का 'अगी-अग' सम्बन्ध से भेद कर लेना आवश्यक है। 'अंगी' मे उसके सभी 'अग' अन्तर्गत होते है; किंतु

---

[1] Genus—Species.　　[2] Denotation.

इससे 'अग' के सम्बन्ध मे 'अंगी' को जाति नही समझ सकते। गाड़ी अगी है, और उसका चक्का अग । गाडी मे चक्का अन्तर्गत है। किंतु चक्का के सम्बन्ध मे गाड़ी को 'जाति' समझना भूल है।

इन दो प्रकार के सम्बन्धो में क्या भेद है उसे इस तरह ठीक ठीक समझ सकते है। 'उपजाति' को उसकी 'जाति' के नाम से पुकार सकते है, किंतु किसी 'अग' को उसके अगी के नाम से नही पुकार सकते। 'पजाबी' को 'भारतीय' नाम से पुकार सकते है; किंतु 'चक्का' को 'गाडी' नाम से नही पुकार सकते। पृथक् पृथक् प्रत्येक गाडी मे उसका चक्का अन्तर्गत है, किंतु पृथक् पृथक् प्रत्येक भारतीय में पजाबी अन्तर्गत नही है।

जाति-उपजाति के सम्बन्ध के विषय मे एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि, व्यक्तिबोध की दृष्टि से भले ही उपजाति अपनी जाति के अन्तर्गत हो, स्वभावबोध की दृष्टि से उलटे जाति ही अपनी उपजाति के अन्तर्गत होता है। भारतीय लोगो मे पंजाबी लोग भी सम्मिलित है; किंतु पजाबीपने में भारतीयपना सम्मिलित है, क्योंकि कोई पंजाबी पजाबी नही हो सकता यदि वह पहले भारतीय नही है।[1]

अंगी-अग के सम्बन्ध मे यह बात नही घटती। यह मान भी लें कि 'गाडी' मे 'चक्का' अन्तर्गत है, तो यह नही कह सकते कि चक्केपने मे गाड़ीपना अन्तर्गत है।

(ख) सजाति-सजाति—यदि दो या अधिक पदो मे परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि उनके अपने अपने व्यक्तिबोध एक ही अन्य पद के व्यक्तिबोध मे अन्तर्गत हो, तो वे एक दूसरे के सम्बन्ध मे 'सजाति'[2] कहे जाएंगे। पजाबी-गुजराती, घोड़ा-बैल, आम-जामुन, गुलाब-गेंदा आदि पदों में परस्पर यही सम्बन्ध है।

---

[1] देखो पृ० ४७

[2] Co-ordinate Species.

'पजावी', 'गुजराती', 'सिन्धी', और 'विहारी' पदो के अपने अपने जो व्यक्तिबोध है सभी एक अन्य 'भारतीय' पद के व्यक्तिबोध के अन्तर्गत है, अतः वे पद एक दूसरे के सजाति हैं।

सजाति पदो के व्यक्तिबोध एक दूसरे से सर्वथा पृथक् होते है। 'पजावी' पद का व्यक्तिबोध 'गुजराती' पद के व्यक्तिबोध से सर्वथा पृथक् है, क्योंकि कोई पंजावी गुजराती नही है, और कोई गुजराती पंजावी नहीं है।

'पजावी' और 'लाहौरी', इन दो पदो के व्यक्तिवोध तीसरे 'भारतीय' पद के व्यक्तिवोध में अन्तर्गत होते है सही, किंतु वे एक दूसरे के 'सजाति' नही कहे जा सकते; क्योंकि 'पंजावी' पद का व्यक्तिवोध 'लाहौरी' पद के व्यक्तिवोध को अपने अन्तर्गत कर लेता है।

(ग) आसन्न जाति—आसन्न उपजाति—यदि 'जाति' और 'उप-जाति' के वीच किसी तीसरे पद के व्यक्तिवोध आ जाने की सम्भावना न हो तो पहला दूसरे के सम्वन्ध में 'आसन्न जाति'[1] और दूसरा पहले के सम्वन्ध में 'आसन्न उपजाति'[2] कहा जाता है। 'भारतीय-पजावी' मे यही सम्वन्ध है, क्योंकि दोनो के वीच और किसी पद का व्यक्तिबोध उपस्थित नहीं है। 'भारतीय' पद 'पजावी' पद का 'समनन्तर जाति' है, और 'पजावी' पद 'भारतीय' पद का 'समनन्तर उपजाति'। हा, यदि उनके वीच 'उत्तर भारतीय' पद का व्यक्तिवोध उपस्थित किया जा सके, तो 'भारतीय—उत्तरभारतीय—पजावी' ऐसा हो जाने से उनमें वह सम्वन्ध नहीं समझा जायगा। तव, वही सम्वन्ध 'उत्तर भारतीय' और 'पजावी' में स्थापित किया जा सकेगा।

(घ) दूरस्थ जाति—दूरस्थ उपजाति—यदि 'जाति' और 'उपजाति' के वीच अन्य पद या पदो के व्यक्तिवोध का अन्तर्भाव हो तो पहला दूसरे

---

[1] Proximate Genus.　　[2] Proximate Species.

के सम्बन्ध मे दूरस्थ-जाति[1] है, और दूसरा पहले के सम्बन्ध में 'दूरस्थ-उपजाति[2]' है। जैसे, पंजाबी के सम्बन्ध में मनुष्य 'दूरस्थ जाति' है, और मनुष्य के सम्बन्ध मे पजाबी 'दूरस्थ उपजाति' है; क्योकि इन दोनों के बीच 'भारतीय' पद का व्यक्तिवोव उपस्थित है।

(ङ) महा जाति[3]—उस पद को 'महा जाति' कहते है जिसका व्यक्तिवोध किसी भी दूसरे पद के व्यक्तिवोध के अन्तर्गत न हो सके। ऐसा पद 'सत्ता' है, क्योंकि इसके अन्तर्गत सव कुछ आ जाता है। महा-जाति की फिर कोई जाति नही होती।

(च) अन्त्य जाति[4]—उस पद को 'अन्त्य जाति' कहते है जिसका व्यक्तिवोध किसी दूसरे पद के व्यक्तिवोध को अपने अन्तर्गत न कर सके। अन्त्य जाति की फिर कोई उपजाति नही होती।

§ १०—पदों में परस्पर भेद[5]

(क) भेदक—यदि दो पदो में ऐसा भेद हो कि एक के सत्य होने पर दूसरे का झूठ होना आवश्यक हो, किंतु एक के झूठ होने पर दूसरे का सत्य होना आवश्यक न हो, तो वे एक दूसरे के भेदक[6] कहे जायेंगे। जैसे—उजला-काला, आम-इमली, दीया-लालटेन इत्यादि। यदि कोई चीज उजली है तो उसी समय उसी स्थान पर काली नही हो सकती। किंतु यदि कोई चीज उजली नही है तो उसका काली होना आवश्यक नही, वह तीसरे रग की हो सकती है। यदि किसी चीज का आम होना सत्य है तो उसका इमली होना झूठ होगा। किंतु, यदि किसी चीज का आम होना झूठा है, तो यह आवश्यक नही कि वह इमली ही हो; वह कोई तीसरी चीज हो सकती है। इत्यादि

---

[1] Remote Genus　　　[2] Remote Species.
[3] Summum Genus.　　　[4] Infima Species.
[5] Opposition.　　　[6] Contrary.

'भेदक पद' दोनों के दोनो झूठे हो सकते हैं, किंतु दोनो के दोनो सत्य नहीं हो सकते।

(ख) विरुद्ध'[1]—यदि दो पदो में ऐसा भेद हो कि एक के सत्य होने पर दूसरे का झूठ होना आवश्यक हो, और एक के झूठ होने पर दूसरे का सत्य होना भी, तो वे एक दूसरे के विरुद्ध कहे जायेंगे। जैसे—मनुष्य-अमनुष्य, वृक्ष-अवृक्ष, पुस्तक-अपुस्तक, जीवित-मृत, उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण, इत्यादि।

'विरुद्ध' पद दोनो के दोनों न तो सत्य होगे, न झूठ। उनमे एक अवश्य सत्य होगा और एक अवश्य झूठ।

कहा जाता है कि किन्ही दो 'विरुद्ध' पदो में सारा विश्व अन्तर्गत हो जाता है। 'मनुष्य' से मनुष्य समझे जायेंगे, और 'अमनुष्य' से विश्व की सारी शेष चीजें जो मनुष्येतर है। इस तरह, 'अमनुष्य' पद मे पशु, पक्षी, टेबल, घर, पहाड़, सूरज, चाद इत्यादि सभी चीजें चली आती है।

किंतु, ऐसा समझना उचित नही प्रतीत होता। 'अमनुष्य' पद से वृक्ष, पहाड़, नदी, समुद्र सभी का बोध यथार्थ मे नही हो सकता। अधिक से अधिक 'अमनुष्य' पद से मनुष्येतर पशु, पक्षी आदि उसके सजाति-पदो का परिहार होना समझा जा सकता है। अत, किन्ही दो विरुद्ध पदों मे सारा विश्व समा जाता है ऐसा न कहके यह कहे कि, "किन्ही दो विरुद्ध पदो मे उसके सभी सजाति अन्तर्गत हो जाते है" तो हम अधिक सत्य के निकट होगे। दो विरुद्ध पद उसी क्षेत्र को व्याप्त करते है जिसमें उनकी अवगति सम्भव है। 'मनुष्य-अमनुष्य' पदो की अवगति भिन्न भिन्न प्राणियो तक ही है, नदी-पहाड़-सूरज तक नही। अत., 'अमनुष्य' पद से नदी-पहाड़ भी समझने की कोशिश करना व्यर्थ प्रयास है। विरुद्ध पदो की अवगति जिस क्षेत्र मे सीमित होती है उसे 'अवगति-क्षेत्र'[2] कहते है।

---

[1] Contradictory. [2] Universe of Discourse.

तीसरा अध्याय

लक्षण[1]-प्रकरण

§ १—'लक्षण' की आवश्यकता

विविध प्रकार के वस्तुओ के बीच उसके धर्मों का उल्लेख करके किसी एक का निर्देश कर देने, और उसके अन्य सभी सजाति का परिहार कर देने के लिए 'लक्षण' का प्रयोग किया जाता है। कुछ लडके मैदान में खेल रहे हो। अब यदि किसी को यह कहें कि उनमें जो धोती पहने है उन्हें बुला लाओ, तो इतने से इष्ट लडको का निर्देश हो जाता है, और अनिष्ट लडको का परिहार भी। इस तरह, 'धोती पहने लडके' एक तरह उनका 'लक्षण' हुआ। तब, कह सकते है कि सभी मे से इष्ट का स्वीकार और अनिष्ट का परिहार करा देना 'लक्षण' का काम है।

§ २—तीन धर्म

किसी पद का "लक्षण" उसके धर्मों का उल्लेख करके करते है। इसलिए यहा विचार कर लेना आवश्यक है कि धर्म (=गुण) कितने प्रकार के होते है, और उनमें "लक्षण" करने के लिए किनका उपयोग है और किनका नही।

धर्म तीन प्रकार के होते है—स्वभाव,[2] स्वभावसिद्ध[3] और आकस्मिक[4]।

---

[1] Definition. [2] Connotation.
[3] Proprium or Property. [4] Accident.

(१) उस धर्म को स्वभाव-धर्म कहते है जिस कारण उस पद से समझे जाने वाले व्यक्ति वैसा समझे जाते है। 'जलचर-प्राणी होना' मछली पद का स्वभाव-धर्म है, क्योकि इसी धर्म के कारण मछली मछली समझी जाती है। 'तीन भुजाओ से घिरा होना' त्रिभुज पद का स्वभाव धर्म है, क्योकि इसी धर्म के कारण त्रिभुज त्रिभुज समझा जाता है। 'पाख वाला प्राणी होना' पक्षी पद का स्वभाव धर्म है, क्योकि इसी धर्म के कारण पक्षी पक्षी समझा जाता है।

(२) स्वभावसिद्ध-धर्म वह धर्म है जो स्वभाव-धर्म का कोई अग न होते हुए भी उसी से सिद्ध होता है। 'पानी मे सास ले सकना' मछली का स्वभाव-सिद्ध गुण है, क्योकि उसका यह धर्म जलचर होने से सिद्ध है। 'तीनो कोणो का मिल कर दो समकोण के वरावर होना' त्रिभुज पद का स्वभावसिद्ध धर्म है, क्योकि यह धर्म तीन भुजाओं से घिरे होने की वात से निकलता है। 'हवा मे उड़ सकना' पक्षी पद का स्वभाव-सिद्ध धर्म है, क्योकि यह धर्म पाख वाला होने की बात से ही सिद्ध होता है।

स्वभावसिद्ध-धर्म पद से व्यक्त होने वाले सभी व्यक्तियो मे अनिवार्य रूप से अनुगत रहता है, क्योकि वह उनके स्वभाव धर्म मे ही निहित है।

(३) स्वाभाव-धर्म और स्वभावसिद्ध धर्म को छोड शेष सभी धर्मों को आकस्मिक धर्म कहते है। अमुक वस्तु के वस्तुत्व की रक्षा के लिए आकस्मिक धर्म की आवश्यकता नहीं। उस धर्म के न होने पर भी वह वस्तु वैसा समझा जा सकता है। जैसे—मछली के अमुक रग का होना, त्रिभुज का समद्विवाहु होना, या पक्षी का द्विपद होना। अमुक रंग की न होने पर भी मछली मछली रह सकती थी, समद्विवाहु न हो कर भी त्रिभुज त्रिभुज रह सकता था, द्विपद न हो कर भी पक्षी पक्षी रह सकता था, इत्यादि।

इन तीन प्रकार के धर्मों को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि 'लक्षण' के लिए इनमें केवल 'स्वभाव-धर्म' का ही उपयोग है। पूरे स्वभावधर्म

का उल्लेख कर देने मात्र से वस्तु का लक्षण हो जाता है। आकस्मिक और स्वभावसिद्ध धर्मों मे चाहे कितने का भी उल्लेख क्यो न करें वस्तु का लक्षण नही वन सकता। वह अच्छा से अच्छा वर्णन[1] हो सकता है, किंतु लक्षण[2] नही। यदि कहे कि, "मनुष्य वह है जो दो पैरो वाला है, दो हाथो वाला है, घरमें रहता है, रोटी खाता है, सास लेता है, लिख-पढ सकता है, विचार करता है इत्यादि इत्यादि" तो इससे 'मनुष्य' का लक्षण नही होता। यह मनुष्य का वर्णन हुआ, 'लक्षण' नहीं।

§ ३—लक्षण का लक्षण[3]

स्वभावधर्म में दो बाते होती है—(१) अपनी आसन्न-जाति[4] का सामान्य, और (२) अपनी असाधारणता[5] जिससे वह अपनी सजाति से पृथक् होता है; इसे 'व्यवच्छेदक धर्म' भी कहते है।

उदाहरणार्थ, 'त्रिभुज' का स्वभाव-धर्म है—(१) क्षेत्र होना, और (२) तीन भुजाओ से घिरा होना। यहा, 'क्षेत्र' त्रिभुज की अपनी आसन्न जाति है; और 'तीन भुजाओ से घिरा होना' त्रिभुज की अपनी असाधारणता है जिससे त्रिभुज अपनी सजाति चतुर्भुज, पञ्चभुज आदि सभी अन्य क्षेत्रो से पृथक् किया जाता है।

'पक्षी' का स्वभाव धर्म है—(१) प्राणी होना, और (२) पाख वाला होना। यहा, 'प्राणी' पक्षी की अपनी आसन्न जाति है; 'पाख वाला' पक्षी की अपनी असाधारणता है जिससे पक्षी अपनी सजाति पशु, मछली, तथा मनुष्य से पृथक् किया जाता है।

---

[1] Description.

[2] Definition.

[3] Definition of Definition.

[4] Proximate Genus. [5] Differentia.

'मनुष्य' का स्वभावधर्म है—(१) प्राणी होना, और (२) विवेकशील होना। यहा, 'प्राणी' मनुष्य की अपनी आसन्न जाति है; और 'विवेकशील होना' उसकी अपनी असाधारणता है, जिससे वह अपनी सजाति पक्षी, पशु, तथा मछली से पृथक् किया जाता है।

अत., 'जाति और असाधारण धर्म का उल्लेख कर देना'[1] लक्षण का लक्षण कहा जाता है।

§ ४—लक्षण के नियम और उसके दोष

(१) 'लक्षण' में लक्ष्य पद के पूरे स्वभावधर्म का उल्लेख होना चाहिए। अर्थात्, उसकी आसन्न जाति का सामान्य और उसका असाधारण-धर्म, दोनो कहे जाने चाहिए। यदि इन दोनो मे से एक छूट जाय, तो उस लक्षण से पद के व्यक्ति-बोध से अधिक का बोध होने लगेगा। पक्षी का यदि लक्षण करे कि, "पक्षी वह है जो प्राणी है" अथवा "पक्षी वह है जो पख वाला है", तो पहले के अनुसार पशु, मछली या मनुष्य का भी पक्षी मे बोध होने लगेगा, और दूसरे के अनुसार हवाई जहाज, बिजली का पंखा और उन सभी का बोध होने लगेगा जिनमे किसी प्रकार का पख लगा हो।

त्रिभुज एक क्षेत्र है, त्रिभुज तीन भुजाओ वाला है, मछली पानी में रहने वाला है, आम एक फल है इत्यादि लक्षणो मे यही दोष है। इस दोष को अतिव्याप्ति[2] दोष कहते है।

(२) लक्षण में लक्ष्य पद के स्वभावधर्म को छोड और किसी दूसरे धर्म का उल्लेख नहीं होना चाहिए। केवल स्वभावधर्म का उल्लेख कर

---

[1] Definition is a statement of the proximate genus and the differentia of the term.

[2] The Fallacy of Too Wide Definition.

देने से पद के पूरे व्यक्तिबोध का निर्देश हो जाता है। उसके साथ साथ यदि उसके स्वभावसिद्ध धर्म का भी उल्लेख करे तो वह व्यर्थ है। "त्रिभुज वह क्षेत्र है जो तीन भुजाओ से घिरा हो, जिसके तीनो कोण मिल कर दो समकोण के बराबर होते हैं"—इस लक्षण मे अन्तिम भाग व्यर्थ है। तीन कोणो का मिल कर दो समकोण के बराबर होना तो त्रिभुज के स्वभाव-धर्म मे ही निहित है। यह ठीक है कि इससे त्रिभुज के विषय मे हमारा ज्ञान अधिक समृद्ध हो गया। किंतु 'लक्षण' का तो यह उद्देश्य नही है। 'लक्षण' का तो उद्देश्य केवल पद के पूरे व्यक्तिबोध का निर्देश कर देना ही है; और वह तो स्वभावधर्म के उल्लेख से हो जाता है। अतः स्वभाव-सिद्ध धर्म का भी उल्लेख करना व्यर्थ है। इस दोष को व्यर्थधर्मारोप दोष[1] कहते हैं।

पक्षी वह प्राणी है जिसके पख होते है, और जो सास लेता है · मछली वह प्राणी है जो पानी में रहता है, और जो तैरना जानता है . मनुष्य वह विवेकशील प्राणी है, जो विचार कर सकता है इत्यादि लक्षणो में यही दोष है।

यदि लक्षण मे स्वभावधर्म के साथ साथ पद के 'आकस्मिक धर्म'[2] का भी उल्लेख कर दें तो उसके व्यक्तिबोध के निर्देश मे कमी आ जाती है। जैसे, "पक्षी पाख वाला प्राणी है, जो पेड पर घोसला लगाता है।" इस लक्षण मे 'जो पेड़ पर घोसला लगाता है' यह पक्षी का आक-स्मिक धर्म है। इसका उल्लेख कर देने से 'पक्षी' पद का जो व्यक्तिबोध है उसमे कमी आ गई, क्योकि पेड पर घोसला न बनाने वाले मुर्गी, बत्तक आदि पक्षियो का समावेश इसमे नही हुआ। लक्षण के इस दोष को अव्याप्ति दोष[3] कहते हैं।

---

[1] The Fallacy of Redundant Definition.
[2] Accident. [3] Fallacy of Too Narrow Definition.

(३) लक्षण की भाषा आलंकारिक और दुर्बोध न हो।

'लक्षण' का उद्देश्य है पद के व्यक्तिबोध को पूर्णत: स्पष्ट बता देना। आलंकारिक और दुर्बोध भाषा में कुछ का कुछ समझ लिया जाने का डर रहता है, अतः इसमें 'लक्षण' का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।

सिंह जंगल का राजा है, ज्ञान मनुष्य का रत्न है, सूर्य अन्तरिक्षविहारी जाज्वल्यमान लोकनेत्र है, इत्यादि लक्षणों में यही दोष है। ऐसे लक्षण से तर्कशास्त्र का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस दोष को अलंकार दोष या दुर्बोध दोष[1] कहते हैं।

(४) लक्षण में लक्ष्य पद या उसके पर्याय का प्रयोग न हो।

मनुष्य वह है जिसमें मनुष्यत्व हो, पक्षी हवा में उड़ने वाली चिड़िया है, शक्ति कुछ काम करने की ताकत को कहते हैं, कवि वह है जिसमें कविता करने का सामर्थ्य हो, इत्यादि ऐसे लक्षण हैं जो इस नियम का उल्लंघन करते हैं।

लक्षण का तो अभिप्राय यही है कि लक्ष्य पद को साफ कर दे। तब, यदि लक्षण में ही लक्ष्य पद चला आवे तो कठिनाई दूर कहां हुई? ऐसे लक्षण को समझने के लिए पहले लक्ष्य को समझ लेना आवश्यक होगा। किन्तु, होना तो चाहिए था कि लक्ष्य को समझने के लिए लक्षण समझा जाता।

इस दोष को अन्योन्याश्रय दोष[2] या पर्यायोक्ति दोष[3] कहते हैं।

(५) जहां लक्षण विधि-मुख से हो सके वहां निषेध-मुख से नहीं करना चाहिए।

कुछ ऐसे पद हैं जिनका लक्षण निषेध-मुख से ही करना पड़ता है।

---

[1] Fallacy of Figurative or Obscure Definition.

[2] The Fallacy of Circle in Definition.

[3] The Fallacy of Synonymous Definition.

जैसे—'फेल' वह है जो पास नही हुआ, 'मृत' वह है जिसमे प्राण नही है, 'अन्धकार' वह है जहा प्रकाश नही है, इत्यादि ।

ऐसे उदाहरणो को छोड़, जिन पदो के लक्षण विधि-मुख से हो सकते है उनका निषेध-मुख से करना ठीक नही । इस दोष को निषेधात्मक दोष[1] कहते हैं । जैसे—सत्य वह है जो झूठ नही है, जमीन वह है जो पानी नही है, मनुष्य वह है जो हैवान नही है, त्रिभुज वह है जो चतुष्कोण नही है इत्यादि ।

§ ५—लक्षण की सीमायें[2]

(क) लक्षण में आसन्न जाति का सामान्य-धर्म कहा जाना आवश्यक है । अत 'महाजाति'[3] का लक्षण हो ही नहीं सकता, क्योकि इसकी कोई 'जाति' नही होती । 'सत्ता' महाजाति है । इसका लक्षण नही किया जा सकता । इसका अर्थ दूसरे पर्याय शब्दो से प्रगट कर सकते हैं । किंतु इसके व्यक्तिवोध की परिधि लक्षण द्वारा नही बाधी जा सकती ।

(ख) व्यक्तिवाचक भाव पदो[4] का भी लक्षण नही हो सकता । इन्हे तो साक्षात् प्रत्यक्ष करके ही जान सकते है । ललाई, मिठास, सुरीलापन, दुर्गन्धि इत्यादि क्या है लक्षण से उन्हे निर्देश नही कर सकते जिन्होने उनका प्रत्यक्ष नही किया है । और, जिन्होने किया है उनके लिए उनका नाम ग्रहण कर लेना पर्याप्त है ।

(ग) 'व्यक्तिवाचक नामो'[5] का भी लक्षण नही किया जा सकता । हम ऊपर देख चुके है कि सभी व्यक्तिवाचक नाम केवल अमुक अमुक व्यक्तिवोध के सकेत मात्र है । जब उनका स्वभावबोध बिल्कुल नही होता, तब उनका लक्षण कैसे हो सकता है ।

---

[1] The Fallacy of Negative Definition.

[2] Limits of Definition.

[3] Summum Genus.

[4] Singular Abstract terms.

[5] Proper names.

चौथा अध्याय

विभाग[1]-प्रकरण

§ १—विभाग के प्रकार

किसी एक को उसके भिन्न भिन्न भागो में बाट देने को विभाग करना कहते है। विभाग तीन प्रकार के होते है—

(१) शारीरिक विभाग[2]—किसी अगी को उसके भिन्न भिन्न अगो मे बांट कर रखना शारीरिक विभाग है। जैसे, 'मनुष्य' के शारीरिक विभाग होगे—हाथ, पैर, शिर, इत्यादि। 'पुस्तक' के शारीरिक विभाग होगे—जिल्द, टाइटिल पेज, पन्ने। वृक्ष के शारीरिक विभाग होगे—जड, धड़, शाखाये, टहनिया, पत्ते।

(२) आभिधर्मिक विभाग[3]—किसी धर्मी को उसके भिन्न भिन्न धर्मों में बाँट कर रखना आभिधर्मिक विभाग है। जैसे—'मनुष्य' के आभिधर्मिक विभाग होगे—रूप, वेदना, ज्ञान, क्रियाशक्ति · अथवा—मोटाई, लम्बाई, रग, वजन, दयालुता, क्रोध इत्यादि। 'पुस्तक' के आभिधर्मिक विभाग होगे—मोटाई, चौडाई, लम्बाई, रूप, रग, उपयोगिता इत्यादि। 'वृक्ष' के आभिधर्मिक विभाग होगे—ऊँचाई, फैलाव, सघनता, रग, इत्यादि उसके सभी धर्म।

(३) शास्त्रीय विभाग[4]—किसी जाति को उसकी भिन्न भिन्न उपजातियों में बांट कर रखने को शास्त्रीय विभाग कहते है। जैसे,

---

[1] Division. [2] Physical Division.
[3] Metaphysical Division. [4] Logical Division.

'मनुष्य' के शास्त्रीय विभाग होंगे—गोरे, काले, पीले, लाल : अथवा—एसियाई, युरोपीय, अमेरिकन, अफ्रिकन, अस्ट्रेलियन इत्यादि। 'पुस्तक' के शास्त्रीय विभाग होंगे—साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक इत्यादि। 'वृक्ष' के शास्त्रीय विभाग होंगे—आम, नीम, पीपल इत्यादि।

तर्कशास्त्र का शारीरिक या आभिधर्मिक विभाग से नही, किंतु शास्त्रीय विभाग से सम्बन्ध है।

ऊपर देख चुके है कि किस प्रकार स्वभावबोध का उल्लेख करके पद के व्यक्तिबोध की सीमा की परिधि 'लक्षण'[1] द्वारा खीच सकते है। अब, यह समझने की आवश्यकता है कि उस सीमा के भीतर उसके व्यक्ति किन सिलसिलो से व्यवस्थित है। इसके लिए 'शास्त्रीय विभाग'[2] का बड़ा उपयोग है।

§ २—विभाजक धर्म[3]

किसी 'जाति' को अपनी 'उपजातियो' मे बाँट देना ही शास्त्रीय विभाग है। किंतु, भिन्न भिन्न विचार से एक ही 'जाति' की भिन्न भिन्न प्रकार की उपजातिया बन सकती है। जैसे—

मजहब के विचार से 'मनुष्य' की उपजातिया होंगी—बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, पारसी, इत्यादि।

रंग के विचार से 'मनुष्य' की उपजातिया होंगी—गोरे, काले, पीले, लाल।

महादेश के विचार से 'मनुष्य' की उपजातिया होंगी—एसियाई, युरोपियन, अमेरिकन, अफ्रिकन, अस्ट्रेलियन।

कद के विचार से 'मनुष्य' की उपजातिया होंगी—लम्बे, साधारण, नाटे, बौने।

---

[1] Definition. [2] Logical Division.
[3] Fundamentum Divisions.

धन के विचार से 'मनुष्य' की उपजातिया होगी—धनी, साधारण, गरीब। इत्यादि इत्यादि इत्यादि।

इसे देखकर स्पष्ट मालूम होता है कि किसी एक पद का ही विभाजन भिन्न भिन्न प्रकार से कर सकते हैं; और यह कि प्रत्येक प्रकार के विभाजन में एक एक नियामक विचार रहता है, जिसे दृष्टि मे रख कर ही उपजातिया बनाई जाती है। उस नियामक विचार को विभाजक-धर्म कहते हैं। ऊपर जो 'मनुष्य' पद के भिन्न भिन्न प्रकार से विभाग किए गए उनमे पहले का 'विभाजक-धर्म' मजहब है, दूसरे का रंग, तीसरे का महादेश, चौथे का कद और पांचवे का धन।

§ ३—शास्त्रीय विभाग के नियम और उसके दोष

(१) शास्त्रीय विभाजन किसी एक वर्ग का होता है, किसी व्यक्ति का नहीं[1]। 'मनुष्य' पद जब एक वर्ग=जाति का सूचक हो तभी उसका शास्त्रीय विभाजन हो सकेगा। 'मनुष्य' पद मे जब एक खास श्रेणी या धर्मी का ग्रहण करें तब उसके 'शारीरिक' या 'आभिधर्मिक' विभाग तो होंगे, किन्तु उसका शास्त्रीय विभाजन न हो सकेगा।

(२) एक बार एक ही 'विभाजक धर्म' के अनुसार विभाग किए जायेंगे। ऊपर 'मनुष्य' पद का भिन्न भिन्न प्रकार से विभाजन करके देख चुके है कि किस प्रकार एक बार एक ही विभाजक-धर्म हो सकता है। किसी विभाजक-धर्म की नियामकता बिना स्वीकार किए किसी पद का विभाजन करना चाहे तो उसका कहीं अन्त ही नहीं होगा। यदि 'मनुष्य' के विभाग करें—मोटे, धनी, गोरे, दुबले, पीले, सुन्दर, मूर्ख, भारी....तो ऐसे विभाग से कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।

[1] Logical Division is always of a class, not of an individual.

विभाग के इस दोष को, जिसमे अनेक विभाजक-धर्मो का परस्पर मिश्रण हो जाय, विभाग-संकर[1] दोष कहते है।

(३) एक विभाजक-धर्म के अनुसार पद के जितने भी विभाग हो सकते है सभी का अवश्य उल्लेख हो जाना चाहिए। यदि कोई विभाग छूट जाय तो उतने अश मे पद का व्यक्तिबोध अविचारित रह जाता है। यदि धर्म के विचार से 'मनुष्य' के दो ही विभाग करे—'हिन्दू' और 'मुसलमान', तो इसमे यही दोष होगा। क्योकि, बौद्ध, ईसाई आदि जो दूसरे धर्मावलम्बी है उनका समावेश नही हुआ। इस दोष को 'अव्याप्त विभाग'[2] कहते है।

(४) किसी ऐसे विभाग को स्वीकार करना नहीं चाहिए जिसका पद के व्यक्तिबोध में कोई स्थान नहीं है। यदि 'मनुष्य' का विभाग करते हुए कहे कि मनुष्य दो प्रकार के होते है—एक तो हाड-मास से बने मनुष्य, और दूसरे पत्थर की बनी मूर्तिया—तो यह शास्त्रीय विभाग नहीं होगा। पत्थर की मूर्तिया 'मनुष्य' पद के व्यक्तिबोध मे सम्मिलित नही है, अतः यहा उनका कोई विभाग नही बन सकता। विभाग के इस दोष को अतिव्याप्त-विभाग[3] कहते है।

(५) सभी विभागों के व्यक्तिबोध का योग विभाज्य पद के व्यक्ति-बोध के बराबर ही होगा। यह कोई नया नियम नही है, किंतु ऊपर के दो नियमो का ही सार है। 'मनुष्य' पद को महादेश के विचार से विभाग कर सकते है—एशियाई, युरोपियन, अमेरिकन, अस्ट्रेलियन और अफ्रिकन। यह सच्चा शास्त्रीय विभाग है; क्योकि इन विभागो के व्यक्तिबोध का योग विभाज्य पद 'मनुष्य' के व्यक्तिबोध के बराबर ही है। यदि कम हो तो 'अव्याप्त' दोष होता है, और अधिक हो तो 'अतिव्याप्त' दोष।

---

[1] Cross Division. [2] Too Narrow Division.
[3] Too Wide Division

(६) शास्त्रीय विभाजन में एक विभाग दूसरे से सर्वथा पृथक् होता है। 'मनुष्य' पद को एसियाई, युरोपियन आदि विभागो मे जो बाँटा है उनमे एक विभाग दूसरे से सर्वथा पृथक् है। 'एसियाई' 'युरोपियन' से सर्वथा पृथक् है, क्योंकि कोई एसियाई युरोपियन नही है, और कोई युरोपियन एसियाई नही है।

यदि किन्ही दो विभागो के कुछ भाग इसमें और कुछ उसमे चले आवे तो इस दोष को परस्पर व्याप्त[1] विभाग कहते है।

(७) सभी विभाग विभाज्य पद की आसन्न[2] उपजातियां होनी चाहिए, दूरस्थ[3] नहीं। 'मनुष्य' पद के यदि विभाग करने लगे—पजाबी, गुजराती इत्यादि, तो यह उचित नही होगा, क्योंकि पजाबी, गुजराती इत्यादि 'मनुष्य' की दूरस्थ उपजातिया है, आसन्न नही। 'मनुष्य' को पहले महादेश के विचार से, और फिर देश के विचार से विभाग कर लेना चाहिए था। तब जा कर प्रान्त के विचार से विभाग करना उचित होता।

इस दोष को संकीर्ण-विभाग[4] कहते है।

§ ४—भावाभावात्मक विभाग[5]

शास्त्रीय-विभाजन का यह प्रधान नियम है कि "भिन्न भिन्न विभाग परस्पर-व्याप्त न हो; और सभी विभागों का योग विभाज्य पद के बराबर हो"।

अब, अमुक विभाजन मे इन दो बातो की पूर्ति हुई या नहीं इसे जानने के लिए उस विषय को अच्छी तरह जानना आवश्यक होगा। किंतु, ऊपर देख चुके है कि तर्कशास्त्र प्रधानत. 'रूप-विषयक' है, 'विषय-विषयक'

---

[1] Overlapping Division. [2] Proximate Species.
[3] Remote Species. [4] Narrow Division.
[5] Division by Dichotomy.

नही। विषय के ज्ञान का अन्वेषण करना तर्कशास्त्र का काम नही है।

इस कठिनाई से बचने के लिए कुछ तर्कशास्त्रियो ने विभाजन की प्रक्रिया का एक 'रूप' बनाया है, जिसके लिए विषय के ज्ञान की वैसी आवश्यकता नही होती। इस 'रूप' मे प्रत्येक पद के दो विभाग होते है जो परस्पर 'विरुद्ध'[1] के रूप मे रखे जाते है। इस तरह, उनके परस्पर व्याप्त होने का भी भय नही रहता : और उन दोनो का योग निश्चय रूप से विभाज्य पद के बराबर ठहरता है। क्योकि, ऊपर हम देख चुके है कि दो विरुद्ध पद अपने 'अवगति-क्षेत्र'[2] को पूर्णतः व्याप्त कर लेते है। [पृ० ६१] और, यह 'अवगति-क्षेत्र' उनकी आसन्न-जाति ही तो है।

इस प्रक्रिया को अगरेजी मे 'डिकोटोमी' कहते है, जिसका अर्थ होता है 'दो टुकडे कर देना'। इसे हमने यहा 'भावाभावात्मक विभाग' कहा है। इसका एक विभाग विधि-रूप मे होता है, और दूसरा निषेध-सूचक 'अ' अक्षर जोड़ कर उसका बना 'विरुद्ध' स्वरूप। जैसे—

---
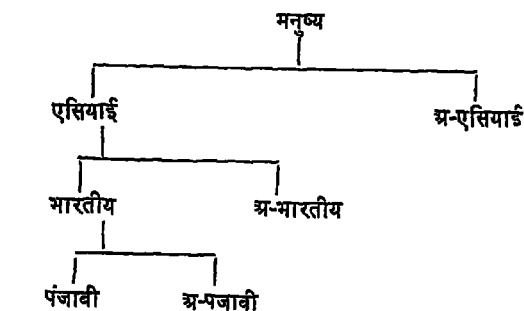
[1] Contradictory.

[2] Universe of Discourse.

जहाँ तक 'रूप' का सम्बन्ध है यह विभाजन-प्रक्रिया बड़ी अच्छी है। इसमें शास्त्रीय-विभाजन के सभी नियमों का पालन निश्चित रूप से हो जाता है, और 'विषय' के पूरे ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु, इस प्रक्रिया में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसका अभावात्मक विभाग बिल्कुल अस्पष्ट रह जाता है।

पाँचवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

पहला भाग

(वाक्य का रूप[1])

§ १—पद और वाक्य

'विचार' की इकाई

पिछले प्रकरण मे हम लोगो ने 'पद' के स्वरूप, प्रकार, परस्पर सम्बन्ध, लक्षण और विभाग पर विचार किया। 'पद' के विचार से तर्कशास्त्र का प्रारम्भ होता है यह ठीक है। किंतु क्या सचमुच हमारे विचार की प्रक्रिया 'पद' से प्रारम्भ होती है ? क्या हमारे मन में कोई पद स्वतत्र रूप से आता है ? 'मनुष्य खाता है, या बैठा है, या अच्छा है', ऐसा विना विचार किए क्या हम केवल 'मनुष्य' पद का विचार कर सकते है—जो न खाता हो, न बैठा हो, न कुछ भी हो ? तनिक ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि ऐसा विचार करना सम्भव नही है। यथार्थ मे किसी विचार का उद्‌गम 'पद' के रूप मे नही, किंतु 'वाक्य' के रूप मे होता है। छोटा बच्चा, जिसने अभी वाक्य बोलना नही सीखा है, बिल्ली को देख कर गद्‌गद हो जाता है और अपनी मा का ध्यान आकृष्ट करके बोल उठता है 'बिल्ली' ! किंतु यथार्थ मे वह कहना चाहता है कि—बिल्ली आई, या जा रही है, या बडी अच्छी है। अत', 'यह ऐसा है' इसी

[1] Forms of Proposition.

रूप को ग्रहण किए किसी भी विचार की उत्पत्ति होती है। तब हम कह सकते है कि विचार की इकाई 'पद' नहीं किंतु 'वाक्य' है।

शब्द में प्रकट करने के पहले ही जो 'पद' का भाव मन मे रहता है उसे 'प्रत्यय'[1] कहते है। और, शब्द में प्रकट करने के पहले ही जो हम मन ही मन दो प्रत्ययों के बीच किसी सम्बन्ध की स्थापना कर लेते है उसे 'अध्यवसाय'[2] कहते है। अध्यवसाय जब शब्दो मे व्यक्त होता है तब उसे 'वाक्य' कहते है। प्रत्यय और अध्यवसाय मन के भीतर की प्रक्रिया है, इसलिए इनका सम्बन्ध मानसशास्त्र मे है न कि तर्कशास्त्र से। प्रत्यय या अध्यवसाय मे तर्कशास्त्र का सम्बन्ध तभी होता है जब वे भाषा मे व्यक्त हो कर 'पद' या 'वाक्य' का रूप ग्रहण कर लेते है। इसीलिए, यहां 'पद' और 'वाक्य' शब्दो का प्रयोग किया गया, प्रत्यय और अध्यवसाय का नहीं। जो हो, तर्कशास्त्र को तो यह समझा देना है कि मानसिक विश्लेषण से भले ही हम 'पद' के विषय मे स्वतन्त्र रूप से विचार कर ले, किन्तु अपने मे एक समस्त इकाई तो वाक्य ही है। किसी पद के शास्त्रीय महत्व की परीक्षा तभी हो सकती है जब इस पर वाक्य की व्यवस्था की दृष्टि से विचार करे।

§ २—विधेय-पद के प्रकार

हम अभी देख चुके है कि 'यह ऐसा है' इसी रूप को ग्रहण किए किसी भी विचार की उत्पत्ति होती है। वाक्य की व्यवस्था यही है। अब प्रश्न होता है कि 'यह ऐसा है' वाक्य के इस रूप को कितने प्रकार से समझ सकते है? इसका उत्तर साफ है कि इसको उतने ही प्रकार से समझ सकते है जितने प्रकार के ससार मे पदार्थ है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के आदि प्रणेता दार्शनिक अरस्तू ने ऐसे दस प्रकार के पदार्थों[3] की स्थापना

---

[1] Concept [2] Judgment [3] Categories.

की है—(१) द्रव्य, (२) परिमाण, (३) गुण, (४) सम्बन्ध, (५) दिशा, (६) काल, (७) परिस्थिति, (८) अवस्था, (९) क्रिया और (१०) कर्म ।[1]

यह मनुष्य है, पत्थर है, कलम है, हवा है—सभी को 'द्रव्य' के अन्तर्गत कर सकते है । यह छोटा है, बडा है, इत्यादि सभी 'परिमाण' है । यह अच्छा है, मीठा है, सुन्दर है, इत्यादि सभी 'गुण' है । यह गुरुतर है, सुन्दरतम है इत्यादि सभी 'सम्बन्ध' है । यह दूर है, निकट है, भीतर है इत्यादि सभी 'दिशा' है । यह सवेरा है, शीघ्र है, देर है इत्यादि सभी 'काल' है । यह बीमार है, यह प्रसन्न है इत्यादि सभी 'परिस्थिति' है । यह उल्टा है, सीधा है, इत्यादि सभी 'अवस्था' है । यह जाता है, आता है इत्यादि सभी 'क्रिया' है । यह देख लिया गया, यह हरा दिया गया इत्यादि सभी 'कर्म' है ।

ससार की सारी चीजो को इन्ही दस प्रकार से समझ सकते है; क्योंकि जितनी भी चीजे है इन दस पदार्थो में से किसी न किसी एक के भीतर अवश्य चली आयेंगी । इसलिए, 'यह ऐसा है' वाक्य के इस स्वरूप को इन्ही दस प्रकारो से समझ सकते है । अर्थात्, किसी वाक्य का विधेय-पद इन्ही दस प्रकारो से समझा जा सकता है ।

§ ३—उद्देश-पद के सम्बन्ध में विधेय-पद[2]

अभी हमने जो देखा कि विधेय-पद दस प्रकार के पदार्थ हो सकते है, उसका आधार ससार की चीजो का वर्गीकरण था । अब, एक दूसरी दृष्टि से विधेय-पद के प्रकारो का निश्चय करना आवश्यक है । वह है—उसके उद्देश-पद के सम्बन्ध की दृष्टि मे ।

---

[1] (१) Substance, (२) Quantity, (३) Quality, (४) Relation, (५) Place, (६) Time, (७) Situation, (८) State, (९) Action, (१०) Passivity. [2] Predicables.

उद्देश-पद के सम्बन्ध की दृष्टि से विधेय-पद पाँच प्रकार के हो सकते हैं—(१) जाति, (२) उपजाति, (३) व्यवच्छेदक धर्म, (४) स्वभाव-सिद्ध-धर्म और (५) आकस्मिक धर्म।'

उदाहरणार्थ, सभी 'भारतीय' 'मनुष्य' है—इस वाक्य मे विधेय उद्देश के सम्बन्ध मे जाति है। कुछ 'मनुष्य' 'भारतीय' है—इस वाक्य में विधेय उद्देश के सम्बन्ध मे उपजाति है। सभी 'मनुष्य' 'विवेकशील' है—इस वाक्य मे विधेय उद्देश के सम्बन्ध मे व्यवच्छेदक धर्म है। सभी 'मनुष्य' 'सास लेते' है—इस वाक्य में विधेय उद्देश के सम्बन्ध मे स्वभाव-सिद्ध धर्म है। सभी 'मनुष्य' 'कपड़ा पहनते' है—इस वाक्य मे विधेय उद्देश के सम्बन्ध मे आकस्मिक धर्म है।

§ ४—वाक्य क्या है ?

ऊपर देख चुके है कि—'यह' 'ऐसा' है : अथवा, 'क' 'ख' है—यही वाक्य का स्वरूप है। वाक्य मे दो पदो के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है, इत्यादि निषेधात्मक वाक्यो में भी उद्देश और विधेय के बीच कोई सम्बन्ध ही स्थापित किया जाता है। किसी सम्बन्ध का न होना भी तो एक सम्बन्ध ही है। शत्रु का शत्रु से जो कोई सम्बन्ध नही है वह भी तो एक सम्बन्ध ही है। सम्बन्ध सम्बन्ध का हो या विरोध का, दोनो सम्बन्ध ही है। अत, विधानात्मक या निषेधात्मक, दोनो वाक्य उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध स्थापित करते है।

यह सम्बन्ध स्थापित करना केवल एक मानसिक प्रक्रिया नही है। किंतु, साथ ही साथ, वह वाक्य सत्य होने का दावा करता है। यह कि, बाह्य संसार मे वस्तु-स्थिति से उसका सवाद है। यदि वाक्य में यह सत्य-

---

' (१) Genus, (२) Species, (३) Differentia, (४) Property, (५) Accident.

प्रतिपादनता नही रहे तो उससे तर्कशास्त्र को कोई प्रयोजन नही, क्योकि तर्कशास्त्र का लक्ष्य तो सत्य ही है।

अनुज्ञात्मक, इच्छार्थ, विस्मयादि बोधक, तथा प्रश्नात्मक वाक्य—जैसे, आम लावो, तुम्हारा कल्याण हो, अरे वह मर गया, तुम क्या करते हो—केवल हमारे मन के भाव हैं। इन वाक्यो मे सत्यासत्य विवेक की बात ही नहीं उठती। इस कारण, तर्कशास्त्र को ऐसे वाक्यो से कोई मतलब नही।

कभी कभी प्रश्न पूछ कर, या विस्मय प्रगट करके ही हम किसी बात का होना या न होना व्यक्त करते हैं। जैसे, क्या मै तुम्हारी किताब चुराने वाला हू ? इसका अर्थ यह होता है कि—'मै' 'तुम्हारी किताब चुराने वाला' नही हू। यदि ऐसी व्यञ्जना निकले तो अलवत्ता वह वाक्य तर्कशास्त्र के काम का हो सकता है · अपने पहले रूप मे नही, किंतु अपने व्यक्त रूप में।

तव, कह सकते हैं कि तर्कशास्त्र की दृष्टि से वाक्य वह है जो दो पदो के बीच किसी सम्बन्ध का वोध करावे, और जिसमें सत्य-प्रतिपादनता का भाव हो।

§ ५—वाक्य के अंग

वाक्य के अग तीन हैं—उद्देश, विधेय और सयोजक। उद्देश[1] वह पद है जिसके विषय मे कुछ कहा जाय। विधेय[2] वह पद है जो कुछ उद्देश के विषय मे कहे। और, संयोजक[3] 'होना' क्रिया का वह रूप है जो उद्देश और विधेय के बीच सम्वन्ध की सूचना दे।

उदाहरणार्थ, सभी 'मनुष्य' 'मरणधर्मा' हैं। यहा, 'मनुष्य' पद उद्देश है, क्योकि इसी के विषय मे कुछ कहा गया है। 'मरणधर्मा' पद विधेय है, क्योकि उद्देश के विषय मे यही वात कही गई है। और 'है' यह

---

[1] Subject. [2] Predicate. [3] Copula.

क्रिया का रूप संयोजक है, क्योंकि यही उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध की सूचना देता है।

उद्देश और विधेय पदों के विषय में काफी चर्चा हो चुकी है। यहाँ 'संयोजक' के स्वरूप के विषय में कुछ आवश्यक विचार कर लें।

संयोजक का स्वरूप

संयोजक 'है' शब्द किसकी विद्यमानता को सूचित करता है? कुछ लोगों का कहना है कि यह उद्देश की विद्यमानता को सूचित करता है। किंतु, यह ठीक नहीं। 'वह' 'मर गया' है—इस वाक्य में भला संयोजक उसकी विद्यमानता कैसे बतावेगा जो है ही नहीं? यथार्थ यह है कि संयोजक न तो उद्देश की और न विधेय की विद्यमानता बताता है, किन्तु वह यदि किसी की विद्यमानता को बताता है तो उस पूरी बात की विद्यमानता को जिस बात को वह वाक्य व्यक्त करता है और जिसकी सत्यता का प्रतिपादन करता है।

संयोजक में काल

जो बात सत्य है वह काल के बन्धन से नहीं बाँधी जा सकती। अकबर भारतवर्ष का राजा हुआ—यह बात भूत काल में सत्य थी, आज भी यह बात सत्य है, और भविष्य में सदा यह बात सत्य रहेगी। भारत-वर्ष में स्वराज्य होगा—यह बात भविष्य में सत्य होगी, यह आज भी सत्य है, और पहले भी सत्य थी। त्रिकालाबाधित सारा विश्व एक व्यवस्था है: इसमें जो बात सत्य है वह सर्वदा सत्य है।

इसलिए, तर्कशास्त्र में वाक्य का संयोजक 'है' क्रिया का रूप सर्वदा वर्तमानकाल में रहता है। भूत तथा भविष्यत् की घटनाओं को भी, उनके काल की रक्षा करते हुए, तर्कशास्त्र के वाक्य में 'है' संयोजक के द्वारा सूचित करते हैं। वह घर जा रहा था, या वह घर जायगा, इन वाक्यों को

तर्कशास्त्र की भाषा में कहेंगे—'वह' 'जो घर जा रहा था, सो' है : 'वह' 'जो घर जायगा सो' है।

सयोजक और निषेध

निषेधात्मक वाक्य में निषेधसूचक शब्द—न, नही—'सयोजक' का अङ्ग समझा जाय या विधेय का, इस बात पर भी बडा मतभेद है। हॉब्स प्रभृति कुछ दार्शनिको का मत है कि निषेध-शब्द को विधेय के साथ मिला देना चाहिए, और सभी वाक्य को विधानात्मक रूप दे देना चाहिए। उनके विचार से सयोजक-क्रिया का रूप सर्वदा विधि में होना चाहिए। अत, उनके अनुसार, कुछ 'पशु' 'घोडे' नही है, इस वाक्य का रूप बदल कर इस प्रकार कर देना उचित है—कुछ 'पशु' 'अ-घोडे' है।

किंतु, विचार करने से ज्ञात होता है कि निषेध-शब्द को इस प्रकार विधेय-पद के साथ जबरदस्ती लगा देने से बडी अस्वाभाविकता आ जाती है, और कुछ हद तक वाक्य का भाव भी बदल जाता है। कुछ 'पशु' 'घोडे' नही है—इस वाक्य का अर्थ है कि कुछ पशुओ से समस्त घोडो की भिन्नता है। किंतु, कुछ 'पशु' 'अ-घोडे' है—इस वाक्य का अर्थ है कि कुछ पशुओ के साथ कुछ अ-घोड़ो की समानता है।

इससे सिद्ध होता है कि निषेध-शब्द 'सयोजक' के साथ ही सम्बद्ध होना चाहिए, विधेय के साथ नही। सयोजक विधानात्मक भी होगा, और निषेधात्मक भी।

§ ६—लौकिक वाक्य और तार्किक वाक्य

भाषा में एक ही वाक्य अनेक प्रकार से प्रकट किया जा सकता है, जिनके बाह्य रूप अत्यन्त भिन्न होने पर भी उनका अर्थ एक ही हो सकता है। उदाहरण के लिए, इन तीन वाक्यो को ले—

१. केवल टिकट वाले ही भीतर आ सकते है।

२ कोई बेटिकट वाले भीतर नही आ सकते है।

३. वे ही भीतर आ सकते है जो टिकट वाले है।

इन तीन वाक्यो के रूप एक दूसरे मे भिन्न है, तो भी उनके अर्थ मे कोई भेद नही है। रूप की इन भिन्नताओ के कारण विचार के सिलसिले मे भ्रान्ति होने का बडा डर रहता है। इस डर से बचने के लिए तर्क-शास्त्रियो ने वाक्य के केवल चार रूप निश्चित कर लिए है, जिनमे किसी एक न एक मे किसी वाक्य को ला कर ही उस पर शास्त्रीय विचार किया जाना चाहिए। वाक्य के चार निश्चित रूप है[1]—

१. सभी 'क' 'ख' है,—सामान्य विधि

२. कोई 'क' 'ख' नही है,—सामान्य निषेध

३. कुछ 'क' 'ख' है,—विशेष विधि

४. कुछ 'क' 'ख' नही है,—विशेष निषेध[2]

व्यवहार के वाक्यो को इन रूपो मे लाने के लिए यही ध्यान मे रखना होगा कि अर्थ मे किसी प्रकार की क्षति न हो, और वाक्य के उद्देश, विधेय तथा संयोजक पृथक् पृथक् साफ मालूम हो जाय। इसके लिए कुछ नियम यहा दिए जाते है—

(१) सभी, प्रत्येक, हर एक, सब, सब कोई, इन जैसे शब्दो से प्रारम्भ होने वाले विधानात्मक वाक्य 'सामान्य' समझे जायेगे, और वे पहले वाक्य के रूप मे रहेगे—सभी 'क' 'ख' है। किन्तु यदि उनमे निषेधात्मक शब्द 'नही' उपस्थित हो, तब वे 'विशेष' समझे जायेगे, और उनका रूप चौथे वाक्य के अनुसार होगा—कुछ 'क' 'ख' नही है। जैसे—

प्रत्येक मनुष्य अज्ञ है }
सब मनुष्य अज्ञ है } = सभी 'मनुष्य' 'अज्ञ' है।

[1] विशेष देखिए, पृ० १०१

[2] (१) Universal Affirmative. (२) Universal Negative. (३) Particular Affirmative. (४) Particular Negative.

किंतु,

प्रत्येक मनुष्य अज्ञ नही है
सब मनुष्य अज्ञ नही है } = कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञ' नही है।

जिन वाक्यो के उद्देशपद व्यक्तिवाचक सज्ञा हो, उनके आगे 'सभी' शब्द नहीं लगाया जाता। तो भी उन्हे 'सामान्य' ही समझना चाहिए, क्योंकि उनके उद्देश अपने मे पूर्णार्थक है। जैसे—'मोहन' 'अच्छा लड़का' है।

(२) हमेशा, बिलकुल, स्वभावतः, निश्चयपूर्वक इन जैसे शब्दों वाले वाक्यो मे भी ऊपर के ही नियम लागू होगे। जैसे—

बिलकुल मनुष्य अज्ञ है
मनुष्य हमेशा अज्ञ है
मनुष्य स्वभावत. अज्ञ है } = सभी 'मनुष्य' 'अज्ञ' है

किंतु

बिलकुल मनुष्य अज्ञ नही है
मनुष्य हमेशा अज्ञ नही है
मनुष्य स्वभावत अज्ञ नही है } = कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञ' नही है।

(३) कोई भी, इससे प्रारम्भ होने वाले विधानात्मक या निषेधात्मक दोनो वाक्य सामान्य होगे। विधानात्मक वाक्य पहले रूप के अनुसार होगे। और, निषेधात्मक वाक्य का दूसरा रूप रहेगा। जैसे—

कोई भी लडका जानता है = सभी 'लडके' 'जानते' है,
कोई भी लड़का नही जानता है = कोई 'लडके' 'जानते' नही है।

(४) कभी नहीं, बिलकुल नहीं जैसे शब्दो वाले वाक्य 'सामान्य निषेध' होगे, और उनका रूप दूसरे वाक्य के अनुसार होगा। जैसे—

लड़के कभी नहीं जानते
बिलकुल लड़के नही जानते } = कोई 'लडके' 'जानते' नही है।

(५) कुछ, कोई कोई, बहुतेरे, अनेक, प्रायः, अधिक, इन जैसे शब्दों

वाले वाक्य 'विशेष' होते है। विधानात्मक होने से उनके रूप तीसरे वाक्य के अनुसार, और निषेधात्मक होने से उनके रूप चौथे वाक्य के अनुसार होगे। जैसे—

कोई कोई लड़का आया (नही) है बहुतेरे लड़के आये (नही) है अनेक लड़के आये (नही) है प्राय लड़के आये (नही) है अधिक लड़के आये (नही) है	=कुछ 'लड़के' 'आये' (नही) है।

(६) विरले, शायद ही कोई, कोई मुश्किल से, इन शब्दो वाले वाक्य 'विशेष निषेध' होते है, क्योंकि इन शब्दो में निषेधकशक्ति है। इन शब्दो के साथ यदि निषेध-शब्द 'नही' का भी प्रयोग हुआ हो तो वह वाक्य विधानात्मक समझा जायगा क्योंकि दो बार निषेध करने का अर्थ होता है विधान करना। जैसे—

विरले मनुष्य ज्ञानी है शायद ही कोई मनुष्य ज्ञानी है कोई मनुष्य मुश्किल से ज्ञानी है	=कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही है।

किन्तु— विरले मनुष्य ज्ञानी नही है शायद ही कोई मनुष्य ज्ञानी नही है कोई मनुष्य मुश्किल से ज्ञानी नही है	=कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' है।

(७) केवल, सिर्फ, ही, इन शब्दो वाले वाक्य को 'अनन्य साधारण वाक्य' कहते है। ऐसे वाक्य 'सामान्य' होते है। उन्हे विधानात्मक या निषेधात्मक दोनो रूप दिये जा सकते है। विधानात्मक वाक्य का रूप देने के लिए मूल वाक्य के उद्देश और विधेय के स्थानो मे परिवर्तन कर देते है। और, निषेधात्मक रूप देने के लिए मूल वाक्य के उद्देश

मे निषेध-सूचक 'अ' शब्द लगा कर उसका विरुद्ध रूप दे देते है, और वाक्य का रूप दूसरे वाक्य के अनुसार बनाते है। जैसे—

केवल पण्डित लोग इसे समझते है,	विधि—सभी 'जो इसे समझते है' 'पण्डित' है,
अथवा	=
पण्डित लोग ही इसे समझते है	निषेध—कोई 'अपण्डित' 'इसे समझने वाले' नही है।

(८) अपवादात्मक वाक्य—अपवाद का विषय यदि निश्चित हो तो उस वाक्य को 'सामान्य' समझना चाहिए। और, यदि अपवाद का विषय अनिश्चित हो तो उस वाक्य को 'विशेष' समझना चाहिए। जैसे—

मोहन को छोड सभी लडके अच्छे है=

सभी 'लडके, मोहन को छोड' 'अच्छे' है।

एक को छोड सभी लड़के अच्छे है=

कुछ 'लडके' 'अच्छे' है।

मोहन को छोड़ कोई लडके अच्छे नही है=

कोई 'लडके, मोहन को छोड' 'अच्छे' नही है।

एक को छोड कोई लडके अच्छे नही है=

कुछ 'लड़के' 'अच्छे' नही है।

(९) यदि निषेध-सूचक शब्द विधेय-पद के साथ युक्त हो, संयोजक के साथ नही, तो वह वाक्य विधानात्मक रूप ग्रहण करेगा। जैसे—

कोई मनुष्य नही ज्ञानी है=सभी 'मनुष्य' नही-'ज्ञानी (=अज्ञानी)' है।

(१०) अकर्तृक वाक्य—बडी गर्मी है, यह दिन है, चार बजा है, इत्यादि अकर्तृक वाक्य है, जिनके कर्ता का स्पष्ट उल्लेख नही है। इन वाक्यो पर तर्कशास्त्र की दृष्टि से विचार करने के पूर्व इनके स्पष्ट उद्देश और विधेय पदो को दिखा कर उस वाक्य को किसी निश्चित रूप मे

बदल लेना चाहिए। जैसे—'मौसिम' 'बड़ा गर्म' है, 'यह समय' 'दिन' है, 'यह समय' 'चार बजने का' है, इत्यादि।

§ ७—वाक्य के अभिप्राय की परिधि

सामान्य विधि, सामान्य निषेध, विशेष विधि, और विशेष निषेध—इन चार प्रकार के वाक्य-रूप निश्चित कर लेने से शास्त्रीय विचार करने मे आने वाली अनेक कठिनाइया दूर हो जाती हैं। किंतु, इन वाक्यों के अभिप्राय ठीक ठीक समझने के लिए उनके बाह्य रूप पर ही निर्भर करने से काम नही चलेगा। सभी लोग जान गए है, सभी लोग धन कमाना चाहते है, सभी लोग मरणधर्मा हैं—इनके रूप समान होने पर भी तीनो वाक्यों मे उद्देश-पद 'सभी लोग' भिन्न भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुए है। पहले वाक्य में 'सभी लोग' से अभिप्राय उन्हीं लोगो का है जिनसे वह बात गुप्त रखने का प्रयत्न किया जा रहा था—ऐसे लोग तीन, चार, दस, हजार, कुछ भी हो सकते हैं। दूसरे वाक्य में 'सभी लोग' का अर्थ है सभी साधारण लोग, क्योंकि ऐसे भी अनेक महात्मा हो सकते है जिनका उद्देश्य धन कमाना नहीं किंतु कुछ दूसरा ही हो। तीसरे वाक्य में 'सभी लोग' का अर्थ है वह सारा व्यक्तिबोध जो इस पद से जाना जाता है। यह देख कर स्वीकार करना होगा कि वाक्य का चाहे कोई भी रूप क्यों न हो उसे ठीक ठीक समझने के लिए वक्ता के अभिप्राय के निकट आना ही होगा। बहुधा ऐसा होता है कि हमलोगो के व्यवहार की भाषा में वाक्य के बाह्य स्वरूप जितनी व्यापकता का बोध करते है उससे अत्यन्त कम व्यापक हमारा अभिप्राय होता है। यदि तर्कशास्त्र वाग्जाल से बचा कर सत्य की प्राप्ति कराता है तो उसे इस भेद की उपेक्षा नहीं करनी होगी। विश्व के जिस क्षेत्र मे वक्ता का अभिप्राय सीमित रहता है उसे 'वाक्य के अभिप्राय की परिधि' कहते हैं। वाक्य मे इस परिधि का कोई उल्लेख नहीं होता है; यह तो वक्ता के अभिप्राय को समझ कर ही निश्चित किया जा सकता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि वक्ता के अभिप्राय की उपेक्षा करके विचार करने में इस बात का बडा खतरा है कि कही एक ही पद के भिन्न भिन्न प्रयोग गलत न समझ लिए जाय। उदाहरण के लिए, यह तर्क कितना भ्रमपूर्ण होगा—

सभी घर निर्जीव पदार्थ है,
मनुष्य रोगो का घर है,
मनुष्य निर्जीव पदार्थ है।

§ ८—विधान के सिद्धान्त[1]

वाक्य के अर्थ के स्वरूप के विषय मे भिन्न दार्शनिकों के जो मत है उन्हे 'विधान के सिद्धान्त' कहते है। प्रत्येक वाक्य उद्देश और विधेय पदो के सम्बन्ध या विरोध का विधान करता है। प्रत्येक वाक्य यही बताता है कि 'यह ऐसा है' या 'यह ऐसा नही है'। वाक्य के अर्थ के स्वरूप के विषय का कोई मत उसके उद्देश, विधेय तथा उनके सम्बन्ध की परीक्षा पर निर्भर होगा। कुछ विद्वान उद्देश और विधेय के अभिप्राय का निर्णय एक प्रकार से करते है, और कुछ दूसरे दूसरे प्रकार से। उनके सम्बन्ध के विषय मे भी वैसा ही मतभेद है। उनकी परीक्षा सक्षेप मे कर लेना आवश्यक है।

वाक्य के पद या तो व्यक्तिबोध कराते है, या स्वभावबोध। और, उनका सम्बन्ध या तो आनन्तर्य का[2], या साहचर्य का[3], या समानता-असमानता[4] का होता है।

तर्कशास्त्र की दृष्टि से चार भिन्न भिन्न मत ये है—

---

[1] Theories of Predication.

[2] Succession. [3] Co-existence.

[4] Equality and Unequality.

(१) विधान-वाद[1]—इस मत के अनुसार वाक्य का उद्देश अपने व्यक्तिबोध का, और विधेय अपने स्वभाव-बोध का प्रतिपादन करता है। अतः, इसके अनुसार—सभी मनुष्य मरणशील हैं—इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि 'मनुष्य' नाम से समझे जाने वाले जितने भी लोग हैं सभी में 'मरणशीलत्व' नाम का धर्म विद्यमान है। उसी तरह, कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि जितने 'मनुष्य' लोग हैं उनमें किसी में भी 'पूर्णत्व' नामक धर्म नहीं है। इस मत के प्रधान पोषक डा० मार्टिनिउ तथा डा० बेन हैं। इनका कहना है कि वाक्य वस्तु और धर्म के सम्बन्ध को सूचित करता है। साधारणतः लोगों का विचार इसी मत के अनुकूल होता है।

(२) व्यक्तिबोध-वाद[2]—इस मत के अनुसार वाक्य के उद्देश और विधेय दोनों अपने अपने व्यक्तिबोध के सूचक हैं। और, इनका सम्बन्ध इसमें है कि कौन किसके अन्तर्गत होता है, या कौन किसके बाहर पड़ता है। वाक्य यदि विधानात्मक हो, तो एक पद दूसरे के अन्तर्गत होगा; और यदि निषेधात्मक हो तो एक पद दूसरे के बाहर पड़ेगा।

इस मत के अनुसार, सभी मनुष्य मरण-शील हैं, इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि मरणशील जितने भी प्राणी हैं उनमें अन्तर्गत मनुष्य लोग भी हैं। और, कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है, इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि जितने भी मनुष्य लोग हैं सभी पूर्ण कहे जा सकने वाले लोगों से बाहर पड़ते हैं।

आगे चल कर देखेंगे कि अनुमान की प्रक्रिया में सभी जगह वाक्य के अर्थ इसी मत के अनुसार लिए गए हैं।

(३) स्वभावबोध-वाद या धर्म-वाद[3]—इस मत के अनुसार वाक्य के दोनों पद अपने अपने स्वभावबोध के सूचक हैं। तब, सभी मनुष्य

---

[1] Predicative view. [2] Denotative view.

[3] Connotative or Attributive view.

मरणशील है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्यत्व धर्म के साथ मरण-शीलत्व धर्म लगा हुआ है। अर्थात् मनुष्यत्व के साथ मरणशीलत्व का साहचर्य-सम्बन्ध है। कोई मनुष्य पूर्ण नही है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्यत्व धर्म का पूर्णत्व धर्म से बिल्कुल विरोध है। कुछ मनुष्य दयालु है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्य के जो धर्म है उनमे दयालुता भी एक धर्म है। कुछ मनुष्य दयालु नही है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्य के जो धर्म है उनमे कुछ का दयालुता धर्म से बिल्कुल विरोध है। इस सिद्धान्त के पोषक है प्रसिद्ध दार्शनिक मिल्।

(४) समन्वय-वाद[1]—यह मत पूर्व के दो मतो का सम्मिलित रूप है। इसके अनुसार वाक्य के दोनो पद व्यक्तिवोध और स्वभाववोध किसी भी अर्थ मे लिए जा सकते है। इस मत का पोपक दार्शनिक हैमिल्टन लिखता है, "अध्यवसाय या वाक्य का लक्षण इस प्रकार कर सकते है कि यह उस व्यवसाय का फल है जिसमें हम दो प्रत्ययो को सूचित करते है, जिसमे एक उद्देश और दूसरा विधेय समझ लिया जाता है, जिसमे एक दूसरे के अन्तर्गत हो कर रहता है अथवा नही रहता है, या तो विस्तार की दृष्टि से या धर्म की दृष्टि से।"

[Logic, I, p. 229.]

८

---

[1] Denotative—Connotative view.

छठा अध्याय

वाक्य-प्रकरण

दूसरा भाग

(वाक्य के प्रकार[1])

जैसे हमने पद-प्रकरण में पदों को भिन्न भिन्न प्रकार से विभागो मे बांट कर उनकी परीक्षा की थी, वैसे ही यहा वाक्यो की भी करनी है। वाक्य निम्न छ प्रकार से विभागों में बांटे जाते है, जिनकी परीक्षा अलग अलग की जायगी—

- वाक्य
  - १ रचना की दृष्टि से
    - (क) शुद्ध—'क' 'ख' है,
    - (ख) मिश्र 'क' और 'ख' 'ग' है।
  - २ सम्बन्ध की दृष्टि से
    - (क) निरपेक्ष 'क' 'ख' है।
    - (ख) सापेक्ष
      - (i) हेतुफलाश्रित—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है।
      - (ii) वैकल्पिक—'क' या तो 'ख' है या 'ग'।

---

[1] Kinds of Propositions.

वाक्य
- ३. गुण[1] की दृष्टि से
  - (क) विधि—'क' 'ख' है।
  - (ख) निषेध—'क' 'ख' नहीं है।
- ४ अंश[1] की दृष्टि से
  - (क) सामान्य—सभी 'क' 'ख' है।
  - (ख) विशेष—कुछ 'क' 'ख' है।
- ५ आस्था की दृष्टि से
  - (क) निश्चित—'क' अवश्य 'ख' है।
  - (ख) प्रतिज्ञात—'क' 'ख' है।
  - (ग) संदिग्ध—'क' 'ख' हो सकता है।
- ६ तात्पर्य की दृष्टि से
  - (क) शाब्दिक—'त्रिभुज' 'तीन भुजाओं वाला क्षेत्र' है।
  - (ख) यथार्थ—'त्रिभुज के तीनो कोण मिलकर' 'दो समकोण होते' है।

§ १—रचना की दृष्टि से[2]

वाक्य दो प्रकार के होते है—शुद्ध और मिश्र।

'शुद्ध वाक्य'[3] वह है जिसमे केवल एक ही उद्देश और एक ही विधेय हो। जैसे—सभी मनुष्य मरणशील है, कुछ मनुष्य ज्ञानी है, कोई मनुष्य पूर्ण नही है; कुछ मनुष्य ज्ञानी नही है।

'मिश्र वाक्य'[4] वह है जिसमे उद्देश, या विधेय, या दोनो अनेक हो। अर्थात्, जिस एक वाक्य मे अनेक वाक्य संश्लिष्ट हो। जैसे—राम और मोहन उपस्थित है, मोहन खिलाडी और गवैया है; मोहन खिलाडी है, और सोहन गवैया है।

---

[1] Quality=गुण। Quantity=अंश। वाक्य के विधि-निषेध अर्थ में 'गुण' का, तथा सामान्य-विशेष अर्थ में 'अंश' का प्रयोग रूढ़ समझना चाहिए।

[2] According to Composition.

[3] Simple.

[4] Compound.

'मिश्र-वाक्य' के भी दो भेद हैं—'सन्निकृष्ट'[1] और 'विप्रकृष्ट'[2]। 'सन्निकृष्ट मिश्र-वाक्य' वह है जिसमें अनेक विधानात्मक वाक्य मिले हों, जैसे—राम और मोहन अनुपस्थित हैं। 'विप्रकृष्ट मिश्र वाक्य' वह है जिसमे अनेक निषेधात्मक वाक्यों का सन्निवेश हो; जैसे—राम न तो मेरा भाई है न भतीजा।

§ २—सम्बन्ध की दृष्टि से[3]

उद्देश और विधेय के सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं—निरपेक्ष और सापेक्ष।

(१) 'निरपेक्ष वाक्य'[4] वह है जिसमें बिना किसी शर्त के उद्देश और विधेय में कोई सम्बन्ध स्थापित किया गया हो। जैसे, सभी मनुष्य मरणशील हैं, कोई बाघ अहिंसक नहीं है। यहा, मनुष्य के मरणशील होने, या बाघ के अहिंसक न होने के लिए किसी शर्त को पूरी करने की बात नहीं है। बिना किसी शर्त के मनुष्य मरणशील हैं, और बाघ अहिंसक नहीं है।

(२) सापेक्ष वाक्य[5] वह है जिसमे उद्देश और विधेय के बीच का सम्बन्ध किसी शर्त पूरी होने पर निर्भर करता हो। 'सापेक्ष वाक्य' दो प्रकार के होते हैं—हेतुफलाश्रित और वैकल्पिक।

क. 'हेतुफलाश्रित वाक्य'[6] वह है जिसमे किसी शर्त के पूरी होने पर किसी बात का होना बताया जाय। जैसे, यदि बत्ती जलती है, तो उजेला होता है। यहा बत्ती जलने की शर्त पूरी होने पर उजेला का होना बताया गया है। बत्ती जलने की शर्त 'हेतु'[7] है, और उजेला का होना 'फल'[8] है। इसीलिए, ऐसे वाक्य को 'हेतुफलाश्रित वाक्य' कहते हैं।

---

[1] Copulative. [2] Remotive. [3] According to Relation. [4] Categorical=unconditional. [5] Conditional. [6] Hypothetical. [7] Antecedent. [8] Consequent.

हेतुफलाश्रित वाक्य का उचित रूप तो यही है जिसमे हेतु[1] पहले कहा गया हो और फल[2] बाद मे। किंतु, व्यवहार की भाषा मे हेतु के पहले फल भी कह दिया करते है, जैसे—उजेला हो यदि बत्ती जले।

किंतु हेतुफलाश्रित वाक्य का शास्त्रीय रूप सदा यही रहता है—यदि है, तब....है। इसे इस रूप में भी प्रकट किया जा सकता है—क्योंकि बत्ती जलती है, इसलिए उजेला होता है।

हेतुफलाश्रित वाक्य मे 'हेतु' और 'फल' के वही स्थान है जो निरपेक्ष वाक्य में उद्देश और विधेय के। अत हेतुफलाश्रित वाक्य निरपेक्ष वाक्य मे, तथा निरपेक्ष वाक्य हेतुफलाश्रित वाक्य मे परिवर्तन किया जा सकता है। जैसे—

मनुष्य मरणशील है=यदि मनुष्य है, तो मरणशील है। यदि बत्ती जले तो उजेला हो='बत्ती जलने की अवस्था' 'उजेला होने की अवस्था' है।

ख. वैकल्पिक वाक्य[3] का रूप है—'क' या तो 'ख' है या 'ग'। मोहन या तो पागल है, या महात्मा; मनुष्य या तो अमर है या मरने वाला। 'वैकल्पिक वाक्य' मे उद्देश पद का सम्बन्ध किससे है यह निश्चयपूर्वक मालूम नही होते हुए भी इतना ठीक ठीक पता है कि इन्ही अनेक मे से एक के साथ है। अर्थात्, विधेय-पद मे अनेक का विकल्प लगा है। 'वैकल्पिक वाक्य' को चार हेतुफलाश्रित वाक्यो में तोड सकते है। जैसे, मनुष्य या तो अमर है या मरने वाला, यह बराबर है—

(१) यदि मनुष्य अमर नही है, तो वह मरने वाला है,
(२) यदि मनुष्य मरने वाला नही है, तो वह अमर है,
(३) यदि मनुष्य अमर है, तो वह मरने वाला नही है,
(४) यदि मनुष्य मरने वाला है, तो वह अमर नही है।

---

[1] Antecedent. [2] Consequent.
[3] Disjunctive Proposition.

युवर्वेग तथा कुछ अन्य दार्शनिकों का मत है कि वैकल्पिक वाक्य के विकल्प सदा परस्पर विरुद्ध होते हैं, जिससे एक के सत्य होने से दूसरा मिथ्या होता है, और उसके विपरीत एक के मिथ्या होने से दूसरा सत्य भी।

किंतु मिल प्रभृति कुछ अन्य दार्शनिकों का मत है कि वैकल्पिक वाक्य के विकल्प परस्पर विरुद्ध होंगे ही ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अनेक विकल्प भी एक साथ सत्य हो सकते हैं। इस मत के अनुसार एक विकल्प के मिथ्या होने से दूसरे का सत्य होना सिद्ध तो होता है, किंतु इसके विपरीत एक के सत्य होने से दूसरे का मिथ्या होना सिद्ध नहीं होता। जैसे— मोहन या तो धूर्त है या मूर्ख, इस वैकल्पिक वाक्य से इतना तो निकाल सकते हैं कि—

१. यदि मोहन धूर्त नहीं है, तो वह मूर्ख है, और
२. यदि मोहन मूर्ख नहीं है, तो वह धूर्त है।

किंतु, उससे यह नहीं निकाल सकते कि—

१. यदि मोहन धूर्त है, तो वह मूर्ख नहीं है, या
२. यदि मोहन मूर्ख है, तो वह धूर्त नहीं है, क्योंकि मोहन धूर्त और मूर्ख दोनों साथ साथ हो सकता है।

इस मतभेद को देख कर उचित यही प्रतीत होता है कि वैकल्पिक वाक्य के विकल्पों की बिना परीक्षा किए यह नहीं कहा जा सकता है कि वे परस्पर विरुद्ध हैं या नहीं। यदि विकल्प पद 'अमर' और 'मरने वाला' की तरह परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हों, तब तो युवर्वेग का मत ठीक है। और वे यदि 'मूर्ख' और 'धूर्त' की तरह एक साथ सत्य हो सके, तो 'मिल' का मत ठीक है।

विधेय में विकल्प लगाने का कारण कभी कभी वक्ता का संशय भी होता है, और कभी उसकी व्याख्या की पूर्णता भी। जैसे, वह या तो चूहा है या छछून्दर, इस वाक्य के विधेय में विकल्प लगाने का कारण वक्ता का संशय है। किंतु, विद्यार्थी के फेल करने का कारण या तो उसका दुर्बुद्धि

होना था आलसी होना है, इस वाक्य में विकल्प लगा कर वक्ता विद्यार्थी के फेल होने की परी व्याख्या करता है।

§ ३—गुण की दृष्टि से[1]

गुण की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हं—विधि और निषेध। विधि वाक्य[2]—वह है जिसमे उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध की स्थापना की गई हो। निषेध-वाक्य[3]—वह है जो उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध के अभाव को सूचित करता हो। जैसे,—सभी मनुष्य मरणशील है, यह एक विधि-वाक्य है; क्योकि इसमे मनुष्य का मरणशील होना बताया गया है। कोई मनुष्य पूर्ण नही है, यह एक निषेध वाक्य है क्योकि इसमे मनुष्य का पूर्ण नही होना बताया गया है।

कुछ तर्क-शास्त्री हेतुफलाश्रित वाक्यो मे भी विधि और निषेध का अन्तर करते है। उनके मत से ऐसे वाक्यो मे फल के विधानात्मक या निषेधात्मक होने से सारे वाक्य को वैसा ही समझना चाहिए। जैसे, यदि वृष्टि होती है, तो धान होता है, यह वाक्य विधानात्मक है, क्योकि इसका फल विधानात्मक है। किंतु, यदि वृष्टि होती है तो मैं टहलने नही जाता हू, यह वाक्य निषेधात्मक है, क्योकि इसका फल टहलने जाने का निषेध करता है। इस मत का कहना है कि विधानात्मक रूप मे फल हेतु की अपेक्षा करता है, किंतु निषेधात्मक वाक्य मे वह नही करता है।

हेतुफलाश्रित वाक्य की परीक्षा करने से मालूम होता है कि ऊपर का सिद्धान्त ठीक नही है। हेतुफलाश्रित वाक्य की यह तो पहली बात है कि इसके हेतु और फल मे आश्रय-आश्रित का सम्बन्ध हो। यदि

---

[1] According to Quality.

[2] Affirmative. [3] Negative.

हेतु आश्रय और फल आश्रित नही हुआ, तो हेतुफलाश्रित वाक्य ही कैसे बनेगा ? यदि वृष्टि हुई तो मै टहलने नही जाऊगा, इस वाक्य का अर्थ यह नही है कि वृष्टि होने और मेरे टहलने जाने मे कोई आश्रय-आश्रित का सम्बन्ध नही है, किंतु इसका अर्थ यह है कि मेरा नही टहलने जाना वृष्टि होने पर आश्रित है। यदि हेतु और फल मे आश्रय-आश्रित का कोई सम्बन्ध ही न होता, तो हेतु के आधार पर फल का निषेध भी कैसे किया जाता ?

कुछ तर्क-शास्त्रियो ने सभी वाक्यो को विधानात्मक रूप ही देने का प्रयत्न किया है। वे निषेध-सूचक "नही" शब्द को विधेय पद के साथ संयुक्त करके निषेधात्मक वाक्य को विधानात्मक बना लेना उचित बताते है। इनके मत से, कुछ मनुष्य ज्ञानी नही है, इस वाक्य को, कुछ मनुष्य अ-ज्ञानी है, ऐसा बदल कर ले लेना चाहिए।

यह मत ठीक नही है, जैसा हम ऊपर देख चुके है [पृ० ८२]।

हेतुफलाश्रित वाक्य की तरह, सभी वैकल्पिक वाक्य भी स्वभावत. विधानात्मक है। जिस तरह हेतुफलाश्रित वाक्य मे हेतु और फल के बीच सम्बन्ध का होना आवश्यक है, उसी तरह वैकल्पिक वाक्य मे विधेय के विकल्पो मे से किसी एक का उद्देश के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है।

तर्क-शास्त्री वेलहन् लिखते है, "वैकल्पिक वाक्य के स्वभाव से ही यह बात निकलती है कि वह विधानात्मक ही हो सकता है, क्योकि उसमे विधेय के लिए अनेक विकल्प उपस्थित किये जाते है जिनमे एक न एक का विधान अवश्य होना चाहिए।"[१]

---

[१] "It follows from the very nature of disjunctive propositions that they can only be affirmative; for, they must give a choice of predicates, one or other of which must be affirmed of the subject."

—*Welton and Manohan, Logic* p. 96

§ ४—अंश की दृष्टि से[1]

'अंश' की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते हैं—'सामान्य' और 'विशेष'।

(१) सामान्य-वाक्य[2] वह है जिसके उद्देश-पद का व्यक्तिबोध अपने पूर्ण अंश में समझा गया हो। जैसे—सभी मनुष्य मरण-शील हैं; कोई मनुष्य अमर नहीं है। इन वाक्यों में मरणशील होने या अमर होने का 'मनुष्य' पद के व्यक्तिबोध के पूर्ण अंश के साथ विधान या निषेध किया गया है।

(२) विशेष-वाक्य[3]—कुछ 'क' 'ख' है, या कुछ 'क' 'ख' नहीं है, यही विशेष-वाक्य के रूप हैं। 'कुछ' शब्द से यहां यह अर्थ नहीं है कि 'केवल कुछ ही'; किन्तु इसका अर्थ है 'कम से कम कुछ'। कुछ मनुष्य अज्ञानी हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि 'केवल कुछ ही मनुष्य अज्ञानी हैं'। हो सकता है कि सभी मनुष्य अज्ञानी निकलें। किंतु, यहां वक्ता को कुछ ही मनुष्यों के अज्ञानी होने की बात मालूम है। यहां, यह वाक्य इस बात की चेतावनी देता है कि ऐसा न समझ लेना चाहिए कि कोई मनुष्य अज्ञानी नहीं है। उसी तरह, कुछ आम मीठे नहीं हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि कुछ ही आम मीठे नहीं हैं, किंतु यह बताता है कि यह बात ठीक नहीं है कि सभी आम मीठे हैं। अत:, कह सकते हैं कि विशेषवाक्य के 'कुछ' शब्द का अर्थ 'कुछ ही' नहीं, किंतु 'कम से कम कुछ' का है।

इस तरह, इस वाक्य में उद्देश्य का क्या विस्तार है यह अनिश्चित रहता है। यदि वह निश्चित हो गया तो वाक्य विशेष से सामान्य हो जाता है। कुछ सांप विषैले नहीं हैं, यह वाक्य विशेष है, क्योंकि इसका

---

[1] According to Quantity.
[2] Universal Proposition.
[3] Particular Proposition.

पता नहीं कि वैसे साँप कौन हैं । इससे स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि, वैसे साँप कौन है ? और जब इसका निश्चय हो जाता है कि वे अमुक प्रकार के साँप हैं तो यह वाक्य सामान्य हो जाता है ।

ऊपर कह चुकने पर भी, यहा स्मरण करा देना आवश्यक है कि 'अपवादात्मक' वाक्यों मे वे वाक्य 'सामान्य' समझे जायेंगे जिनके उद्देश-पद के व्यक्तिवोव के किसी निश्चित अश का अपवाद किया गया हो; क्योंकि अपवादाश के निश्चित होने से गृहीताश का निश्चय स्वय हो जाता है। [पृ० ८६] और, यदि अपवादांश सदिग्ध हो तो गृहीतांश भी सदिग्ध होगा; वैसी हालत मे वह वाक्य 'विशेप' होगा। जैसे, मुस्लिम-लीग को छोड सभी भारतीय संस्थाओ ने काग्रेस का साथ दिया है, यह वाक्य 'सामान्य' है; और तर्कशास्त्र में इसका रूप इस तरह होगा—सभी 'मुस्लिम-लीग से इतर भारतीय संस्थायें' 'काग्रेस का साथ देने वाली' है। किंतु, एक को छोड सभी भारतीय सस्थाओ ने काग्रेस का साथ दिया है, यह वाक्य 'विशेप' है; और, तर्कशास्त्र में इसका रूप इस तरह होगा—कुछ 'भारतीय सस्थायें' 'काग्रेस का साथ देने वाली' हैं।

एकवचनात्म वाक्य[1] का उद्देश यदि कोई निश्चित पदार्थ या व्यक्ति हो तो उस वाक्य को सामान्य समझना चाहिए, क्योंकि इसके उद्देश-पद का व्यक्तिवोव केवल एक वही स्वय निश्चित है, जो यहां उसी अर्थ में लिया जाता है। जैसे, मोहन पढता है, यह वाक्य सामान्य है। किंतु, यदि एकवचनात्मक वाक्य का उद्देश कोई अनिश्चित एक हो तो वह वाक्य 'विशेप' समझा जायगा। जैसे, एक लडका पढ़ता है, यह वाक्य 'विशेप' है। इस 'एक' से राम, मोहन, हरि कोई भी समझा जा सकता है। इसलिए इस 'एक' का अर्थ 'कुछ' है। तर्कशास्त्री युवर्वेग के शब्दों में—

---

[1] Singular Proposition.

"एकवचनात्मक वाक्य सामान्य भी होगा, और विशेष भी। वह सामान्य होगा जब उसका उद्देश कोई निश्चित एक है, या सामने कोई निर्दिष्ट एक (जैसे—मोहन, या यह आदमी) है। और, वह विशेष होगा जब उसका उद्देश कोई अनिश्चित एक हो। क्योंकि, पहली अवस्था मे उद्देश-पद के पूरे विस्तार के साथ विधेय-पद का विधान या निषेध किया जाता है, और दूसरी अवस्था मे उद्देश के अर्थ के एक अनिश्चित अश के साथ।" (System of Logic 214.)

कोई हेतुफलाश्रित वाक्य सामान्य है या विशेष यह वाक्य के हेतु से समझा जायगा। यदि 'हेतु' पूर्णांशी हो तो वाक्य सामान्य है, और यदि वह वैसा न हो तो विशेष। जैसे, यदि कही भी आग है तो वहा गर्मी है, यह वाक्य सामान्य है, क्योकि यहा हेतु से आग की विद्यमानता की सभी अवस्थाओ का मतलब है। और, कभी कभी यदि मनुष्य सावधान है तो वह सफल होता है, यह वाक्य 'विशेष' है, क्योकि यहा हेतु से मनुष्य के सावधान होने की सभी अवस्थाओ से मतलब नही है।

वैकल्पिक वाक्य का 'अश' उसके उद्देश-पद के अनुसार होगा। जैसे, सभी मनुष्य या तो अमर है या मरने वाले, यह वाक्य सामान्य है। और, कुछ मनुष्य या तो धूर्त है या मूर्ख, यह वाक्य विशेष है।

कुछ ऐसे वाक्य है जिनके उद्देश-पद का अश अनुक्त रहता है। जैसे, मनुष्य मरणशील है, लडके खिलाडी होते है, इत्यादि। ऐसे वाक्य को अनुक्तांश-वाक्य कहते है। इनके अश समझ-बूझ कर हम स्वय निश्चित कर सकते है। जैसे, ऊपर के दो वाक्यो के 'अश' इस प्रकार होगे—सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है, कुछ 'लडके' 'खिलाडी' है।

§ ५—गुण और अंश, दोनों की सम्मिलित दृष्टि से

वाक्य 'गुण' की दृष्टि से विधि और निषेध दो प्रकार के, और 'अश' की दृष्टि से भी सामान्य और विशेष दो प्रकार के

होते हैं। अत, दोनो की सम्मिलित दृष्टि से वाक्य चार प्रकार के होंगे[1]—

(१) सामान्य विधि—सभी 'क' 'ख' है,
(२) सामान्य निषेध—कोई 'क' 'ख' नही है,
(३) विशेष विधि—कुछ 'क' 'ख' है,
(४) विशेष निषेध—कुछ 'क' 'ख' नही है।

तर्कशास्त्र मे इन चार वाक्यो के सांकेतिक नाम यह चार स्वर हैं—

सामान्य विधि—आ
सामान्य निषेध—ए
विशेष विधि—ई
विशेष निषेध—ओ

[अंगरेजी मे इनके नाम क्रमश. A, E, I, और O है। इनमें 'A' और 'I' विधि-सूचक है, और 'E' और 'O' निषेध-सूचक। पहले दो विधि-सूचक स्वर affirms (=विधि) शब्द से, और अन्तिम दो निषेध सूचक स्वर nego (=निषेध) शब्द से लिए गए है।]

---

[1] यह विभाजन निम्न तालिका से स्पष्ट होगा—
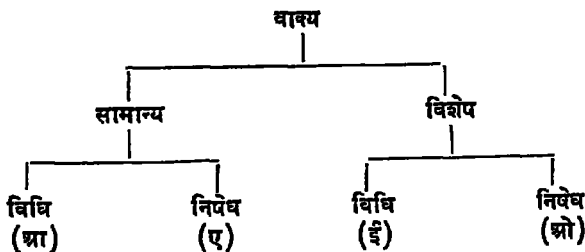
तर्कशास्त्र में वाक्य के यही चार रूप प्रामाणिक माने गए है। शास्त्रीय विचार करने के लिए सभी लौकिक वाक्यो को उनके अर्थ की रक्षा करते हुए इन्ही चार रूपो मे से किसी एक मे ले आना आवश्यक है। इस तरह लाने के कुछ नियम ऊपर कह चुके है। [देखिए पृ० ८२]।

§ ६—बलाबल[1] की दृष्टि से

आस्था के बलाबल की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते है—निश्चित, प्रतिज्ञात और संदिग्ध।

निश्चित-वाक्य[2] वह है जिसमे बात पूरे निश्चय के साथ कही गई हो। जैसे, 'क' 'ख' अवश्य है : दो और दो चार अवश्य होगे : दो रेखाओ से कोई क्षेत्र कभी नही घिर सकता।

प्रतिज्ञात-वाक्य[3] वह है जिसमें न निश्चय प्रकट किया गया हो और न सदेह, किंतु जो केवल उद्देश और विधेय के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित करता है। जैसे—सभी मनुष्य मरणशील है : कोई मनुष्य पूर्ण नही है।

संदिग्ध-वाक्य[4] वह है जिसकी बात हो तो सकती है, किंतु हुई है या नही इसमें सदेह है। जैसे—कदाचित् मोहन बीमार है : कदाचित् कोई मनुष्य ज्ञानी नही है।

§ ७—तात्पर्य की दृष्टि से[5]

कौन वाक्य कैसे तात्पर्य व्यक्त करते है इसकी परीक्षा करने से वाक्य दो प्रकार के सिद्ध होते है—'शाब्दिक' और 'यथार्थ'।

---

[1] Modality. [2] Necessary. [3] Assertory.
[4] Problematic. [5] According to Import.

(१) शाब्दिक-वाक्य[1] वह है जिसके विधेय-पद का स्वभावबोध उसके उद्देश-पद के स्वभावबोध के समान ही हो, अथवा उसमें अन्तर्गत हो। जैसे—'मनुष्य' 'विवेकशील प्राणी' है, 'मनुष्य' 'विवेकशील' है; 'मनुष्य' 'प्राणी' है। पहले उदाहरण में, जो मनुष्यत्व है वही विवेकशील-प्राणित्व है, अत. इस वाक्य के दोनों पदो के स्वभावधर्म समान है। दूसरे तथा तीसरे वाक्य में विवेकशीलत्व तथा प्राणित्व मनुष्य के अन्तर्गत है, अतः इन वाक्यो के विधेयपद के स्वभावबोध इनके उद्देश-पद के स्वभाव मे अन्तर्गत है।

इसे देख कर यह पता चलता है कि 'शाब्दिक वाक्य' का विधेय उसके उद्देश के विषय मे कोई नया ज्ञान नही प्रदान करता, किंतु वह उसका केवल 'लक्षण' या 'लक्षण का विश्लेपण' होता है। इसीलिए इस वाक्य को 'शाब्दिक' कहते है। इस वाक्य के उद्देश में ही विधेय निहित है। इसे विश्लेषक-वाक्य[2] भी कहते है, क्योंकि यह अपने उद्देश-पद के स्वभाव-बोध का विश्लेपण भर करता है। इसे स्फोटक-वाक्य भी कहते है, क्योकि यह उसे स्फुट भर करता है जो इसके उद्देश में निहित था। इसे धर्मगत-वाक्य भी कहते हैं, क्योकि यह उद्देश के धर्म की परीक्षा पर ही बना है।

(२) यथार्थ-वाक्य[3] वह है जिसके विधेय का स्वभावबोध उद्देश के स्वभावबोध में अन्तर्गत न हो। जैसे, सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है; कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है। इन वाक्यो के विधेय के स्वभावबोध 'मरणशीलत्व' या 'अमरत्व' उनके उद्देश के स्वभावबोध 'मनुष्यत्व' में अन्तर्गत नही है।

---

[1] Verbal Proposition. [2] Analytic Proposition

[3] Real Proposition.

ऐसे वाक्य को संश्लेषक-वाक्य[1] भी कहते है, क्योकि यह दो भिन्न भिन्न नये प्रत्ययो के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। इसे ज्ञापक-वाक्य भी कहते है, क्योकि यह नई बात बता कर ज्ञान का विस्तार करता है।

शाब्दिक-वाक्य का विधेय अपने उद्देश के सम्बन्ध मे या तो जाति[2] होता है, या उपजाति,[3] या व्यवच्छेदक[4] धर्म। यथार्थ वाक्य का विधेय अपने उद्देश के सम्बन्ध मे या तो स्वभावसिद्ध धर्म[5] होता है या आकस्मिक धर्म।[6] जैसे—

शाब्दिक-वाक्य

जाति—सभी त्रिभुज क्षेत्र है

उपजाति—कुछ क्षेत्र त्रिभुज है

व्यवच्छेदक धर्म—सभी त्रिभुज तीन भुजाओ वाले है

यथार्थ-वाक्य

स्वभावसिद्ध धर्म—त्रिभुज के तीनो कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते है।

आकस्मिक धर्म—यह त्रिभुज समद्विबाहु है।

---

[1] Synthetic Proposition [2] Genus. [3] Species.
[4] Differentia. [5] Property. [6] Accident.

सातवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

तीसरा भाग

(वाक्य में पदों के विस्तार[1])

§ १—वाक्य में पदों के विस्तार

सामान्य-वाक्यो मे उद्देश-पद अपने व्यक्तिवोध के पूरे अश मे लागू होता है, जो उसके प्रारम्भ मे आने वाले 'सभी' या 'कोई' शब्द से प्रकट होता है। विशेष-वाक्यो मे उद्देश-पद अपने व्यक्तिवोध के केवल एक अनिश्चित अंश मे लागू होता है, जो उसके प्रारम्भ में आने वाले 'कुछ' शब्द से प्रकट होता है। इसे तर्कशास्त्र की परिभाषा में यो कहते हैं कि उद्देश-पद सामान्य-वाक्यो में सर्वांशी[2] होता है, और विशेष-वाक्यो में असर्वांशी।[3]

वाक्य के विधेय-पद के पूर्व 'सभी', 'कोई' या 'कुछ' शब्द का प्रयोग भाषा मे नही होता, अतः वह किस वाक्य में 'सर्वांशी' होता है और किस वाक्य मे 'असर्वांशी' इस पर विचार कर लेना होगा।

सभी 'घोड़े' 'पशु' हैं, यह एक सामान्य विधानात्मक वाक्य है। यहा

---

[1] Distribution of Terms.

[2] Distributed.

[3] Undistributed.

विधेय-पद के व्यक्तिबोध के क्या पूरे अश से उद्देश-पद का सम्बन्ध है ? यदि हां, तो सभी पशु घोडे कहे जाने चाहिए। किंतु यह नही हो सकता, क्योकि घोड़ा से इतर भी दूसरे बहुत पशु है। विधेय-पद 'पशु' के व्यक्ति-बोध का एक अंश ही घोड़ा है। अतः, सभी घोड़े सभी पशु नही है, किंतु सभी घोड़े कुछ पशु है। इस परीक्षा का सार यह निकला कि ऐसे वाक्य का विधेय-पद असर्वांशी होता है।

किंतु, सामान्य विधानात्मक वाक्य के ऐसे भी उदाहरण मिलेंगे जिनमें विधेय-पद सर्वांशी होते है। जैसे, 'एवरेष्ट' 'संसार का सर्वोच्च शिखर' है; 'त्रिभुज' 'तीन भुजाओ से घिरा क्षेत्र' है। इन वाक्यो मे जो उद्देश है वही विधेय है, और जो विधेय है वही उद्देश है। जो एवरेष्ट है वही ससार का सर्वोच्च शिखर है, और जो ससार का सर्वोच्च शिखर है वही एवरेष्ट है। जो त्रिभुज है वही तीन भुजाओ से घिरा क्षेत्र है, और जो तीन भुजाओ से घिरा क्षेत्र है वही त्रिभुज है। ऐसे वाक्यों को समव्याप्तिक-वाक्य कहते है। इनके दोनो पदो के व्यक्तिबोध एक ही है, जो अपने पूरे अश मे समझे गए है। ऐसे वाक्य का विधेय-पद सर्वांशी होता है।

विशेष-विधानात्मक वाक्य के दो उदाहरण ले—(१) कुछ 'पशु' 'घोड़े' है, और (२) कुछ 'भारतीय' 'कवि' है। पहले वाक्य में विधेय-पद स्पष्टतः सर्वांशी है, और दूसरे मे असर्वांशी। क्योकि संसार के सभी घोड़े पशु है, किंतु ससार के कुछ ही कवि भारतीय है।

निषेधात्मक वाक्य यह सूचित करते है कि उद्देश के साथ विधेय-पद से बोध होने वाले किसी भी व्यक्ति का सम्बन्ध नही है। अर्थात्, विधेय-पद का व्यक्तिबोध अपने पूरे अंश मे उद्देश से अलग है। कोई हबशी गोरा नही है, कुछ हबशी पढ़े-लिखे नही है—इन दोनो वाक्यो पर विचार करने से मालूम होगा कि इनके विधेय-पद सर्वांशी है। क्योकि, इनका

अर्थ है कि संसार के जितने भी गोरे आदमी हैं उनमे कोई हबशी नही है; और संसार मे जितने भी विद्वान् आदमी है उनमे कोई उन कुछ हबशियो मे नही है जिनका यहा जिक्र किया गया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि निषेधात्मक वाक्य के विधेय-पद सर्वदा 'सर्वांगी' होते है, वाक्य चाहे सामान्य हो या विशेष। किसी भी अवस्था मे निषेधात्मक वाक्य का विधेय-पद 'असर्वांगी' नही होता।

सारे विचार का सार यह निकला कि—

(१) विधानात्मक वाक्य का विधेय कभी सर्वांगी भी होता है, और कभी असर्वांगी भी, और

(२) निषेधात्मक वाक्य का विधेय हमेशा सर्वांगी होता है।

किस विधानात्मक वाक्य का विधेय-पद सर्वांगी है और किसका असर्वांगी यह तो पदों के अर्थ की परीक्षा करके ही निश्चित किया जा सकेगा। तर्कशास्त्र के लिए यह एक कठिनाई उत्पन्न करता है, क्योंकि तर्कशास्त्र विचार के ऐसे 'रूपों' की स्थापना करना चाहता है जो बिना उनके अर्थ की अपेक्षा किए सत्य ठहरे। साकेतिक वाक्यों मे उनके पदो से किसी निश्चित वस्तु का निर्देश नही होता, तब उनके अर्थ की कैसे परीक्षा की जायगी, और यह कैसे निश्चित किया जायगा कि अमुक विधानात्मक वाक्य का विधेय-पद सर्वांगी है या असर्वांगी ? जैसे, सभी 'क' 'ख' है; कुछ 'क' 'ख' है—इन वाक्यों मे 'क' और 'ख' क्या है इसका पता नही। तब, 'ख' सर्वांगी है या असर्वांगी यह कैसे निश्चय किया जायगा ? इस अनिश्चय से बचने के लिए तर्कशास्त्रियो ने इसे 'असर्वांगी' माना है। जो सर्वांग मे सत्य है वह एकांश मे निश्चय रूप से सत्य होता है, अत. इसे असर्वांगी मानने में कोई खतरा नहीं है।

तब, वाक्य में पदो के विस्तार समझने के लिए निम्न तालिका बनाई जा सकती है—

विधि		निषेध	
उद्देश	विधेय	उद्देश	विधेय
सामान्य सर्वांशी	असर्वांशी	सर्वांशी	सर्वांशी
विशेष असर्वांशी	असर्वांशी	असर्वांशी	सर्वांशी

चारो वाक्यो के जो चार साकेतिक नाम—आ, ई, ए, ओ—है उनका प्रयोग करके इस तरह बता सकते है कि कौन वाक्य अपने किन पदो को सर्वांश मे बोध करते हैं—

'आ' उद्देश को,
'ओ' विधेय को,
'ए' दोनो को,
'ई' किसी को नही ।

इसे याद रखने के लिए एक सूत्र बना लें—आउ ओवि एदो ईनही । इनके पहले अक्षर वाक्यो के नाम है, और दूसरे अक्षर उन पदो के नाम है जो सर्वांशी है । अतः, 'आउ' का माने है कि 'आ' वाक्य का उद्देश सर्वांशी है । 'ओवि' का माने है कि 'ओ' वाक्य का विधेय सर्वांशी है । 'एदो' का माने है कि 'ए' वाक्य के दोनो पद सर्वांशी है । 'ईनही' का माने है कि 'ई' वाक्य मे कोई पद सर्वांशी नही है ।[1]

§ २—विधेय के भी अंश का निर्देश कर वाक्य के आठ रूपों की स्थापना

हम लोगो ने ऊपर देखा कि वाक्य के साधारण चार रूपो मे उनके 'गुण'[2]

---

[1] अगरेजी मे यह सूत्र है—Asebinop. [2] Quality.

के अनुसार उनके विधेय के 'अंग'[1] का निश्चय किया गया; यह कि विधेय विधानात्मक वाक्यों मे असर्वांशी होता है, और निषेधात्मक वाक्यो मे सर्वांशी। तब, यह सम्भव प्रतीत होता है कि, वाक्य के 'गुण' पर बिना निर्भर किए, विधेय के अंग का भी स्पष्ट उल्लेख कर सकते हैं। इसी विचार से प्रेरित हो प्रसिद्ध तर्कशास्त्री सर विलियम हैमिल्टन ने वाक्य के आठ रूपों की स्थापना की है—

	संकेत
१. सभी 'क' सभी 'ख' है,	'आ-वि-आ'
२. सभी 'क' कुछ 'ख' है,	'आ-वि-ई'
३. कुछ 'क' सभी 'ख' है,	'ई-वि-आ'
४. कुछ 'क' कुछ 'ख' है,	'ई-वि-ई'
५. कोई 'क' कोई 'ख' नही है,	'आ-नि-आ'
६. कोई 'क' कुछ 'ख' नही है,	'आ-नि-ई'
७. कुछ 'क' कोई 'ख' नही है,	'ई-नि-आ'
८ कुछ 'क' कुछ 'ख' नही है।	'ई-नि-ई'

इनके वास्तविक उदाहरण हो सकते हैं—

१. सभी 'त्रिभुज' सभी 'तीन भुजाओं से घिरे क्षेत्र' है,
२. सभी 'घोड़े' कुछ 'पशु' है,
३. कुछ 'पशु' सभी 'घोडे' है,
४. कुछ 'भारतीय' कुछ 'कवि' है,
५. कोई 'हबशी' कोई 'गोरा' नही है,
६. कोई 'मनुष्य' कुछ 'प्राणी' नही है,
७ कुछ 'मनुष्य' कोई 'कवि' नही है,
८. कुछ 'मनुष्य' कुछ 'कवि' नही है।

---

[1] Quantity.

हैमिल्टन ने वाक्य के इन आठ रूपो के जो सकेत—आ-वि-आ, आ-वि-ई इत्यादि—निश्चित किए है, उनमे 'आ' का अर्थ है सर्वांशी, 'ई' का असर्वांशी, 'वि' का विधानात्मक, और 'नि' का निषेधात्मक। इस तरह, 'आ-वि-आ' का अर्थ हुआ कि वह विधानात्मक वाक्य जिसके दोनो पद सर्वांशी है, इत्यादि।

आर्चविशप थोमसन् ने वाक्य के इन आठ रूपो के सकेत निम्न प्रकार निश्चित किए है, जिनका प्रयोग तर्कशास्त्र के पुस्तको मे अधिक प्रचलित हो गया है—

आ-वि-आ=U। आ-वि-ई=A। ई-वि-आ=Y। ई-वि-ई=I। आ-नि-आ=E। आ-वि-ई=N। ई-नि-आ=O। ई-नि-ई=W।

वाद मे, यह विचार कर कि निषेधात्मक वाक्य के विधेय-पद कभी असर्वांशी नही होते, थोमसन ने स्वय N और W रूपो को अयुक्त वताया।

समीक्षा

यदि सभी वाक्यो के विधेय-पद सर्वथा व्यक्तिवोध को ही सूचित करते तो अलवत्ता हैमिल्टन का यह विभाजन तर्कशास्त्र के लिए उपयोगी होता। किंतु ऐसी वात नही है। विधानात्मक वाक्यो मे, कम से कम, विधेय-पद को धर्म-वोध मे ही समझना अधिक स्वाभाविक मालूम होता है। सभी टोपिया लाल है, कुछ टोपिया लाल है—इन वाक्यो से ऐसा समझना निरी कष्ट-कल्पना है कि संसार के जितने लाल पदार्थ है उनमे सभी या कुछ टोपिया भी सम्मिलित है। टोपियो से इतर किन्ही अन्य लाल पदार्थों की वात मन मे भी नही आती। यहा, यही ख्याल आता है कि सभी टोपियो का रग एक यही है। अतः, वाक्य के विधेय-पद के विस्तार को निश्चित करने का यह प्रयास निरर्थक है।

इस प्रयास पर दूसरी वडी आपत्ति यह है कि इसके रूप वात को स्पष्ट करने के वदले उसे और भी भ्रामक वना देते है। 'आ-वि-ई' का

उदाहरण है—सभी 'घोड़े' कुछ 'पशु' हैं। यहां, 'कुछ पशु' से क्या समझना है ? बैल भी, या बन्दर भी तो 'कुछ पशु' कहे जा सकते है। तब, क्या इस वाक्य का यह अर्थ हो सकता है कि—सभी घोड़े बैल या बन्दर है !!

एक और दूसरी आपत्ति यह है कि इसके कुछ रूप एक स्वतंत्र वाक्य नहीं है, किंतु उनमें दो वाक्यो की खिचड़ी हो गई है। 'आ-वि-आ' का रूप है—सभी 'क' सभी 'ख' है। यथार्थत इसमें दो वाक्यो की खिचड़ी हो गई है—सभी 'क' 'ख' है,+सभी 'ख' 'क' है। ऐसे खिचडी वाक्यों से तर्कशास्त्र की कठिनाई और भी बढ जाती है।

अतः, वाक्य के विधेय-पद के विस्तार का निश्चय उसके गुण के आधार पर ही किया जा सकता है। यह कि, विधानात्मक वाक्यों के विधेय-पद असर्वांशी होते हैं, और निषेधात्मक वाक्यों के सर्वांशी। इस दृष्टि से वाक्य के चार ही रूप होंगे—आ, ई, ए, और ओ।

§ ३—वाक्यों का चित्रीकरण[1]

वाक्य को चक्रो में व्यक्त करके रखने का उद्देश्य केवल यह है कि उद्देश और विधेय का परस्पर सम्बन्ध चित्र में आखो से देख कर तुरत समझ लिया जा सके। प्रायः, वह बात जो बहुत कहने से भी साफ नही होती चित्र मे प्रकट करके रखने से झट समझ में आ जाती है। प्रस्तुत प्रयास का यही उद्देश्य है।

इसमें, दोनों पदों के लिए दो चक्र बनाते है, और उन्हे इस प्रकार एक दूसरे पर या अलग अलग रखते हैं जिससे यह पता लगे कि वे एक दूसरे में कितने अंश से युक्त है, और कितने अंश से नही। अतः, वाक्य के रूपो के चित्र इस प्रकार होंगे—

---

[1] यूलर की चित्रीकरण-विधि, देखिए परिशिष्ट

(१) 'आ'=सामान्य विधि,

(क) आ-वि-आ=समव्याप्तिक
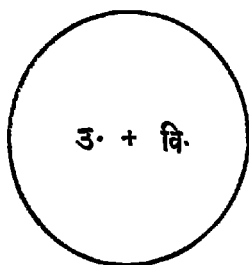
इसमे उद्देश और विधेय के चक्र एक दूसरे को पूरा पूरा छाप लेते है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यो का सूचक है—'एवरेष्ट' 'सर्वोच्च शिखर' है, 'इलाहाबाद' 'प्रयाग' है, सभी 'त्रिभुज' 'तीन भुजाओं से घिरे क्षेत्र' है।

(ख) आ-वि-ई=विषमव्याप्तिक
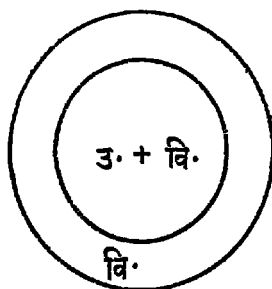
इस चित्र मे विधेय के पेट मे उद्देश का पूरा चक्र चला आया है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यो का सूचक है—सभी 'घोड़े' 'पशु' है, सभी

'मनुष्य' 'मरणशील' है, सभी 'पंजाबी' 'भारतीय' है। इन वाक्यो मे विधेय 'जाति' है और उद्देश 'उपजाति'।

(२) 'ए'=सामान्य निषेध, आ-नि-आ
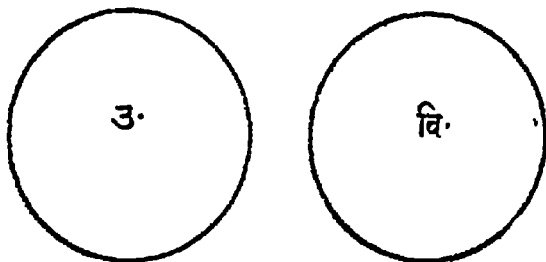
इस वाक्य में उद्देश का चक्र विधेय के चक्र से एकदम अलग है। किसी अंश में भी दोनों नहीं मिलते। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यो का सूचक है—कोई 'मनुष्य' 'अमर' नहीं है; कोई 'हबशी' 'गोरा' नही है; 'मोहन' 'बीमार' नही है; 'यह' 'सुन्दर' नहीं है; कोई 'लड़का, मोहन को छोड़' 'गंदा' नही है।

(३) 'ई'=विशेष विधि

(क) ई-वि-आ
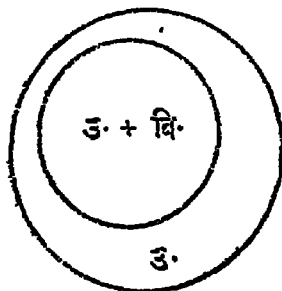
इस चित्र मे उद्देश के पेट में विधेय का पूरा चक्र चला आया है। यह

चित्र इस प्रकार के वाक्यों का सूचक है—कुछ 'पशु' 'घोड़े' हैं; कुछ 'भारतीय' पंजाबी हैं। इन वाक्यो में उद्देश 'जाति' है और विधेय 'उपजाति'।

(ख) ई-वि-ई
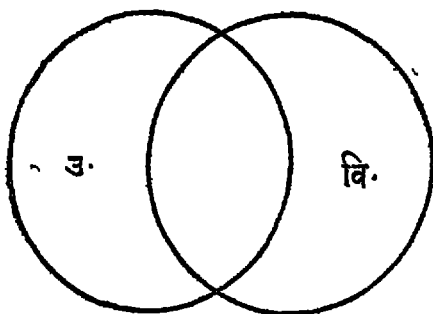
इस चित्र में उद्देश का एक अंश विधेय के एक अंश से मिला है। यही अंश वाक्य के निर्देश को सूचित करता है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यों का सूचक है—कुछ 'पंजाबी' 'वीर लड़ाकू' हैं; कुछ 'भारतीय' 'गोरे' हैं। इन वाक्यो मे उद्देश 'उपजाति' है और विधेय 'जाति'।

(४) 'ओ' विशेष निषेध

(क) ई-नि-आ
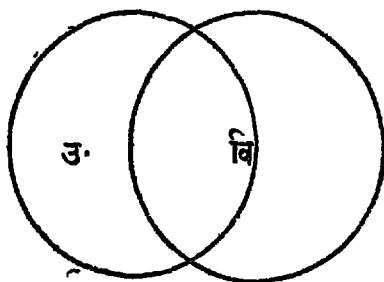
इस चित्र में इस बात पर ध्यान देना है कि विधेय का चक्र उद्देश के भीतर एक ही अंश मे अन्तर्गत है। उद्देश का बचा हुआ अंश विधेय की परिधि से एकदम बाहर है। यह वाक्य उद्देश के उसी बचे हुए अंश को निर्देश करता है जो विधेय के पूरे चक्र से बाहर है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यों का सूचक है—कुछ 'भारतीय' 'पंजाबी' नही है, कुछ 'पशु' 'घोड़े' नही है।

§ ४—वाक्यों के चित्रीकरण की समीक्षा

हमने अभी देखा कि इस चित्रीकरण से वाक्य मे उद्देश तथा विधेय के विस्तार और उनके परस्पर सम्बन्ध को समझने मे आसानी होती है। किंतु फिर भी, यहां प्रश्न होता है कि क्या सभी वाक्यो के उद्देश और विधेय दोनो व्यक्तिबोध के ही सूचक होते हैं ?

सभी 'पंजाबी' 'भारतीय' हैं; कोई 'घोड़ा' 'गाय' नही है—इन जैसे वाक्यों में कह सकते है कि इनके दोनो पद अपने अपने व्यक्तिबोध में ही समझे जाने चाहिए। इन वाक्यो को ऊपर की पद्धति से बड़ी आसानी से दिखा सकते है, क्योंकि इनके दोनो पदो के विस्तार चक्र से चित्रित कर सकते हैं।

किंतु, 'आप की बात' 'सच' नही है; 'कपडे का रंग' 'गाढा' है—इन जैसे वाक्यो का चित्रीकरण बडा कठिन है; क्योंकि इनके विधेय-पद को स्वभावबोध में ही समझा जा सकता है, व्यक्तिबोध मे नही। इनके पदो में व्याप्य-व्यापक का सम्बन्ध नही है, किंतु इनमें धर्मी और धर्म का सम्बन्ध है। इसे चित्र से नही प्रकट कर सकते।

§ ५—भेद-सूचक वर्ग[1]

वे दो वाक्य एक दूसरे के भिन्न कहे जाते है जिनके उद्देश-पद और

[1] The Square of Opposition.

विधेय-पद समान होते हुए भी उनके 'गुण', या 'अंश', या दोनो समान न हो। 'आ', 'ए', 'ई' और 'ओ'—इन चार वाक्यों में, दो दो को ले कर देखे तो चार प्रकार के सम्बन्ध सिद्ध होगे।

(१) दो वाक्य ऐसे हो सकते है कि उनमे एक के सत्य होने से दूसरा झूठ, और एक के झूठ होने से दूसरा सत्य ठहरता हो। न तो दोनो का सत्य होना सम्भव हो, और न दोनो का झूठ होना। वाक्यों के परस्पर इस सम्बन्ध को अत्यन्त विरोध का भेद[1] कहते है। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ओ' वाक्यो मे, तथा 'ए' और 'ई' वाक्यो में प्राप्त है।

जैसे, 'सभी मनुष्य मरणशील है', और 'कुछ मनुष्य मरणशील नही है'—इन दो वाक्यो मे यह सम्बन्ध है। ये दोनो सत्य भी नही हो सकते, और दोनो झूठ भी नही हो सकते। दोनो में एक अवश्य सत्य होगा, और एक अवश्य झूठ। इसी तरह, 'कोई मनुष्य मरणशील नही है,' और 'कुछ मनुष्य मरणशील है'—इन दो वाक्यो मे भी यही सम्बन्ध है।[2]

(२) दो वाक्य ऐसे है कि वे दोनो झूठ तो हो सकते हैं, किंतु दोनों सत्य नही हों सकते। वाक्यों के परस्पर इस सम्बन्ध को भेदकता का भेद[3] कहते हैं। वे वाक्य एक दूसरे के 'भेदक' कहे जाते हैं। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ए' वाक्यो में प्राप्त है।

जैसे, 'सभी मनुष्य कवि है', और 'कोई मनुष्य कवि नही है'—इन दो वाक्यों मे यही सम्बन्ध है। ये दोनो वाक्य झूठ तो हो सकते है, किंतु दोनो सत्य नही हो सकते।

---

[1] Contradictory Opposition. [2] देखो पृ० ६८

[3] Contrariety or Contrary Opposition.

(३) दो वाक्य ऐसे हैं कि वे दोनो सत्य तो हो सकते हैं, किन्तु दोनों झूठ नहीं हो सकते। वाक्यो के परस्पर इस सम्बन्ध को उपभेदकता का भेद[1] कहते हैं। वे वाक्य एक दूसरे के 'उपभेदक' कहे जाते है। यह सम्बन्ध 'ई' और 'ओ' वाक्यो में प्राप्त है।

जैसे, 'कुछ मनुष्य कवि हैं', और 'कुछ मनुष्य कवि नहीं हैं'—इन दो वाक्यों में यही सम्बन्ध है। ये दोनो वाक्य सत्य हो सकते हैं, किंतु दोनों झूठ नही हो सकते।

(४) दो दो वाक्य ऐसे हैं कि उनमें पहले के सत्य होने से दूसरा भी सत्य, और दूसरे के झूठ होने से पहला भी झूठ ठहरता है। वाक्यों के परस्पर इस सम्बन्ध को समावेशता का भेद[2] कहते हैं। इनमें पहला वाक्य 'समावेशक', और दूसरा 'समाविष्ट' कहा जाता है। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ई' वाक्यों में, तथा 'ए' और 'ओ' वाक्यों मे प्राप्त है।

जैसे, 'सभी मनुष्य कवि हैं' और 'कुछ मनुष्य कवि हैं'—इन दो वाक्यों में यही सम्बन्ध है। यदि पहला सत्य हो तो दूसरा अवश्य सत्य होगा। और, यदि दूसरा झूठ है तो पहला भी सत्य नहीं हो सकता। यही सम्बन्ध इन दो वाक्यों में भी है—'कोई मनुष्य कवि नहीं हैं' और 'कुछ मनुष्य कवि नहीं हैं'।

इन चार सम्बन्धों को इस चित्र से सूचित करते हैं, जिसे भेद-सूचक वर्ग[3] कहते हैं—

---

[1] Sub-contrariety or Sub-Contrary Opposition.

[2] Sub-alternation.

[3] Square of opposition
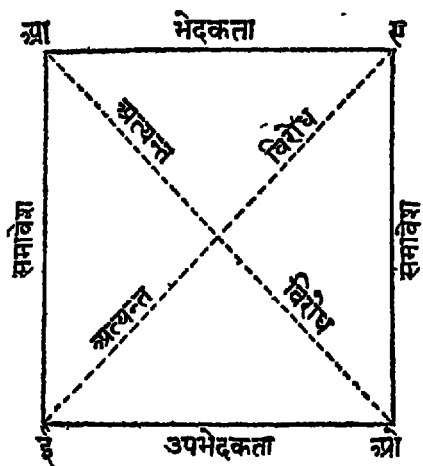
इस अध्ययन से दो लाभ हैं—(१) इससे किन्ही दो वाक्यो के बीच का सम्बन्ध झट समझ मे आ जाता है; और (२) समान पदो वाले किन्ही दो वाक्यो मे एक का सत्यासत्य जान कर दूसरे का भी सत्यासत्य निश्चय पूर्वक जान सकते है। दूसरी बात के लिए निम्न तालिका सहायक होगी—

	आ	ए	ई	ओ
(१)	स	झू	स	झू
(२)	झू	स	झू	स
(३)	संदिग्ध	झू	स	संदिग्ध
(४)	झू	सदिग्ध	सदिग्ध	स

'आ' वाक्य के सत्य होने से शेष तीन वाक्यों मे कौन सत्य होगा और कौन झूठ यह पहली पंक्ति (१) सूचित करता है; यह बात इससे प्रकट होती है कि बड़ा 'स' अक्षर 'आ' वाक्य के नीचे इसी पंक्ति मे है। इसी तरह, जिस वाक्य के झूठ होने मे शेष तीनो मे कौन सत्य और कौन झूठ होगा यह देखने के लिए उस पंक्ति को देखना होगा जिसमे बड़ा अक्षर 'झ' है।

आठवाँ अध्याय

अनुमान प्रकरण

निगमन-विधि[1]

पहला भाग

अनन्तरानुमान[2]

§ १—प्राक्कथन

एक या अनेक वाक्यों के आधार पर उनके परामर्श से किसी निष्कर्ष-वाक्य पर पहुंचने की प्रक्रिया को अनुमान करना कहते हैं। जिस वाक्य या वाक्यो के आधार पर अनुमान करते है उन्हें 'आधार-वाक्य'[3], और उनके परामर्श से जिस वाक्य पर पहुंचते है उसे निष्कर्ष-वाक्य[4] कहते है।

'कोई मनुष्य अमर नही हैं' और 'मै मनुष्य हूं', इन दो वाक्यों से क्या ध्वनित होता है? यह कि, 'मै अमर नही हूं'। इसी ध्वनि को परामर्श कहते हैं। अनुमान का आधार यही है। कभी कभी हम इसे ठीक न समझ सकने के कारण मिथ्या निष्कर्ष निकाल लेते हैं। 'सभी हिन्दू भारतीय हैं' और 'सभी मुसल्मान भारतीय हैं'—इन दो वाक्यों से यदि यह परामर्श ग्रहण कर लें कि इसलिए 'सभी मुसल्मान हिन्दू हैं', तो

---

[1] Deduction. [2] Immediate Inference.
[3] Premise. [4] Conclusion.

यह अनर्थ होगा। प्रस्तुत प्रकरण मे हम यही सविस्तार अध्ययन करेंगे कि सच्चे परामर्श के स्वरूप क्या है, उनके नियम क्या क्या है, तथा किस तरह उन्हे ठीक न समझ सकने के कारण गलतियां हो जाती है।

ऊपर देख चुके है कि अनुमान[1] की विधियां दो हैं—निगमन-विधि[2] और व्याप्ति-विधि[3]। पहली विधि में, व्यापक वाक्य या वाक्यों के आधार पर उतने ही या उतने से कम व्यापक निष्कर्ष निकालते है। 'सभी इङ्गलैण्ड-निवासी अंगरेज हैं', यह एक व्यापक वाक्य है। इससे यदि यह निष्कर्ष निकालें कि, इसलिए 'सभी अंगरेज इङ्गलैण्ड-निवासी है' तो देखेंगे कि दोनों वाक्यों की व्यापकता समान है। किंतु यदि 'सभी घोड़े पशु है' इस वाक्य से यह निष्कर्ष निकाले कि इसलिए 'कुछ पशु घोडे है' तो देखेंगे कि इस वाक्य की व्यापकता आधार-वाक्य की व्यापकता से कम है। निगमन विधि में निष्कर्ष-वाक्य की व्यापकता आधार-वाक्य की व्यापकता से कम होती है, बराबर भी हो सकती है, किंतु किसी भी अवस्था में अधिक नहीं। यदि मुझे दस ही रुपये प्राप्त हैं, तो मै उससे कम ही खर्च करूंगा, पूरे का पूरा भी खर्च कर सकता हूं, किंतु उससे कुछ भी अधिक नही।

एक या अनेक बातों के आधार पर सामान्य का ज्ञान प्राप्त करने की विधि 'व्याप्ति-विधि' है। वैद्य अनेक रोगियो पर किसी नये औषधि का प्रयोग करके सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि अमुक रोग से ग्रस्त सभी रोगियों को यह औषधि लाभ-प्रद है। इस विधि का अध्ययन पुस्तक के दूसरे खण्ड में करेंगे।

इस खण्ड के शेष भागो में 'निगमन-विधि' के अनुमान पर ही विचार होगा। निगमन-विधि भी दो प्रकार के है—'अनन्तरानुमान'[4] और 'परंपरानुमान'[5]।

---

[1] Inference. [2] Deduction. [3] Induction.
[4] Immediate Inference. [5] Mediate Inference.

एक ही वाक्य के आधार पर निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया को अनन्तरानुमान कहते हैं। इस प्रक्रिया के निष्कर्ष-वाक्य मे उद्देश और विधेय में जो सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसका आधार आधार-वाक्य में उनका जो परस्पर सम्बन्ध है उसे छोड़ दूसरा कुछ नही है। 'सभी घोड़े पशु हैं', इस वाक्य से अनन्तरानुमान करते है कि—'कुछ पशु घोड़े है' या 'कोई घोड़े अ-पशु नही हैं'। इन निष्कर्ष-वाक्यो[1] में 'घोड़े' और 'पशु' में जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है उसका आधार आधार-वाक्य[2] में उनका जो साक्षात् सम्बन्ध है वही है। यहां, आधार-वाक्य मे ही निष्कर्ष-वाक्य के पदो के बीच सीधा कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित रहता है। उसी सम्बन्ध के आधार पर उन्ही के बीच दूसरे सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है।

दो, या अधिक वाक्यो के आधार पर निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया को 'परंपरानुमान' कहते हैं। इस प्रक्रिया मे निष्कर्ष-वाक्य के पदों के बीच आधार-वाक्यो मे सीधा=अनन्तर सम्बन्ध स्थापित नही रहता। किंतु, उन दोनो का सीधा सम्बन्ध एक तीसरे पद से रहता है। इसी के आधार पर निष्कर्ष-वाक्य मे उन पदो के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

निष्कर्ष-वाक्य के उद्देश को 'उ', तथा विधेय को 'वि' संकेत से व्यक्त करते है। आधार-वाक्यो मे उनका अलग अलग सीधा सम्बन्ध जिस तीसरे पद के साथ स्थापित रहता है उसे हेतु-पद[3] कहते हैं, क्योंकि निष्कर्ष-वाक्य में 'उ' और 'वि' के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का वही 'हेतु' होता है। इसे 'उभय-सम्बद्ध पद' भी कहते हैं, क्योंकि इसका 'उ' और 'वि' दोनो से अलग अलग सीधा सम्बन्ध है। इसे 'माध्यम-

---

[1] Conclusion. [2] Premise.
[3] Middle Term.

पद' भी कहते हैं, क्योंकि यही 'उ' और 'वि' में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम है। इसे 'घटक-पद', तथा 'परिचायकपद' भी कह सकते हैं, क्योंकि यही 'उ' को 'वि' के साथ मिला देता है, उसका उससे परिचय करा देता है। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' है,
सभी 'उ' 'हे' है,
∴ सभी 'उ' 'वि' है।[1]

वास्तविक उदाहरण में—

सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' हैं,
सभी 'योगी' 'मनुष्य' हैं,
∴ सभी 'योगी' 'मरणशील' हैं।

यहां, आधार-वाक्यों में 'योगी' और 'मरणशील' पदों में सीधा=अनन्तर सम्बन्ध नहीं है। उन दोनों का अलग अलग सीधा सम्बन्ध एक तीसरे पद 'मनुष्य' से है। उसी के आधार पर निष्कर्ष वाक्य में 'योगी' और 'मरणशील' के बीच सम्बन्ध सिद्ध हुआ है।

क्योंकि इस प्रक्रिया में 'उ' और 'वि' के बीच एक तीसरे पद—हेतु—के माध्यम से सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है, इसलिए इसे परंपरानुमान[2] कहते हैं।

'तर्कशास्त्र' के लेखक श्री गुलाबराय ने अनन्तरानुमान को "अलैंगिक या अव्यवहित अनुमान", तथा परंपरानुमान को "लैंगिक या व्यवहित अनुमान" कहा है। यह ठीक नहीं है। लिंग—धूम्र—के दर्शन से

---

[1] All M is P.
All S is M.
∴ All S is P.

[2] Mediate Inference.

अनुमान प्रारम्भ होता है, यह भारतीय न्यायशास्त्र की पद्धति है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र की पद्धति भिन्न है। इसके अनुसार 'परपरानुमान' का 'हेतु-पद' लिङ्ग=सकेत मात्र नही है, किंतु यहा इसका सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। इसमे वह शक्ति है जिससे वह 'उ' और 'वि' को मिला सकता है। 'परंपरानुमान' को "व्यवहित अनुमान" कहना भी ठीक नही। यदि हेतु-पद व्यवधान=रुकावट का काम करता तो 'उ' और 'वि' कभी मिल ही नहीं सकते। इसके विरुद्ध, हेतु-पद तो दोनोंके बीच मे रह कर दोनों को मिलाने वाला है।

कुछ विद्वानो के अनुसार 'परंपरानुमान' को 'सहेतुकानुमान' और 'अनन्तरानुमान' को 'अहेतुकानुमान' कहना अच्छा होगा। परपरानु-मान को तो सहेतुकानुमान मजे मे कह सकते है; किंतु अनन्तरानुमान को अहेतुकानुमान कहना ठीक नही। बिना हेतु के कोई अनुमान हो ही नही सकता। अनन्तरानुमान में कोई 'माध्यम-पद' हेतु नही है, किंतु यहा आधार-वाक्य में पदों के बीच जो सम्बन्ध है वही हेतु है, क्योकि इसी के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है।

'अनन्तरानुमान' यह सूचित करता है कि इसके आधार-वाक्य में 'उ' और 'वि' पदो के बीच अनन्तर=सीधा सम्बन्ध है, किसी अन्यपद के माध्यम से नही। अंगरेजी में इसे Immediate Inference. कहते है, जिसका शाब्दिक अर्थ भी आनन्तर्य का है।

§ २—पद-व्यत्यय[1]

'पद-व्यत्यय' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें आधार-वाक्य के उद्देश और विधेय पदों का निष्कर्ष-वाक्य में विधिवत् व्यत्यय हो जाता है।

इस अनुमान के आधार-वाक्य को व्यत्येय,[2] और निष्कर्ष-वाक्य को व्यत्यस्त[3] कहते है।

---

[1] Conversion. [2] Convertend. [3] Converse.

'पद-व्यत्यय' करने के नियम ये है—

(१) व्यत्येय-वाक्य का उद्देश व्यत्यस्त-वाक्य मे विधेय, और उसका विधेय इसमें उद्देश हो जाता है।

(२) व्यत्यस्त-वाक्य का 'गुण' (=Quality) वही रहता है जो व्यत्येय-वाक्य का है।

(३) व्यत्यस्त-वाक्य मे ऐसा कोई पद सर्वांशी नही हो सकता जो व्यत्येय-वाक्य मे असर्वांशी है।

इन नियमो का प्रयोग करके देखें कि चार रूपों में वाक्य के व्यत्यय किस प्रकार होंगे—

(क) 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ए' अथवा 'ओ' वाक्य नही हो सकता, क्योंकि दूसरे नियम के अनुसार उसका व्यत्यस्त विधानात्मक वाक्य ही होगा। तब, यह या तो 'आ' होगा, या 'ई'। किंतु यह 'आ' नही हो सकता। क्यो? यदि 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'आ' माने, तो यह आपत्ति आती है कि व्यत्येय का विधेय असर्वांशी होते हुए भी व्यत्यस्त में उद्देश बन कर सर्वांशी हो जाता है। यह तीसरे नियम का उल्लघन हुआ। अत., 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ई' वाक्य ही होगा। इसमें कोई आपत्ति नही आती।

हां, 'आ' वाक्य यदि 'समव्याप्तिक' हो, तो उसका व्यत्यस्त 'आ' वाक्य ही हो सकता है। जैसे, 'सभी त्रिभुज तीन-भुजाओ के क्षेत्र है' इस वाक्य का व्यत्यस्त होगा—'सभी तीन-भुजाओ के क्षेत्र त्रिभुज है'। किंतु ऐसे समव्याप्तिक वाक्य के उदाहरण अत्यन्त ही विरले है।

'आ' वाक्य के विधेय प्राय. असर्वांशी ही होते है। उनका व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होगा। जैसे—

व्यत्येय—	सभी 'क' 'ख' है,	सभी 'भारतीय' 'मनुष्य' है
व्यत्यस्त—	∴ कुछ 'ख' 'क' है।	∴ कुछ 'मनुष्य' 'भारतीय' है।

(ख) 'ए' वाक्य का व्यत्यस्त, दूसरे नियम के अनुसार, निषेधात्मक ही होगा। 'ए' वाक्य के दोनों पद सर्वांशी है, अतः इसके व्यत्यस्त में तीसरे नियम के भङ्ग होने का कोई भय नही है। इसलिए, 'ए' वाक्य का व्यत्यस्त 'ए' वाक्य ही होगा। जैसे—

व्यत्येय— कोई 'क' 'ख' नही है, कोई 'मनुष्य 'अमर' नही है,
व्यत्यस्त—∴ कोई 'ख' 'क' नही है। ∴ कोई 'अमर' 'मनुष्य' नही है।

(ग) 'ई' वाक्य का व्यत्यस्त विधानात्मक वाक्य ही होना चाहिए। 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वांशी नही है, इसलिए इसका व्यत्यस्त 'आ' नही हो सकता, क्योंकि 'आ' वाक्य का उद्देश सर्वांशी होता है। तव, 'ई' वाक्य का व्यत्यस्त 'ई' वाक्य ही होगा। जैसे—

व्यत्येय— कुछ 'क' 'ख' है, कुछ 'धातु' 'बहुमूल्य' है,
व्यत्यस्त—∴ कुछ 'ख' 'क' है। ∴ कुछ 'बहुमूल्य (पदार्थ)' 'धातु' है।

हा, जिस अवस्था मे 'ई' वाक्य का विधेय सर्वांशी है उसमें इसका व्यत्यस्त 'आ' भी हो सकता है [पृ० १०९। 'ई-वि-आ']। जैसे—

व्यत्येय— कुछ पशु घोड़े है,
व्यत्यस्त—∴ सभी घोड़े पशु है।

किंतु, अमुक 'ई' वाक्य का विधेय सर्वांशी है या नही यह निश्चय करने के लिए उस विषय का पूरा ज्ञान चाहिए, जिसका आश्वासन तर्कशास्त्र नही दे सकता। तर्कशास्त्र में तो उसी रूप की स्थापना होगी जिसका कही व्यभिचार न हो। अतः 'ई' का व्यत्यस्त 'ई' ही होगा।

(घ) 'ओ' वाक्य का व्यत्यस्त निषेधात्मक वाक्य ही होना चाहिए। यह 'ए' वाक्य नही हो सकता, क्योंकि 'ए' वाक्य मे दोनों पद सर्वांशी होते है, और व्यत्येय 'ओ' वाक्य मे एक ही पद सर्वांशी है। तब, दूसरे पद को, व्यत्येय में असर्वांशी होते हुए, व्यत्यस्त में सर्वांशी होना पडेगा, जो तीसरे नियम के विरुद्ध है। 'ओ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ओ' वाक्य भी नही

हो सकता। इसमे यह आपत्ति आएगी कि व्यत्येय का उद्देश असर्वांगी होते हुए भी, व्यत्यस्त मे विधेय बन कर सर्वांगी बन जायगा। यह तीसरे नियम का उल्लंघन होगा।

अतः, 'ओ' वाक्य का व्यत्यय किया ही नही जा सकता।

निचोड़ यह हुआ कि—'आ' का व्यत्यस्त 'ई', 'ए' का 'ए', और 'ई' का 'ई' होगा। किंतु, 'ओ' वाक्य का व्यत्यय होगा ही नही।

व्यत्यय के दो रूप

मालूम हुआ कि व्यत्यय के दो रूप है—एक वह जिसमे व्यत्येय और व्यत्यस्त के 'अग' समान रहते है, और दूसरा वह जिसमें सामान्य व्यत्येय का व्यत्यस्त विशेष हो जाता है। पहले रूप को समव्यत्यय[1], और दूसरे को विषम-व्यत्यय[2] कहते है। 'ए', 'ई', और समव्याप्तिक 'आ' वाक्यो के सम-व्यत्यय होते है; क्योकि उनके व्यत्यस्त के अग व्यत्येय से भिन्न नही होते। विषम-व्याप्तिक 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होता है; यही एक 'विषम-व्यत्यय' का उदाहरण है।

निषेधमुख से व्यत्यय[3]—ऊपर देख चुके है कि 'ओ' वाक्य का व्यत्यय हो ही नहीं सकता। कुछ तर्कशास्त्रियो ने निषेधमुख से इसका व्यत्यय करना शक्य बताया है। वे 'ओ' वाक्य के निषेध-सूचक शब्द 'न=नही=अ' को विधेय-पद से सयुक्त करके वाक्य को विधानात्मक रूप दे देते है। इस तरह, 'ओ' वाक्य 'ई' वाक्य मे परिणत हो जाता है। तब, उसका व्यत्यय मजे में कर सकते है। जैसे—

'ओ' वाक्य

कुछ 'क' 'ख' नहीं है,

= कुछ 'क' 'ख-नही' है,

---

[1] Simple Conversion. [2] Conversion per accident. [3] Conversion by Negation.

∴ कुछ 'ख-नही' 'क' है।

वास्तविक उदाहरण में—

कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही हैं,
= कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञानी' है,
∴ कुछ 'अज्ञानी' 'मनुष्य' है।

यथार्थ में यह व्यत्यय विधिपूर्वक नही है। इसमे व्यत्यय के दूसरे नियम का उल्लंघन हो गया है। निषेधात्मक व्यत्येय का व्यत्यस्त विधानात्मक नही होना चाहिए था। फिर, यहा व्यत्यस्त का उद्देश व्यत्येय का विधेय न हो कर उसका 'विरुद्ध-पद' है।

सम्बन्ध-व्यत्यय[1]—यदि वाक्य के दोनो पद परस्पर सम्बद्ध हो, तो उसका व्यत्यय उसी सम्बन्ध के अनुकूल होगा। जैसे—

सोहन मोहन का पिता है,
∴ मोहन सोहन का पुत्र है।
'क' 'ख से छोटा' है
∴ 'ख' 'क से वडा' है।

तर्कशास्त्र के लिए ऐसे व्यत्यय का कोई महत्व नही है। इसकी सिद्धि के कोई रूप नही वनाए जा सकते। इनका आधार तो विपय का ज्ञान ही है।

§ ३—परिवर्तन[2]

'परिवर्तन' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें आधार-वाक्य के गुण[3] का परिवर्तन करके निष्कर्ष-वाक्य सिद्ध होता है।

---

[1] Inference by Converse Relation.
[2] Obversion. [3] Quality.

यदि आधार-वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य विधानात्मक, और यदि आधार-वाक्य विधानात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य निषेधात्मक हो जाता है। यह अनुमान निम्न दो नियमों पर आश्रित है—

(१) किसी बात का विधान करना या उसके 'विरुद्ध' का निषेध करना, दोनों बराबर हैं। जैसे—

'क' 'ख' है='क' 'नहीं-ख' नहीं है।
'मनुष्य' 'ज्ञानी' है='मनुष्य' 'अज्ञानी' नहीं है।
'घोड़ा' 'पशु' है='घोड़ा' 'अ-पशु' नहीं है।

(२) किसी बात का निषेध करना या उस बात के 'विरुद्ध' का विधान करना, दोनों बराबर है। जैसे—

'क' 'ख' नहीं है='क' 'नहीं-ख' है।
'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं है='मनुष्य' 'अज्ञानी' है।
'मनुष्य' 'घोड़ा' नहीं है='मनुष्य' 'अ-घोड़ा' है।

विधानात्मक वाक्य का 'परिवर्तनानुमान' पहले नियम, और निषेधात्मक वाक्य का दूसरे नियम के अनुसार होता है। इसके आधार-वाक्य को परिवर्त्य[1], और निष्कर्ष-वाक्य को परिवर्तित[2] कहते हैं। इस अनुमान के नियम ये हैं—

(१) 'परिवर्त्य' का जो उद्देश है वही 'परिवर्तित' का भी उद्देश होगा।

(२) 'परिवर्तित' का विधेय 'परिवर्त्य' के विधेय का 'विरुद्ध पद' होगा।

(३) 'परिवर्तित' का गुण 'परिवर्त्य' के गुण का ठीक उलटा होगा। अर्थात्, यदि परिवर्त्य विधानात्मक हो तो उसका परिवर्तित निषेधात्मक, और यदि परिवर्त्य निषेधात्मक हो तो उसका परिवर्तित विधानात्मक होगा।

---

[1] Obvertend. [2] Obverse.

(४) 'परिवर्त्य' का जो 'अग' है वही परिवर्तित का भी होगा। अर्थात्, यदि परिवर्त्य सामान्य है तो परिवर्तित भी सामान्य, और यदि परिवर्त्य विशेष है तो परिवर्तित भी विशेष होगा।

प्रक्रिया—किसी वाक्य को परिवर्तित करने का सीधा तरीका यह है कि उसके विधेय का विरुद्ध-पद ले ले, और उसके 'सयोजक' का 'गुण' वदल दें। जैसे—

(क) 'आ' वाक्य का 'परिवर्तित' 'ए' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
सभी 'क' 'ख' है,	∴ कोई 'क' 'अ-ख' नही है।
सभी 'मनुष्य' 'मरने वाले' है,	∴ कोई 'मनुष्य' 'नही-मरने-वाला' नही है।
सभी 'घोडा' 'पशु' है,	∴ कोई 'घोडा' 'अ-पशु' नही है।

(ख) 'ए' वाक्य का परिवर्तित 'आ' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
कोई 'क' 'ख' नही है,	∴ सभी 'क' 'नही-ख' है।
कोई 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही है,	∴ सभी 'मनुष्य' 'अज्ञानी' है।
कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है,	∴ सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है।
कोई 'लडका' 'अक्ल वाला' नही है,	∴ सभी 'लडके' 'वे-अक्ल' है।

(ग) 'ई' वाक्य का परिवर्तित 'ओ' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
कुछ 'क' 'ख' है,	∴ कुछ 'क' 'नही-ख' नही है।
कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' है।	∴ कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञानी' नही है।
कुछ 'लडके' 'अक्ल वाले' है।	∴ कुछ 'लडके' 'वेअक्ल' नही है।

(घ) 'ओ' वाक्य का परिवर्तित 'ई' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य		परिवर्तित
कुछ 'क' 'ख' नहीं है,	∴	कुछ 'क' 'नहीं-ख' है ।
कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं है,	∴	कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञानी' है ।

तब, सब को एक साथ कह सकते है कि—'आ' का परिवर्तित 'ए', 'ए' का 'आ', 'ई' का 'ओ', तथा 'ओ' का 'ई' होता है ।

वस्तुभूत परिवर्तन[1]—तर्कशास्त्री बेन इन रूपो के अलावे एक दूसरे प्रकार का 'परिवर्तन' बताता है, जो वस्तु की परीक्षा और अनुभूति से प्राप्त होता है । जैसे—

ठंड सुखद है,	∴	गर्म दुःखद है ।
युद्ध अनर्थकारी है,	∴	शान्ति उन्नतिकारी है ।
ज्ञान प्रकाश-स्वरूप है,	∴	अज्ञान अंधकार-स्वरूप है ।
मित्र प्रिय होता है,	∴	शत्रु अप्रिय होता है ।

बेन महाशय स्वयं इस प्रकार के 'परिवर्तन' को ऊपर से सर्वथा भिन्न मानते है । यहा, 'परिवर्तन' के किसी भी नियम का पालन नही किया गया है । पहला नियम यह था कि, परिवर्तित का उद्देश वही रहता है जो परिवर्त्य का है । किन्तु, यहा वह उसका विरुद्ध-पद है । फिर, एक मुख्य नियम यह था कि परिवर्तित का गुण परिवर्त्य से उलटा हो जाता है : किन्तु यहा दोनो का गुण एक ही है । इन अनुमानो का आधार वस्तु-भूत की परीक्षा और अनुभूति है । उनके रूप निश्चय नही किए जा सकते । अतः, वे तर्कशास्त्र के अनुमान की कोटि मे नही आते ।

§ ४—परिवर्तित-व्यत्यय[2]

'परिवर्तित-व्यत्यय' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के विधेय का विरुद्ध-पद हो ।

---

[1] Material Obversion. [2] Contraposition.

इस अनुमान के आधारवाक्य को 'परिवर्तितव्यत्येय'[1], और निष्कर्ष-वाक्य को 'परिवर्तितव्यत्यस्त'[2] कहते है।

इस अनुमान की प्रक्रिया के नियम ये हैं—

(१) निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के विधेय का विरुद्ध-पद होता है।

(२) निष्कर्ष-वाक्य का विधेय आधार-वाक्य का उद्देश-पद होता है।

(३) निष्कर्ष-वाक्य का गुण[3] आधार-वाक्य के गुण का उलटा हो जाता है। अर्थात्, यदि आधार-वाक्य विधानात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य निषेधात्मक, और यदि आधार-वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य विधानात्मक हो जाता है।

(४) जो पद आधार-वाक्य मे असर्वांशी है वह निष्कर्ष-वाक्य मे सर्वांशी नही हो सकता।

प्रक्रिया—'परिवर्तित-व्यत्यय' करने का सीधा तरीका यह है कि पहले वाक्य का 'परिवर्तन' करे, और फिर उस निष्कर्ष का 'व्यत्यय' कर ले। इस तरह, यह प्रक्रिया 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' दोनो का सयुक्त रूप है।

(क) 'आ' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यस्त 'ए' वाक्य होता है। जैसे—

क.	सभी 'क' 'ख' है,	'आ'
ख =	कोई 'क' 'नही-ख' नही है,	'ए'
ग =	कोई 'नही-ख' 'क' नही है।	'ए'

(क) आधार-वाक्य है, (ख) उसका 'परिवर्तित' रूप है, और (ग) उसका भी 'व्यत्यस्त' रूप है। यही तीसरा वाक्य 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' हुआ, क्योंकि इसका उद्देश 'नही-ख' मूल आधार-वाक्य के विधेय का विरुद्ध-पद है।

---

[1] अंगरेजी में कोई नाम नहीं है
[2] Contrapositive. [3] Quality.

वास्तविक उदाहरण—

सभी 'मनुष्य' 'मरने वाले' है,
= कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है,
∴ कोई 'अमर' 'मनुष्य' नही है।

(ख) 'ए' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होता है। जैसे—

कोई 'क' 'ख' नही है,	'ए'
= सभी 'क' 'नही- ख' है,	'आ'
∴ कुछ 'नही-ख' 'क' है।	'ई'

वास्तविक उदाहरण—

कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है,
= सभी 'मनुष्य' 'मरने वाले' है,
∴ कुछ 'मरने वाले' 'मनुष्य' है।

(ग) 'ई' वाक्य का 'परिवर्तित-व्यत्यय' नहीं होता। क्योकि, 'ई' वाक्य का 'परिवर्तित' रूप 'ओ' होता है, और 'ओ' वाक्य का व्यत्यय नहीं होता। अत., 'ई' वाक्य का 'परिवर्तित-व्यत्यय' नही हो सकता।

(घ) 'ओ' वाक्य का 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' 'ई' वाक्य होता है। क्योंकि, 'ओ' वाक्य का 'परिवर्तित' रूप 'ई' होता है, और उसका व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होता है। जैसे—

कुछ 'क' 'ख' नही है,
= कुछ 'क' 'नही-ख' है,
∴ कुछ 'नही-ख' 'क' है।

इस तरह, 'आ' का परिवर्तित-व्यत्यस्त 'ए', 'ए' का 'ई', तथा 'ओ' का 'ई' होता है। और, 'ई' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यय होता ही नही।

परिवर्तित-व्यत्यय सीधा सम्भव नही

'परिवर्तितव्यत्यय' की प्रक्रिया मे दो प्रक्रियाओ का सयोग है। 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय', इन दोनो का विना क्रमश. प्रयोग किए, यदि हम इसके नियमो को सीधा लगा कर वाक्य से निष्कर्ष निकालना चाहे तो ठीक नही।

नियमो को सीधे लगा कर देखे—

'आ'—सभी 'मनुष्य' 'प्राणी' है,
∴ कोई 'अ-प्राणी' 'मनुष्य' नहीं है।
'ओ'—कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही है,
∴ कुछ 'अज्ञानी' 'मनुष्य' है।

इन दोनो का निष्कर्ष ठीक निकला। सभी नियमो का भी पालन हो गया। आधार-वाक्य के विधेय के विरुद्ध-पद को निष्कर्ष-वाक्य मे उद्देश बनाया। आधार-वाक्य के उद्देश को निष्कर्ष-वाक्य मे विधेय बनाया। उनके 'गुण' को भी बदल दिया। 'आ' वाक्य का विधेय-पद निष्कर्ष मे आ कर सर्वांशी हो गया है, ऐसा सदेह भी नही होना चाहिए। क्योंकि, आधार-वाक्य का विधेय-पद 'प्राणी' निष्कर्ष वाक्य के उद्देश-पद 'अप्राणी' से भिन्न है। इस तरह, परिवर्तित-व्यत्यय के नियमो को सीधे लगा कर, पहले 'परिवर्तन' और फिर 'व्यत्यय' करने की लम्बी प्रक्रिया से विना गुजरे, 'आ' और 'ओ' वाक्यो के 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' निकाले जा सकते है। तब, क्या वह लम्बी प्रक्रिया निरर्थक है? नही, इस प्रक्रिया की तर्कशास्त्रीय आवश्यकता तब प्रगट होती है जब हम 'ए' वाक्य पर नियमो को सीधे लगा कर उसका 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' निकालने का प्रयत्न करते है। जैसे—

'ए'—कोई 'कुत्ता' 'बिल्ली' नही है,
∴ सभी 'गैर-बिल्ली' 'कुत्ते' है।

इस उदाहरण में 'ए' वाक्य पर सभी नियमो को सीधे लागू कर निष्कर्ष निकाला है। आधार-वाक्य के विधेय 'बिल्ली' के विरुद्ध-पद 'गैर-बिल्ली' को निष्कर्ष-वाक्य में उद्देश बनाया। आधार-वाक्य के उद्देश 'कुत्ता' को निष्कर्ष-वाक्य में विधेय बनाया। आधार-वाक्य निषेधात्मक था, अतः निष्कर्ष-वाक्य को विधानात्मक बनाया। आधार-वाक्य के किसी असर्वांगी पद के निष्कर्ष-वाक्य मे सर्वांगी होने का भी दोष नही है।

सब नियमो का पालन होने पर भी निष्कर्ष ठीक नही निकला। "सभी गैर-बिल्ली" कुत्ते नही हैं। मनुष्य, गाय, घोडा सभी 'गैर-बिल्ली' हैं। इसलिए, कुछ ही 'गैर-बिल्ली' कुत्ते हो सकते है, सभी नही।

'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' की सयुक्त प्रक्रिया से ही निष्कर्ष निश्चय-पूर्वक ठीक होता है। जैसे—

ए—कोई 'कुत्ता' 'बिल्ली' नही है,
= सभी 'कुत्ता' 'गैर-बिल्ली' है,
∴ कुछ 'गैर-बिल्ली' 'कुत्ता' है।

अतः, 'परिवर्तित-व्यत्यय' अनन्तरानुमान का कोई शुद्ध रूप नही, किंतु 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' का मिश्र रूप ही है।

§ ५—विपर्यय[1]

'विपर्यय' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के उद्देश का विरुद्ध-पद होता है।

इसके आधार-वाक्य को विपर्येय[2], और निष्कर्ष-वाक्य को विपर्यस्त[3] कहते है। 'विपर्यय' दो प्रकार का होता है—'पूर्ण-विपर्यय'[4] और 'अपूर्ण-विपर्यय'[5]। 'पूर्ण-विपर्यय' में 'विपर्यस्त' का विधेय भी 'विपर्येय' के विधेय

---

[1] Inversion [2] Invertend [3] Inverse
[4] Complete Inversion. [5] Partial Inversion

का विरुद्ध-पद होता है। किंतु, 'अपूर्ण-विपर्यय' मे 'विपर्यय' का विधेय उसी रूप मे 'विपर्यस्त' का भी विधेय होता है।

विपर्यय के नियम ये हैं—

(१) विपर्यस्त का उद्देश विपर्यय के उद्देश का विरुद्ध-पद होता है।

(२) 'पूर्ण-विपर्यय' मे विपर्यस्त का विधेय भी विपर्यय के विधेय का विरुद्ध-पद होता है। किंतु, 'अपूर्ण-विपर्यय' मे विपर्यस्त का विधेय वही होता है जो 'विपर्यय' का विधेय हो।

(३) 'विपर्यय' अनुमान केवल सामान्य-वाक्य का होता है, विशेष-वाक्य का नही। और, उसका 'विपर्यस्त' बराबर विशेष-वाक्य होता है, सामान्य नही।

(४) 'पूर्ण-विपर्यय' मे विपर्यस्त का 'गुण' विपर्यय के गुण के समान ही होता है। अपूर्ण-विपर्यय मे विपर्यस्त का गुण विपर्यय के गुण का उलटा होता है।

प्रक्रिया

'परिवर्तित-व्यत्यय' की तरह, 'विपर्यय' भी 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' का मिश्र रूप है। इसकी प्रक्रिया यह है कि, किसी एक से प्रारम्भ कर, 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' से लगातार वाक्य का निष्कर्ष निकालते जाय जब तक कि निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के उद्देश का विरुद्ध-पद न हो जाय।

(क) 'आ' वाक्य—'परिवर्तन' से प्रारम्भ कर इस प्रकार अपेक्षित निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है—

विपर्यय— सभी 'क' 'ख' है,
(उसका परिवर्तित) = कोई 'क' 'नही-ख' नही है,
(उसका व्यत्यस्त) = कोई 'नही-ख' 'क' नही है,
(उसका परिवर्तित) = सभी 'नही-ख' 'नही-क' है,
(उसका व्यत्यस्त) ∴ कुछ 'नही-क' 'नही-ख' है, पूर्ण-विपर्यस्त

(उसका परिवर्तित) . . कुछ 'नहीं-क' 'ख' नहीं है। अपूर्ण-विपर्यस्त

यदि इस प्रक्रिया को 'व्यत्यय' से प्रारम्भ करें तो 'विपर्यस्त' प्राप्त होने के पूर्व ही रुक जाना पड़ेगा।

जैसे—

सभी 'क' 'ख' है —'आ'
कुछ 'ख' 'क' है —'ई'
= कुछ 'ख' 'नहीं-क' नहीं है —ओ

अब, इनका व्यत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि यह 'ओ' वाक्य है।

अत, 'आ' वाक्य का विपर्यस्त निकालने के लिए प्रक्रिया को 'परिवर्तन' से प्रारम्भ करना होगा। उसका पूर्ण-विपर्यस्त 'ई' वाक्य, और अपूर्ण-विपर्यस्त 'ओ' वाक्य होता है।

(ख) 'ए' वाक्य का विपर्यस्त निकालने के लिए प्रक्रिया को 'व्यत्यय' से प्रारम्भ करना होगा। 'परिवर्तन' से प्रारम्भ करने से अपेक्षित निष्कर्ष प्राप्त करने के पूर्व ही रुक जाना पड़ता है, क्योंकि, 'ए' का परिवर्तित 'आ' हुआ, उसका व्यत्यस्त 'ई' हुआ, और उसका परिवर्तित 'ओ' हुआ, जिसका व्यत्यय नहीं हो सकता।

प्रक्रिया को व्यत्यय से प्रारम्भ कर 'ए' वाक्य का विपर्यस्त इस प्रकार निकाला जा सकता है—

विपर्यय— कोई 'क' 'ख' नहीं है, 'ए'
(उसका व्यत्यस्त) = कोई 'ख' 'क' नहीं है, 'ए'
(उसका परिवर्तित) = सभी 'ख' 'नहीं-क' है, 'आ'
(उसका व्यत्यस्त) .˙. कुछ 'नहीं-क' 'ख' है, अपूर्ण विपर्यस्त 'ई'
पूर्ण विपर्यस्त ˙. कुछ 'नहीं-क' 'नहीं-ख' नहीं है, (उसका परिवर्तित) 'ओ'

अत., 'ए' वाक्य का विपर्यस्त निकालने के लिए प्रक्रिया को 'व्यत्यय'

से प्रारम्भ करना होगा। उसका पूर्ण-विपर्यस्त 'ओ' वाक्य, और अपूर्ण-विपर्यस्त 'ई' वाक्य होता है।

'ई' तथा 'ओ', इन विशेष-वाक्यो का 'विपर्यय' नही होता, यह तो इस अनुमान के नियमो मे ही कहा जा चुका है। फिर भी, प्रक्रिया को उन पर लागू करके देख ले कि किस तरह अपेक्षित निष्कर्ष प्राप्त होने के पूर्व ही 'ओ' वाक्य के व्यत्यय की बात से बीच ही मे रुक जाना पडता है—

(ग) 'ई' वाक्य—

'व्यत्यय' से प्रारम्भ कर

	विपर्यय—कुछ 'क' 'ख' है,	'ई'
(उसका व्यत्यस्त)	= कुछ 'ख' 'क' है,	'ई'
(उसका परिवर्तित)	= कुछ 'ख' 'नही-क' नही है,	'ओ'

अब, इसका व्यत्यय नही हो सकता।

'परिवर्तन' से प्रारम्भ कर

	विपर्यय—कुछ 'क' 'ख' है,	'ई'
(उसका परिवर्तित)	= कुछ 'क' 'नही-ख' नही है,	'ओ'

अब, इसका व्यत्यय नही हो सकता।

(घ) 'ओ' वाक्य

'ओ' वाक्य का 'व्यत्यय' होता ही नही, इसलिए 'परिवर्तन' से प्रक्रिया को प्रारम्भ करके देखें—

	विपर्यय—कुछ 'क' 'ख' नही है,	'ओ'
(उसका परिवर्तित)	= कुछ 'क' 'नही-ख' है,	'ई'
(उसका व्यत्यस्त)	= कुछ 'नही-ख' 'क' है,	'ई'
(उसका परिवर्तित)	= कुछ 'नही-ख' 'नही-क' नही है,	'ओ'

अब, इसका व्यत्यय नही हो सकता।

तब, कह सकते हैं कि—

(१) विशेष-वाक्यों का विपर्यय हो ही नहीं सकता।

(२) सामान्य-वाक्यों के पूर्ण-विपर्यस्त के 'गुण' अपने विपयय के समान होंगे, और उनके अपूर्ण-विपर्यस्त के 'गुण' अपने विपर्यय से ठीक उलटे होंगे : क्योंकि, 'आ' का पूर्ण विपर्यस्त 'ई', तथा 'ए' का 'ओ' है : और 'आ' का अपूर्ण-विपर्यस्त 'ओ', तथा 'ए' का 'ई' है।

अनन्तरानुमान के यही चार—व्यत्यय, परिवर्तन, परिवर्तित-व्यत्यय, और विपर्यय—रूप मुख्य हैं। चारो के एक साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए निम्न तालिका दी जाती है—

'आ' वाक्य

आधार वाक्य	सभी 'क' 'ख' हैं	सभी 'पंजाबी' 'भारतीय' हैं
१. व्यत्यय	कुछ 'ख' 'क' हैं	कुछ 'भारतीय' 'पजाबी' हैं
२. परिवर्तन	कोई 'क' 'नही-ख' नही है	कोई 'पजाबी' 'अभारतीय' नहीं है
३. परिवर्तित-व्यत्यय	कोई 'नही-ख' 'क' नहीं है	कोई 'अभारतीय 'पजाबी' नही है
४. विपर्यय	कुछ 'नही-क' 'नही-ख' है अथवा कुछ 'नही-क' 'ख' नही है	कुछ 'अपजाबी' 'अभारतीय है अथवा कुछ 'अपजाबी' 'भारतीय' नहीं है

चारो वाक्यो के निष्कर्ष इन चारो अनुमानो मे किस प्रकार होते है सो निम्न तालिका से प्रकट होगा—

आधार-वाक्य	व्यत्यस्त	परिवर्तित	परिवर्तित-व्यत्यस्त	विपर्यस्त पूर्ण अपूर्ण
'आ'	'ई'	'ए'	'ए'	'ई', 'ओ'
'ए'	'ए'	'आ'	'ई'	'ओ', 'ई'
'ई'	'ई'	'ओ'		
'ओ'		'ई'	'ई'	

§ ६—वाक्य के बलाबल पर अनुमान[1]

'बलाबल' की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के है—निश्चित, प्रतिज्ञात और संदिग्ध। इनमें एक प्रकार के आधार पर दूसरे प्रकार का अनुमान किया जा सकता है। इसे 'वाक्य के बलाबल पर अनुमान' कहते है। यह भी अनन्तरानुमान का एक रूप है। इसके नियम ये है—

पहला नियम—किसी अधिक 'बल' वाले वाक्य के सत्य होने से उससे कम बल वाले वाक्य भी अवश्य सत्य होगे, किंतु इसका प्रतिलोम नहीं।

यदि कोई 'निश्चित वाक्य' सत्य हो तो उसके 'प्रतिज्ञात' तथा 'संदिग्ध' रूप अवश्य सत्य होगे। जैसे, 'क' 'ख' अवश्य है, यदि यह वाक्य सत्य हो तो 'क' 'ख' है, और कदाचित् 'क' 'ख' है, अवश्य सत्य होगे।

---

[1] Modal Consequence.

उसी तरह, यदि 'क' 'ख' है, यह वाक्य सत्य हो तो उसका 'सदिग्ध-रूप' कदाचित् 'क' 'ख' है अवश्य सत्य होगा। किंतु इस नियम का प्रतिलोभ ठीक नहीं उतरता। 'सदिग्ध' वाक्य के सत्य होने से 'प्रतिज्ञात' या 'निश्चित' वाक्य की सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती।

दूसरा नियम—किसी कम 'बल' वाले वाक्य के असत्य होने से उससे अधिक बल वाले वाक्य भी असत्य होंगे, किंतु इसका प्रतिलोम नहीं।

यदि कोई 'सदिग्ध वाक्य असत्य हो तो उसके 'प्रतिज्ञात' तथा 'निश्चित' रूप भी अवश्य असत्य होंगे। अथवा, यदि कोई 'प्रतिज्ञात वाक्य' असत्य हो तो उसका 'निश्चित' रूप भी अवश्य असत्य होगा। जैसे, कदाचित् 'क' 'ख' है, इस वाक्य में सत्यता यदि नहीं है तो 'क' 'ख' है या 'क' 'ख' अवश्य है, इन वाक्यों का असत्य होना जरूर है। उसी तरह, यदि 'क' 'ख' है, यह वाक्य असत्य है तो 'क' 'ख' अवश्य है यह वाक्य भी अवश्य असत्य होगा। किंतु, इस नियम का प्रतिलोम ठीक नहीं उतरता। 'निश्चित' वाक्य की असत्यता से 'प्रतिज्ञात' या 'सदिग्ध' की, अथवा 'प्रतिज्ञात' की असत्यता से 'सदिग्ध' की असत्यता सिद्ध नहीं होगी।

§ ७—वाक्य के सम्बन्ध का परस्पर रूपान्तर[1]

ऊपर देख चुके हैं कि सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—निरपेक्ष, हेतुफलाश्रित और वैकल्पिक। इनमें एक प्रकार के वाक्य को दूसरे प्रकार के वाक्य में रूपान्तर किया जा सकता है। इसे 'वाक्य के सम्बन्ध का परस्पर रूपान्तर' कहते हैं। यह भी अनन्तरानुमान का एक रूप है।

वाक्य के सम्बन्ध का परस्पर रूपान्तर चार प्रकार से हो सकता है—

(१) निरपेक्ष वाक्य को हेतुफलाश्रित वाक्य बनाना।

(२) हेतुफलाश्रित वाक्य को निरपेक्ष वाक्य बनाना।

(३) वैकल्पिक वाक्य के कई हेतुफलाश्रित वाक्य बनाना।

---

[1] Change of Relation.

(४) कई हेतुफलाश्रित वाक्यो से एक वैकल्पिक वाक्य बनाना।

* * * *

निरपेक्ष और हेतुफलाश्रित वाक्यो को परस्पर रूपान्तर करने के लिए इन बातो को ख्याल रखना जरूरी है—

(क) हेतुफलाश्रित वाक्य मे 'हेतु' का स्थान वही है जो निरपेक्ष वाक्य मे उद्देश का है।

(ख) हेतुफलाश्रित वाक्य में 'फल' का स्थान वही है जो निरपेक्ष वाक्य मे विधेय का है।

(ग) हेतुफलाश्रित वाक्य का 'अंश' वही समझा जायगा जो उसके 'हेतु' मे व्यक्त हुआ है।

(घ) हेतुफलाश्रित वाक्य का 'गुण' वही समझा जायगा जो उसके 'फल' में व्यक्त हुआ है।

(१) निरपेक्ष से हेतुफलाश्रित

निरपेक्ष	हेतुफलाश्रित
'आ'—सभी 'क' 'ख' है	= यदि 'क' है, तो 'ख' है
सभी मनुष्य मरणशील है	= यदि मनुष्य है, तो मरणशील है
'ए'—कोई 'क' 'ख' नही है	= यदि 'क' है, तो 'ख' नही है
कोई मनुष्य अमर नही है	= यदि मनुष्य है, तो अमर नही है
'ई'—कुछ 'क' 'ख' है	= यदि कुछ अवस्थाओ मे 'क' है, तो 'ख' है
कुछ मनुष्य पण्डित है	= यदि कुछ अवस्थाओ मे मनुष्य है, तो पण्डित है।
'ओ'—कुछ 'क' 'ख' नही है	= यदि कुछ अवस्थाओ मे 'क' है, तो 'ख' नही है
कुछ मनुष्य पण्डित नही है	= यदि कुछ अवस्थाओ मे मनुष्य है, तो पण्डित नही है।

(२) हेतुफलाश्रित से निरपेक्ष

हेतुफलाश्रित	निरपेक्ष
'आ'—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है	=सभी 'क के ख होने की अवस्थायें' 'ग के घ होने की अवस्थायें' हैं।
यदि अमुक प्रकार का मच्छर काटे, तो मलेरिया हो	=सभी 'अमुक प्रकार के मच्छर के काटने की अवस्थायें' 'मलेरिया होने की अवस्थायें' हैं।
'ए'—यदि 'क' 'ख' है तो 'ग' 'घ' नहीं है	=कोई 'क के ख होने की अवस्था' 'ग के घ होने की अवस्था' नहीं है।
यदि पानी बरसे तो जमीन सूखी न रहे	=कोई 'पानी बरसने की अवस्था' 'जमीन सूखी रहने की अवस्था' नहीं है।
'ई'—यदि कुछ अवस्थाओं में 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है	= कुछ 'क के ख होने की अवस्थायें' 'ग के घ होने की अवस्थायें' हैं।
यदि कुछ अवस्थाओं में बीज बोया जाता है, तो वृक्ष होता है	=कुछ 'बीज बोने की अवस्थायें' 'वृक्ष होने की अवस्थायें' हैं।
'ओ'—यदि कुछ अवस्थाओं में 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नहीं है	= कुछ 'क के ख होने की अवस्थायें' 'ग के घ होने की अवस्थायें' नहीं हैं।

यदि कुछ अवस्थाओं में बीज
बोया जाता है, तो वृक्ष
नहीं होता है = कुछ 'बीज बोने की अवस्थायें'
'वृक्ष होने की अवस्थायें' नहीं हैं।

(३) वैकल्पिक से हेतुफलाश्रित

वैकल्पिक वाक्य के दोनों विकल्पों में परस्पर क्या सम्बन्ध है उस विषय पर मिल और युबर्वेग दो तर्कशास्त्रियों में मतभेद है। मिल के मतानुसार वे परस्पर 'उप-भेदक'[1] हैं, जिससे उनमें एक के झूठ होने से दूसरा सत्य ठहरता है, किंतु उसका प्रतिलोम नहीं। तब, किसी 'वैकल्पिक' वाक्य से दो ही हेतुफलाश्रित वाक्य सिद्ध हो सकेंगे।

युबर्वेग के मतानुसार वे परस्पर 'विरुद्ध'[2] हैं, जिससे उनमें एक के सत्य होने से दूसरा झूठ, और एक के झूठ होने से दूसरा सत्य ठहरता है। तब, किसी वैकल्पिक वाक्य से चार हेतुफलाश्रित वाक्य सिद्ध हो सकेंगे।

[सविस्तार व्याख्या के लिए देखिए पृ० ९४, ९५.]

(४) हेतुफलाश्रित से वैकल्पिक

मिल और युबर्वेग के जिन सिद्धान्तों से वैकल्पिक वाक्य से हेतुफलाश्रित वाक्यों के निकालने की विधि ऊपर हमने देखी, उन्हीं के प्रतिलोम प्रयोग से हेतुफलाश्रित वाक्यों से किसी वैकल्पिक वाक्य की रचना हो सकती है। मिल के अनुसार, जैसा हम देख चुके हैं, दो हेतुफलाश्रित वाक्यों के आधार पर ही किसी वैकल्पिक वाक्य की रचना हो सकती है। किंतु, युबर्वेग के अनुसार एक वैकल्पिक वाक्य की रचना के लिए चार हेतुफलाश्रित वाक्यों की आवश्यकता है।

---

[1] Sub-contrary [2] Contradictory

§ ८—विशेषण संयोगानुमान[1]

विशेषण संयोगानुमान अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें किसी वाक्य के दोनों पदों के साथ समान विशेषण लगा कर निष्कर्ष निकाला जाय। जैसे—

भारतीय मनुष्य है,	∴ ईमानदार भारतीय ईमानदार मनुष्य है।
लोहा धातु है,	∴ गरम लोहा गरम धातु है।
टेबल एक सामान है,	∴ सुन्दर टेबल एक सुन्दर सामान है।

ऐसे अनुमान के लिए यह आवश्यक है कि जो विशेषण दोनो पदो के साथ लगाया जाय वह दोनो के विस्तार को समान रूप से ही सीमित करे। विशेषण के शब्द समान रहने पर भी, बहुधा वे दोनो पदो को विषम रूप से सीमित करते हैं, और निष्कर्ष ठीक नहीं होता। जैसे, 'चींटी एक जीव है', इस वाक्य से ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि, 'एक बड़ी चींटी एक बडा जीव है'। चींटी कितनी भी बडी क्यो न हो, 'बडा जीव' नहीं हो सकती। एक ही शब्द 'बडा' चींटी के साथ कुछ दूसरा अर्थ रखता है, और जीव के साथ कुछ दूसरा, क्योंकि यह एक सापेक्ष शब्द है जो अपने अर्थ उसी के अनुपात में निर्धारित करता है जिसके साथ उसका प्रयोग हुआ हो। ऐसी अवस्थाओं मे, इस विधि से प्राप्त निष्कर्ष असत्य ही नहीं, बड़े हास्यास्पद होंगे। जैसे—

गवैया आदमी है,
∴ बुरा गवैया बुरा आदमी है।
चोर आदमी है,
∴ अच्छा चोर अच्छा आदमी है। इत्यादि,

[1] Inference by Added Determinants.

§ ९—मिश्रप्रत्ययानुमान[1]

'मिश्रप्रत्ययानुमान' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें वाक्य के दोनों पदों को समान रूप से मिश्र बना कर निष्कर्ष निकाला जाय।

जैसे—

'घोड़ा' 'एक पशु' है,

'घोडे का चित्र' 'एक पशु का चित्र' है।

यहा, निष्कर्ष-वाक्य के पद आधार-वाक्य के पदो से बिलकुल भिन्न हं। 'घोडा' और 'घोड़े का चित्र' दो चीजे हैं। दोनो में समानता केवल इतनी है कि 'घोडा' शब्द का प्रयोग दोनो में हुआ है। किंतु, पहला एक ही 'प्रत्यय' है; और दूसरा, उसके साथ एक और मिल कर, एक 'मिश्र-प्रत्यय' है।

विशेषणसयोगानुमान और मिश्रप्रत्ययानुमान मे भेद यह है कि पहले मे पदों के साथ कोई समान विशेषण युक्त होता है, जो उसके विस्तार को सकीर्ण तो कर देता है, किंतु उन्हे भिन्न अर्थ का बोधक नहीं बनाता; किंतु दूसरे मे पद समान प्रत्यय के साथ मिल कर भिन्न अर्थ के बोधक हो जाते हैं।

इस अनुमान में भी, नये सयुक्त होने वाले अग यदि दोनो पदो में समान रूप से प्रयुक्त न हो तो निष्कर्ष ठीक नही होता। जैसे—

'जुलाहे' 'मनुष्य' हैं,

∴ 'अधिकाश जुलाहे' 'अधिकाश मनुष्य' है।

यह अनुमान ठीक नही है, क्योकि जुलाहो की अपेक्षा सभी मनुष्यो की सख्या अत्यन्त अधिक है। चाहे कितने भी अधिक जुलाहे क्यो न हो, मनुष्य की संख्या के अनुपात में बहुत थोडे ही होगे।

---

[1] Inference by Complex Conception.

नवाँ अध्याय

अनुमान-प्रकरण

निगमन विधि

(दूसरा भाग)

परंपरानुमान[1]

न्यायवाक्य[2]

(क. शुद्ध[3])

§ १—न्याय-वाक्य क्या है?

'अनन्तरानुमान' की परीक्षा कर लेने के बाद, अब 'परपरानुमान' के रूपो का अध्ययन करेंगे। ऊपर देख चुके है कि इसे 'परपरानुमान' इस कारण कहते है कि इस प्रक्रिया मे 'उ'[4] और 'वि'[5] के साथ निष्कर्ष मे जो सम्बन्ध स्थापित करते है, उसका आधार दोनो का पृथक् पृथक् एक तीसरे पद के साथ सम्बन्ध का होना है।* यह तीसरा पद 'हेतु'[6] कहा जाता है, जिसे बराबर 'हे' सकेत से प्रकट करेंगे। इस तरह, 'परपरा-

---

[1] Mediate Inference [2] Syllogism. [3] Pure.

[4] S=Subject-of-the-Conclusion=Minor Ter. (पक्ष)

[5] P=Predicate-of-the-Conclusion=Major Term. (साध्य) [6] M=Middle Term. *पृ० १२०-२४

नुमान' मे तीन वाक्य होते है—पहला वाक्य 'हे' का 'वि' के साथ सम्बन्ध दिखाता है, दूसरा वाक्य यह दिखाता है कि 'उ' भी 'हे' के साथ सम्बद्ध है, और इन दोनो के आधार पर तीसरा वाक्य निष्कर्ष दिखाता है कि 'उ' का 'वि' के साथ सम्बन्ध है। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' है,
सभी 'उ' 'हे' है,
∴ सभी 'उ' 'वि' है।;
सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
'राम' 'मनुष्य' है,
∴ 'राम' 'मरणशील' है।

'परपरानुमान' के ये वाक्य यथार्थ मे तीन नही है, किंतु सभी मिल कर एक ही 'महावाक्य' की रचना करते है। तीन अवयवो वाले इस महावाक्य को 'न्याय वाक्य' कहते है। हमे स्मरण रखना चाहिए कि 'न्यायवाक्य' अनुमान की निगमन-विधि के परपरानुमान का रूप है, जिसमे अधिक व्यापक आधार से कम व्यापकता का निष्कर्ष निकाला जाता है।

§ २—न्यायवाक्य का स्वरूप

'न्यायवाक्य' का स्वरूप समझने के लिए फिर भी इन तीन बातो को स्पष्ट कर लेना अच्छा होगा—

(१) न्यायवाक्य के तीन अवयव होते है। पहले अवयव मे निष्कर्ष के विधेय-पद (='वि') के साथ 'हेतु' (='हे') का सम्बन्ध रहता है, इसलिए इसे विधेय-वाक्य[1] कहते है। दूसरे अवयव मे निष्कर्ष के उद्देश-पद (='उ') के साथ हेतु का सम्बन्ध रहता है, इसलिए इसे उद्देश-वाक्य[2] कहते है। इन दोनो को 'आधार' वाक्य[3] कहते है, क्योकि इन्ही के

[1] Major Premise. [2] Minor Premise. [3] Premise.

संयुक्त आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है। तीसरा अवयव 'निष्कर्ष-वाक्य'[1] है, जो दोनो आधार-वाक्यो के संयुक्त परामर्श से सिद्ध होता है।

अंगरेजी मे निष्कर्ष-वाक्य के उद्देश को Minor term (=व्याप्य पद) और विधेय को Major term (=व्यापक पद) कहते है। न्याय-वाक्य का निष्कर्ष यदि 'आ' वाक्य हो तो यह बडा सत्य है। 'आ' वाक्य का विधेय व्यापक और उद्देश व्याप्य होता है। 'सभी घोडे पशु है', यहा 'पशु' व्यापक है और 'घोडा' व्याप्य, क्योकि पहले का विस्तार अधिक है जिसमे दूसरा अन्तर्गत है।

(२) जैसा ऊपर देख चुके है, 'न्यायवाक्य' निगमनविधि का एक रूप है। अधिक सामान्य बात के आधार पर उससे कम सामान्य बात के विषय मे अनुमान करना ही निगमन-विधि है। अत, 'न्यायवाक्य' मे निष्कर्ष-वाक्य अपने आधार-वाक्यो से अधिक विस्तार का कभी नही हो सकता। सभी मनुष्यो के विषय मे किसी जानकारी के आधार पर सभी प्राणियो के विषय मे कुछ अनुमान नही कर सकते; किंतु सभी प्राणियो के विषय मे किसी जानकारी के आधार पर सभी मनुष्यो के विषय में कुछ अलबत्ता अनुमान कर सकते है, क्योकि सभी प्राणियो मे सभी मनुष्य अन्तर्गत है, सभी मनुष्यो मे सभी प्राणी नही।

(३) न्यायवाक्य की प्रामाणिकता[2] इसी मे है कि उसके निष्कर्ष-वाक्य और आधार-वाक्यो मे परस्पर पूरी संगति हो। न्यायवाक्य का निष्कर्ष इस बात का आश्वासन नहीं देता कि उससे वस्तु के साथ भी संवाद है। ऊपर देख चुके है कि इसी कारण तर्कशास्त्र को रूपविषयक सत्यता[3] का उत्तरदायी माना है, विषयविषयक सत्यता[4]

---

[1] Conclusion.
[2] Validity
[3] Formal Truth.
[4] Material Truth.

का नही। किंतु हा, यदि न्यायवाक्य के आधार-वाक्यो की विषयविषयक सत्यता मे पूरी दृढता हो, तो निष्कर्ष-वाक्य की भी विषयविषयक सत्यता अवश्य होगी, क्योकि यह तो उन्ही से सिद्ध हुआ है। इसलिए, न्यायवाक्य का प्रामाण्य उसके आधार-वाक्यो के प्रामाण्य पर निर्भर करता है, उसके निष्कर्ष-वाक्य के प्रामाण्य पर नही।

निष्कर्ष के वास्तविक असत्य होने से उसके आधार-वाक्य की असत्यता तो सिद्ध होती है, किंतु आधार-वाक्यो के असत्य होने से उसके निष्कर्ष की असत्यता सिद्ध नही होती।

सभी मनुष्य चौपाये है,
सभी घोडे मनुष्य है,
∴ सभी घोड़े चौपाये है।

इस न्यायवाक्य मे निष्कर्ष वास्तविक सत्य है, किंतु इसके आधार-वाक्य वास्तविक सत्य नही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि (१) आधार-वाक्यो के वास्तविक सत्य होने से निष्कर्ष भी अवश्य वास्तविक सत्य होगा, किंतु (२) निष्कर्ष के वास्तविक सत्य होने से आधार-वाक्यो की वास्तविक सत्यता सिद्ध नही होती।

ऊपर देख चुके है कि हेतुफलाश्रित वाक्य के 'हेतु' और 'फल' में ठीक यही सम्बन्ध है। 'हेतु' के सत्य होने से 'फल' सत्य होता है, किंतु इसका प्रतिलोम नही। और, 'फल' के असत्य होने से 'हेतु' असत्य होता है, किंतु इसका प्रतिलोम नही।

जो हो, हमे तो यहाँ न्यायवाक्य के वास्तविक सत्यासत्य से कोई मतलब नही। हमे यहा केवल यही अध्ययन करना है कि जो भी आधार-वाक्य प्राप्त है उनके सयुक्त परामर्श से निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है। न्यायवाक्य के तीनो अवयवो मे परस्पर असगति न हो यहा यही हमारा लक्ष्य है।

§ ३—प्राच्य और पाश्चात्य पद्धतियों मे न्यायवाक्य

भारतीय न्यायशास्त्र के अनुसार न्याय-वाक्य पाच अवयवो मे पूर्ण होता है, जैसे—

(१) प्रतिज्ञा— पर्वत अग्निमान् है,
(२) हेतु— क्योकि, पर्वत धूम्रवान् है,
(३) उदाहरण— जहा जहा धूम्र है वहा वहा अग्नि है, जैसे रसोई घर मे,
(४) उपनय— वैसे ही, यहा भी धूम्र है,
(५) निगमन— ∴ यहा भी अग्नि है।

जिस बात को सिद्ध करना है उसे सब से पहले कह दिया, इसे 'प्रतिज्ञा' कहते है। 'प्रतिज्ञा' के उद्देश को 'पक्ष' कहते है, जिसके विषय मे कुछ (यहा, अग्नि का होना) सिद्ध करना है। और, 'प्रतिज्ञा' के विधेय को 'साध्य' कहते है, जो 'पक्ष' के विषय मे सिद्ध किया जाता है। इस तरह, प्राच्य-पद्धति मे निष्कर्ष-वाक्य को सब से पहले ही कह देते है कि इसे सिद्ध करना है, और अन्त में उसी बात का फिर भी कथन कर देते है कि यह सिद्ध हो गया। यहाँ 'प्रतिज्ञा' और 'निगमन' दोनो के रूप वही है जो पाश्चात्य पद्धति मे 'निष्कर्ष-वाक्य' (=Conclusion) का है। और, 'पक्ष' तथा 'साध्य' वही है जिन्हे हमने ऊपर 'उ' तथा 'वि' सकेतो से पुकारा है, जो अगरेजी मे Minor Term तथा Major Term कहे जाते है।

कोई प्रश्न कर सकता है कि, प्राच्य पद्धति मे निष्कर्ष को ही सब से पहले कथन करने का क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर यह है—तर्कशास्त्र 'प्रमाण-शास्त्र' (=Science of Proof) है, जिसका मुख्य काम किसी बात को युक्ति दे कर सिद्ध करना है। यह प्रकट करता है कि तर्कशास्त्र का अनुमान प्रधानत. निष्कर्ष से युक्ति की ओर जाता है, और तब यह

आवश्यक है कि उसका पहले कथन हो जाना चाहिए जिसे सिद्ध करना है, सिद्ध हो जाने पर फिर भी उसका कथन कर दिया जाय कि यह सिद्ध हो गया। रेखागणित मे ठीक इसी प्रकार पहले प्रतिज्ञा होती है कि क्या सिद्ध करना है, फिर उसे सिद्ध करने की उपपत्ति देते है, और अन्त मे सिद्ध हो जाने पर फिर भी दिखा देते है कि साध्य उपपन्न हुआ।

पाश्चात्य तर्कशास्त्री कार्वेथ रीड इसे स्पष्ट करते हुए लिखता है[1]— " 'अनुमान' शब्द दो भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है, जो बहुधा एक दूसरे का भ्रम उत्पन्न कर देता है। उन्हे साफ साफ समझ लेना चाहिए। पहला अर्थ उस विचार के क्रम से है जिससे कुछ जान या सुन कर हम कुछ अन्दाजा लगाते हैं। यह जानी या सुनी बात अत्यन्त अपर्याप्त तथा अस्पष्ट हो सकती है, जिससे कोई आशंका भर उत्पन्न हो। जैसे, आकाश की ओर देख कर किसी खास तरह के मौसिम होने की आशंका कर लेते है। अथवा, वह बात बड़ी प्रबल और पर्याप्त हो सकती है, उन पद-चिह्नो की तरह जिन्हें देख कर क्रूसो नरभक्षी जंगलियो का वहां होना जान कर भयभीत हो गया था। ये उदाहरण अनुमान करने की क्रिया के क्रम के है। 'अनुमान' शब्द के इस अर्थ से तर्कशास्त्र का कोई मतलब नहीं। यह तो मानसशास्त्र का अध्येय विषय है कि मन एक बात से दूसरी बात का कैसे अनुमान करता है, हम कैसे किसी बात का अन्दाजा लगा लेते हैं और उस पर कैसे मेरा विश्वास भी हो जाता है।

" 'अनुमान' शब्द का दूसरा अर्थ इस मानसिक प्रक्रिया से नहीं है, किंतु उस प्रक्रिया द्वारा प्राप्त फल से है। उस प्रक्रिया द्वारा फलित निष्कर्ष से है। इसी दूसरे अर्थ मे 'अनुमान' तर्कशास्त्र का विषय है। तर्कशास्त्र का अध्येय विषय वस्तुस्थिति सम्बन्धी वह निष्कर्ष है जो वाक्य

---

[1] देखिए Carveth Read, Logic, p. 69.

में व्यक्त किया गया हो, जिसकी परीक्षा उस युक्ति के सम्बन्ध से करती है जो उसे सिद्ध करने के लिए दी गई हो। तर्कशास्त्र यह बताता है कि कैसी युक्ति ठीक है। मानसशास्त्र इसकी व्याख्या करता है कि जानी या सुनी बात के आधार पर मन किस क्रम से निष्कर्ष पर पहुंचता है, किंतु तर्कशास्त्र निष्कर्ष को ले कर इसका पता लगाता है कि किस तरह यह सिद्ध हुआ है . . ।'"[1]

इस विचार से प्राच्यन्यायवाक्य की पद्धति अत्यन्त शास्त्रीय ठहरती है कि इसमें सबसे पहले 'प्रतिज्ञा' का अवयव है जो इसका कथन कर देता है कि क्या सिद्ध करना है।

दूसरा अवयव 'हेतु' है जो उस बात का कथन करता है जो 'पक्ष' में रह 'प्रतिज्ञा' की सिद्धि का आधार है। इस अवयव का वही स्थान है जो पाश्चात्य पद्धति में 'उद्देश-वाक्य (=Minor Premise) का है, जिसमें निष्कर्ष के उद्देश के साथ हेतु का सम्बन्ध दिखाया रहता है।

तीसरा अवयव 'उदाहरण' है जिसमें 'साध्य' का 'हेतु' के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इसका वही स्थान है जो पाश्चात्य पद्धति में 'विधेय-वाक्य' (Major Premise) का है, जो निष्कर्ष के विधेय के साथ हेतु का सम्बन्ध बताता है।

इस तरह, 'पक्ष' (='उ'=Minor Term) और 'साध्य' (='वि'=Major Term) क्रमशः दूसरे और तीसरे अवयवों में

---

[1] 'Whilst Psychology explains how the mind goes forward from data to conclusions, Logic takes a conclusion and goes back to the data, inquiring whether those data, together with any other evidence that can be collected, are of a nature to warrant the conclusion

'हेतु' (='हे'=Middle Term) के साथ पृथक् पृथक् सम्वद्ध हो कर परंपरानुमान से निष्कर्ष मे परस्पर सम्वद्ध सिद्ध होते है।

दूसरे और तीसरे अवयवो मे युक्ति का देना पूरा हो जाता है। अब, इस युक्ति को प्रस्तुत प्रसग मे लागू करके निष्कर्ष सिद्ध हो गया यह दिखा देने का कार्य चौथे और पाचवे अवयवो से पूर्ण होता है। चौथा अवयव दूसरे का, और पाचवा अवयव पहले का पुन. कथन मात्र है।

प्राच्य पद्धति के पाचो अवयवो मे पाश्चात्य पद्धति के समान ही केवल तीन पद है—१ 'पक्ष'=निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश, जिसे 'उ' सकेत से व्यक्त करते है=Minor Term (ऊपर के उदाहरण मे 'पर्वत',) (२) हेतु, जिसे 'हे' सकेत से व्यक्त करते है=Middle Term, (ऊपर के उदाहरण मे 'धूम्र'), और (३) 'साध्य'=निष्कर्ष-वाक्य का विधेय, जिसे 'वि' संकेत से व्यक्त करते है=Major Term (ऊपर के उदाहरण मे 'अग्नि')। और, पाश्चात्य पद्धति के परपरानुमान के समान ही प्राच्य पद्धति मे भी 'हेतु' के माध्यम से निष्कर्ष में 'पक्ष' के साथ 'साध्य' का सम्वन्ध स्थापित हुआ है।

प्राच्य पद्धति का तीसरा अवयव, 'उदाहरण' (ऊपर के उदाहरण में, जहा जहा धूम्र है वहा वहा अग्नि है) पाश्चात्य-पद्धति का विधेयवाक्य Major Premise है, और इसका दूसरा या चौथा अवयव (यहा, पर्वत में धूम्र है) उसका उद्देशवाक्य=Minor Premise है।

पाश्चात्य पद्धति का न्यायवाक्य है—

सभी मनुष्य मरणशील है,
सभी वादशाह मनुष्य है,
∴ सभी वादशाह मरणशील है।

इसी का प्राच्य न्यायवाक्य मे रूप होगा—

प्रतिज्ञा— सभी वादशाह मरणशील है,

हेतु— क्योंकि सभी बादशाह मनुष्य है,
उदाहरण— सभी मनुष्य मरणशील है,
उपनय— और, सभी बादशाह मनुष्य है,
निगमन— ∴ सभी बादशाह मरणशील है।

इन्हीं दोनो पद्धतियो को अपने सकेतो में इस प्रकार रख सकते है—

पाश्चात्य—

विधेय-वाक्य—	सभी 'हे' 'वि' है,	व्याप्ति
उद्देश-वाक्य—	सभी 'उ' 'हे' है,	पक्षधर्मता
निष्कर्ष-वाक्य—	∴ सभी 'उ' 'वि' है।	निगमन

प्राच्य— सभी 'उ' 'वि' है,
क्योंकि सभी 'उ' 'हे' है,
सभी 'हे' 'वि' है,
और सभी 'उ' 'हे' है,
∴ सभी 'उ' 'वि' है।

स्मरण रखना है कि प्राच्य पद्धति में 'उ'=पक्ष, 'वि'=साध्य, और 'हे'=हेतु है।

§ ४—न्यायवाक्य के प्रकार

यह देख चुके है कि सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते है—निरपेक्ष, हेतुफलाश्रित, और वैकल्पिक। न्यायवाक्य में इन तीनो का प्रयोग हो सकता है। यदि न्यायवाक्य के तीनो अवयव एक ही प्रकार के वाक्य हो तो उसे शुद्धन्यायवाक्य[1] कहते है। यदि तीनो अवयव 'निरपेक्ष' हो, तो उसे 'शुद्धनिरपेक्षन्यायवाक्य'[2] कहते है। जैसे—

---

[1] Pure Syllogism.
[2] Pure Categorical Syllogism.

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
सभी बादशाह मनुष्य हैं,
∴ सभी बादशाह मरणशील हैं,

यदि तीनो अवयव 'हेतुफलाश्रित' हो, तो उसे 'शुद्ध-हेतुफलाश्रित-न्यायवाक्य'[1] कहते हैं। जैसे—

यदि वृष्टि हो, तो धान हो,
यदि धान हो, तो लोग सुखी हो,
∴ यदि वृष्टि हो, तो लोग सुखी हो।

यदि न्यायवाक्य के अवयव भिन्न प्रकार के हो तो उसे मिश्र-न्यायवाक्य[2] कहते हैं। 'मिश्र न्यायवाक्य' तीन प्रकार के होते हैं—हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष, वैकल्पिक-निरपेक्ष और मेण्डक-प्रयोग। 'हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य'[3] वह है जिसका विधेय-वाक्य हेतुफलाश्रित हो, और उद्देश-वाक्य तथा निष्कर्ष-वाक्य निरपेक्ष हो। जैसे—

यदि 'क' 'ख' है, तो 'क' 'ग' है,
'क' 'ख' है,
∴ 'क' 'ग' है।
यदि राम धनी है, तो वह सुखी है,
राम धनी है
∴ राम सुखी है।

'वैकल्पिक-निरपेक्ष-न्यायवाक्य'[4] वह है जिसका विधेय-वाक्य वैकल्पिक हो, और शेष दोनो निरपेक्ष हो। जैसे—

---

[1] Pure Hypothetical Syllogism. [2] Mixed Syllogism. [3] Hypothetical-Categorical Syllogism.
[4] Disjunctive-Categorical Syllogism.

'क' या तो 'ख' है, या 'ग',
'क' 'ख' नहीं है,
∴ 'क' 'ग' है।

मेण्डक-प्रयोग[1] मिश्रन्यायवाक्य का वह रूप है जिसके विधेय-वाक्य में दो हेतुफलाश्रित वाक्य सयुक्त हों, उद्देश-वाक्य वैकल्पिक हो, और निष्कर्ष-वाक्य निरपेक्ष हो या हेतुफलाश्रित हो। जैसे—

साकेतिक— यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है, और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है,
या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है
∴ 'ग' 'घ' है।

वास्तविक— यदि उनका भाई व्यापारी है तो राम धनी है, और यदि उनका पिता जमींदार है, तो भी वह धनी है,
या तो उनका भाई व्यापारी है, या पिता जमींदार है,
∴ राम धनी है।

इस तरह, न्यायवाक्य पाच प्रकार के हुए—

शुद्ध	मिश्र
(१) शुद्ध-निरपेक्ष	(३) हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष
(२) शुद्ध-हेतुफलाश्रित	(४) वैकल्पिक-निरपेक्ष
	(५) मेण्डक-प्रयोग

§ ५—न्याय-वाक्य में चार क्रम[2]

न्यायवाक्य का विधेय-वाक्य 'वि' और 'हे' में, तथा उद्देशवाक्य 'उ'

---

[1] Dilemma. [देखो पृ० २४०]

[2] Four Figures of Syllogism.

और 'हे' मे कोई न कोई सम्बन्ध व्यक्त करता है। उन में उद्देश-विधेय का भी सम्बन्ध हो सकता है, और विधेय-उद्देश का भी। अत, दोनो आधार-वाक्यो के प्रबन्ध मे चार क्रम हो सकते हैं—

(१) पहला क्रम—'हे' विधेय-वाक्य में उद्देश हो, और उद्देश-वाक्य मे विधेय। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' है,
सभी 'उ' 'हे' है,
∴ सभी 'उ' 'वि' है।
सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
सभी 'बादशाह' मनुष्य है,
∴ सभी बादशाह 'मरणशील' है।

(२) दूसरा क्रम—'हे' दोनो आधार-वाक्यो में विधेय हो। जैसे—

कोई 'वि' 'हे' नही है,
सभी 'उ' 'हे' है,
∴ कोई 'उ' 'वि' नही है।
कोई 'मनुष्य' 'चौपाया' नही है,
सभी 'घोडे' 'चौपाये' है,
∴ कोई 'घोडा' 'मनुष्य' नही है।

(३) तीसरा क्रम—'हे' दोनो आधार-वाक्यो मे उद्देश हो। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' है,
सभी 'हे' 'उ' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' है।
सभी 'हबशी' 'काले' है,

सभी 'हबशी' 'मनुष्य' हैं,
∴ कुछ 'मनुष्य' 'काले' हैं।

(४) चौथा क्रम—'हे' विधेय-वाक्य में विधेय, और उद्देश-वाक्य में उद्देश हो।

जैसे—

सभी 'वि' 'हे' हैं,
सभी 'हे' 'उ' हैं,
∴ कुछ 'उ' 'वि' हैं।
सभी 'अंगरेज' 'युरोपियन' हैं,
सभी 'युरोपियन' 'गोरे' हैं,
∴ कुछ 'गोरे' 'अंगरेज' हैं।

इन चार क्रमों को नीचे के चार चित्रों में व्यक्त कर सकते हैं—
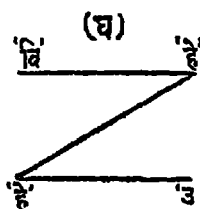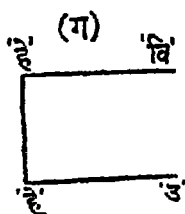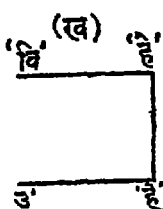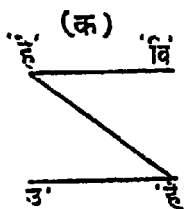
§ ६—आधार वाक्यों के सम्भव संयोग[1]

न्यायवाक्य के दोनो आधार-वाक्य 'गुण' तथा 'अश' के भेद से किन्ही भी चार प्रकार के हो सकते है।

सभी 'भारतीय' 'स्वतत्र' है,
सभी 'वगाली' 'भारतीय' है,
∴ सभी 'वगाली' 'स्वतत्र' है।

इस न्यायवाक्य मे आधार-वाक्य 'आ'—'आ' है। किंतु,

सभी 'भारतीय' 'स्वतत्र' है,
कुछ 'मुसल्मान' 'भारतीय' है,
∴ कुछ 'मुसलमान' 'स्वतत्र' है।

इस न्यायवाक्य मे आधार-वाक्य 'आ'—'ई' है। इसी तरह, वाक्य के चार रूपो मे आधार-वाक्यो को उलट-पलट कर रखे तो कुल १६ सयोग वनते है। जैसे—

'आ'-'आ'	'ए'-'आ'	'ई'-'आ'	'ओ'-'आ'
'आ'-'ए'	'ए'-'ए'	'ई'-'ए'	'ओ'-'ए'
'आ'-'ई'	'ए'-'ई'	'ई'-'ई'	'ओ'-'ई'
'आ'-'ओ'	'ए'-'ओ'	'ई'-ओ'	'ओ'-'ओ'

इन सोलह सयोगो मे कुछ तो ऐसे है जिनसे कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। जैसे—

कुछ 'भारतीय' 'हिन्दू' है,
कुछ 'ईसाई' 'भारतीय' है,

इन आधार-वाक्यो के सयोग से कोई परामर्श नही होता, जिससे कुछ निष्कर्ष निकाला जा सके। तब, इन सोलह सयोगो मे किन किन के परा-

[1] Moods of Syllogism.

मर्गों से निष्कर्ष निकल सकते हैं इसकी परीक्षा करनी होगी। इसके लिए सबसे पहले न्यायवाक्य के उन सावारण नियमो का अध्ययन करना होगा जिनकी पूर्ति होना इस वात के लिए आवश्यक है कि उससे कोई सगत निष्कर्ष निकाला जा सके। जिन सयोगो से निष्कर्ष निकाला जा सकता है उन्हे सिद्ध-संयोग[1], और जिनसे नही निकाला जा सकता है उन्हे असिद्ध-संयोग[2] कहते है।

§ ७—न्यायवाक्य के साधारण नियम

न्यायवाक्य के सावारण नियम दस है। इन नियमो मे से किसी का भी जिस संयोग में विरोव हो वह 'सिद्ध' नही हो सकता। वे दस नियम है—

पहला नियम—न्यायवाक्य में तीन ही पदो का प्रयोग होता है।[3] न्यायवाक्य परंपरानुमान का वह रूप है, जिसमे किसी एक पद से सम्वद्ध दो पदो के बीच किसी सम्वन्ध का अनुमान किया जाता है। अत, यदि तीन पद न हों तो इस का रूप ही खडा नही हो सकता। न्यायवाक्य में यदि चार पद हो तो भी अनुमान नही वनता, क्योंकि तव उनमे कोई माध्यम 'हेतु-पद' ही नही होगा जिसके द्वारा 'उ' और 'वि' मे सम्वन्ध स्थापित हो। जैसे—

सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
सभी 'घोड़े' 'पशु' है,

इनसे भला क्या निष्कर्ष निकलेगा?

यहां, यह ध्यान देना आवश्यक है कि दोनो आधार-वाक्यो मे हेतुपद एक ही अर्थ मे प्रयुक्त हो। यदि कोई अनेकार्थक पद भिन्न अर्थों मे

---

[1] Valid Moods. [2] Invalid Moods

[3] Every syllogism must contain three, and only three, terms.

प्रयुक्त हो कर आधार-वाक्यो मे हेतु हो, तो भी अनुमान नही बनता। जैसे—

'सैंधव' 'घोड़ा' है,
'नमक' सैंधव' है,
∴ 'नमक' 'घोडा' है।
'जड' 'पेड का एक अङ्ग' है,
'यह विद्यार्थी' 'जड़' है,
∴ 'यह विद्यार्थी' 'पेड़ का एक अङ्ग' है।

यहां 'सैंधव' या 'जड' शब्द आधार-वाक्यो मे हेतु होने का भ्रम उत्पन्न करते है, इसीसे ऐसे अनर्थ निष्कर्ष निकले। वास्तव मे यहां कोई 'हेतु' ही नही है, क्योकि 'सैंधव' तथा 'जड़' शब्द दोनों जगह भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुए है। तर्कशास्त्र के लिए पद का अर्थ प्रधान है, न कि उसका वाह्य रूप। अत, इस न्यायवाक्य मे यथार्थत. चार पद है, तीन नही। इन आधार-वाक्यो से कोई निष्कर्ष नही निकलता। न्यायवाक्य के इस दोष को 'भ्रामक-हेतु दोष'[1] या 'चतुष्पदी दोष'[2] कहते है।

दूसरा नियम—प्रत्येक न्यायवाक्य में तीन ही वाक्य रहेंगे।[3] न्यायवाक्य का कार्य यह है कि, इस आधार पर कि [१] 'वि' का भी और [२] 'उ' का भी 'हे' के साथ पृथक् पृथक् सम्वन्ध है, वह निष्कर्ष मे [३] 'उ' और 'वि' के बीच सम्वन्ध स्थापित करे। इस कार्य की सिद्धि न तो तीन वाक्यो से कम में होगी, और न अधिक मे।

तीसरा नियम—हेतु-पद कम से कम एक बार अवश्य सर्वांशी होना

---

[1] Equivocation. [2] Fallacy of Four Terms.

[3] A syllogism must consist of three, and only three, propositions.

चाहिए।[1] यदि हेतु-पद कम से कम एक बार भी सर्वांशी न हो तो वह 'उ' और 'वि' के सम्बन्ध का आश्वासन नही दे सकता। यदि हेतुपद दोनो आधार-वाक्यो में असर्वांशी हो, तो हो सकता है कि 'वि' उसके एक अंश से सम्बद्ध हो, और 'उ' दूसरे अश से। वैसी हालत में 'उ' और 'वि' के बीच कोई माध्यम नही रहेगा, जिसके द्वारा उनमे कोई सम्वन्ध हो सके। जैसे—

सभी 'हिन्दू' 'भारतीय' है,
सभी 'ईसाई' 'भारतीय' है,

इनके आधार पर 'ईसाई' और 'हिन्दू' मे कोई सम्वन्ध स्थापित नही हो सकता; क्योंकि, यहां हेतु-पद 'भारतीय' दोनो वाक्यो में असर्वांशी है। 'हिन्दू' 'भारतीय' के एक अंश से सम्बद्ध है, और 'ईसाई' दूसरे अंश से। इसे इस चित्र से प्रकट कर सकते है।
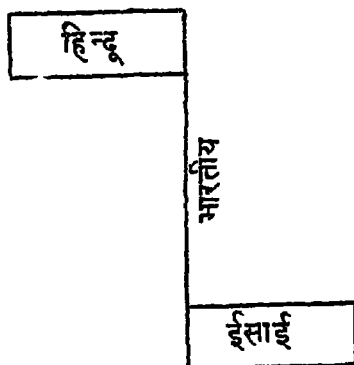
[1] The Middle-term must be distributed at least once in the premises.

इस दोष को 'असर्वांशी-हेतु दोष'[१] कहते हैं।

चौथा नियम—जो पद आधार-वाक्य में असर्वांशी है वह निष्कर्ष-वाक्य में सर्वांशी कभी नहीं हो सकता[२]। ऊपर देख चुके है कि अनुमान की निगमन विधि मे यही पहली बात है कि यह अधिक व्यापक आधार से कम व्यापक निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया है। यह भी देख चुके है कि समव्याप्तिक आधार से उतना ही व्यापक निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है। किंतु, किसी भी अवस्था मे, निष्कर्ष आधार से अधिक व्यापक नही हो सकता। प्रस्तुत नियम निगमन-विधि के इसी प्राथमिक सिद्धान्त पर आश्रित है। यह नियम तो अत्यन्त स्पष्ट है कि पद के किसी अनिश्चित अश के विषय मे कुछ जान कर, उसके पूरे अश के विषय मे कुछ कैसे कहा जा सकता है! 'कुछ मनुष्य ऐसे है', इसके आधार पर कैसे कह सकते है कि इसलिए 'सभी मनुष्य ऐसे है'? इसलिए, निष्कर्ष-वाक्य में उद्देश या विधेय तब तक सर्वांशी नही हो सकता जब तक वह पहले आधारवाक्य मे वैसा न हो ले।

इस नियम के उल्लङ्घन को 'अनुचित रीति'[३] दोष कहते है। यदि आधार-वाक्य मे बिना सर्वांशी हुए निष्कर्ष-वाक्य मे उद्देश-पद सर्वांशी हो गया हो तो वह न्यायवाक्य 'असिद्ध' ठहरता है। इस दोष को अनुचित-उद्देश दोष[४] कहते है। निष्कर्ष-वाक्य के विधेय-पद के साथ भी यही दोष उपस्थित हो सकता है। उसे अनुचित-विधेय दोष[५] कहते है। जैसे—

---

[१] Fallacy of Undistributed Middle.

[२] No term can be distributed in the conclusion, unless it is distributed in the premise.

[३] Illicit process.

[४] Fallacy of Illicit Minor.

[५] Fallacy of Illicit Major.

अनुचित-उद्देश

सभी 'भारतीय' 'एशीयाई' हैं,
कुछ 'ईसाई' 'भारतीय' हैं,
सभी 'ईसाई' 'एशीयाई' हैं।

अनुचित-विधेय

कुछ 'भारतीय' 'काले' हैं,
कोई 'हब्शी' 'भारतीय' नहीं है,
कोई 'हब्शी' 'काला' नहीं है।

पहले उदाहरण के निष्कर्ष का उद्देश 'ईसाई' सर्वांगी है, किंतु आधार-वाक्य में वह असर्वांगी ही है, अत यह न्यायवाक्य 'असिद्ध' ठहरा। उसी तरह, दूसरे उदाहरण में निष्कर्ष का विधेय 'काला' सर्वांशी है, (क्योंकि वह 'ए' वाक्य का विधेय है), किंतु आधार-वाक्य में वह असर्वांशी ही है; अत:, यह न्यायवाक्य भी 'असिद्ध' ठहरता है।

इस सम्बन्ध में यह भी ख्याल कर लेना है कि इस नियम का प्रतिलोम सत्य नहीं होता। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यदि कोई पद निष्कर्ष में असर्वांगी हो तो आधार में भी असर्वांगी ही होगा, अथवा यह कि यदि कोई पद आधार में सर्वांगी हो तो निष्कर्ष में भी सर्वांगी ही होगा। स्मरण रहे कि अनुमान की निगमनविधि में आधार से निष्कर्ष के कम होने में कोई दोष नहीं है। दोष है आधार में निष्कर्ष के अधिक होने में।

पाँचवाँ नियम—'यदि दोनों आधार-वाक्य निषेधात्मक हों, तो कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।'[1] निषेधात्मक वाक्य सूचित करता है कि उसके दोनो पद एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। यदि दोनो आधारवाक्य निषेधात्मक हों, तो इसका यह अर्थ होता है कि माध्यम 'हेतु-पद' से न

---

[1] From two negative premises, no conclusion can be drawn.

तो 'उ' सम्बद्ध है और न 'वि'। तब, वे किसी निष्कर्ष का परामर्श कैसे देंगे? जैसे—

कोई 'मनुष्य' 'राक्षस' नही है,
कोई 'पेड़' 'मनुष्य' नही है,

इनके आधार पर 'पेड़' और 'राक्षस' में विधानात्मक या निषेधात्मक कोई सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता।

अत, दो आधार-वाक्यो मे कम से कम एक का विधानात्मक होना आवश्यक है।

छठा नियम—यदि आधार वाक्यों में एक भी निषेधात्मक हो, तो निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा।[1] पाँचवे नियम के अनुसार, यदि एक आधार-वाक्य निषेधात्मक हो तो दूसरे को अवश्य विधानात्मक होना चाहिए। यह विधानात्मक वाक्य माध्यम 'हेतु' के साथ दोनो मे से किसी एक पद का सम्बद्ध होना बताता है, और, दूसरा निषेधात्मक वाक्य बताता है कि दूसरा पद उस से सर्वथा अलग है। इस तरह, माध्यम से एक के सम्बद्ध होने और दूसरे के सर्वथा पृथक् होने से उन दोनो के परस्पर सम्बद्ध होने का अनुमान नही किया जा सकता। अर्थात्, उनसे विधानात्मक निष्कर्ष नही निकाल सकते। यदि निष्कर्ष निकलेगा तो वह निषेधात्मक ही होगा।

यहा यह देख लेना है कि इस नियम का प्रतिलोम भी ठीक है। यह कि, यदि निष्कर्ष निषेधात्मक हो, तो उसके आधार वाक्यों में एक अवश्य निषेधात्मक होगा[1]। निषेधात्मक निष्कर्ष का यह अर्थ है कि 'उ' से 'वि' सर्वथा पृथक् है। यदि 'उ' और 'वि' दोनो 'हे' से सम्बद्ध होते, तो उससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। एक के सम्बद्ध होने और एक

---

[1] If one premise be negative, the conclusion must be negative and vice versa.

के पृथक् होने से ही यह निष्कर्ष सम्भव है। अर्थात्, निषेधात्मक निष्कर्ष के दोनों आधार-वाक्य विधानात्मक नहीं हो सकते, एक का निषेधात्मक होना आवश्यक है।

सातवाँ नियम—यदि दोनों आधार-वाक्य विधानात्मक हों, तो उनका निष्कर्ष भी विधानात्मक ही होगा।[1] यदि दोनो आधार-वाक्य विधानात्मक हो, तो इसका यह अर्थ हुआ कि 'उ' और 'वि' दोनो 'हे' से सम्बद्ध है। इसके आधार पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि 'उ' और 'वि' परस्पर असम्बद्ध है। अर्थात्, इससे निषेधात्मक निष्कर्ष कभी नहीं निकल सकता। यदि कोई निष्कर्ष निकलेगा तो वह अवश्य विधानात्मक ही होगा।

इस नियम का प्रतिलोम भी ठीक है। यह कि, यदि निष्कर्ष विधानात्मक हो, तो उसके दोनों आधार-वाक्य भी अवश्य विधानात्मक होंगे।[1] ऊपर देख चुके है कि आधार-वाक्यों में एक के भी निषेधात्मक होने से निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा। अतः, विधानात्मक निष्कर्ष के दोनों आधार-वाक्य अवश्य विधानात्मक होंगे।

आठवां नियम—यदि दोनों आधार-वाक्य 'विशेष' हो तो कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।[2] यदि दोनो आधार-वाक्य 'विशेष' हो तो उनके सम्भव संयोग चार होंगे—'ई'-'ई', 'ई'-'ओ', 'ओ'-'ई', और 'ओ'-'ओ'। इन संयोगों मे पहला अक्षर 'उद्देश-वाक्य' के, और दूसरा अक्षर 'विधेय-वाक्य' के रूप का सूचक है। इन चार संभव संयोगों की परीक्षा करके देखे कि क्या किसी मे निष्कर्ष निकल सकता है।

---

[1] If both the premises be affirmative, the conclusion is affirmative; and vice versa.

[2] If both the premises be particular, nothing can be inferred.

'ई'-'ई', इस संयोग मे कोई भी पद सर्वांशी नही है, क्योकि 'ई' वाक्य के दोनो पद असर्वांशी होते हैं। इसलिए, इन वाक्यो मे हेतु-पद को एक वार भी सर्वांशी होने का अवसर प्राप्त नही है। और ऊपर देख चुके हैं कि यदि आधार-वाक्यो मे हेतु-पद कमसे कम एक वार भी सर्वांशी न हुआ हो तो उनसे कोई निष्कर्ष नही निकलता [३रा नियम]।

'ओ'-'ओ', इस सयोग से भी कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता, क्योकि ये दोनो वाक्य निषेधात्मक है; और, दो निषेधात्मक वाक्यो के आधार से कोई निष्कर्ष नही निकलता [पाँचवाँ नियम]।

'ई'-'ओ' तथा 'ओ'-'ई'—इन दोनो सयोगो मे एक वाक्य निषेधात्मक है। इसलिए, इनसे यदि कोई निष्कर्ष निकलेगा तो वह अवश्य निषेधात्मक होगा [.छठा नियम...]। और तव, निषेधात्मक होने के कारण, उसका विधेय(='वि')सर्वांशी होगा। निष्कर्ष-वाक्य मे 'वि' के सर्वांशी होने के लिए पहले इसे आधार-वाक्य में सर्वांशी होना आवश्यक है।

इस तरह, इन आधार-वाक्यो के प्रत्येक सयोग मे कम से कम दो पद सर्वांशी होने चाहिए, एक तो 'वि' और कम से कम एक वार 'हे'। किंतु, इन सयोगो मे केवल एक ही पद, 'ओ' वाक्य का विधेय, सर्वांशी है। यदि वह पद 'वि' हो तो 'हे' असर्वांशी रह जाता है; और यदि वह पद 'हे' हो तो 'वि' असर्वांशी रह जाता है। अत, इनसे निष्कर्ष निकालने में या तो 'असर्वांशी-हेतु' का या 'अनुचित-विधेय' का दोष लगा ही रहेगा। इससे यह पता चला कि ये दोनो संयोग 'असिद्ध' है, और इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

विशेष-वाक्यो के चारो सम्भव सयोगो की परीक्षा करके देखा कि वे सभी 'असिद्ध' हैं। आधार-वाक्यो का कोई संयोग तव तक 'सिद्ध'[1] नही हो सकता जब तक उनमें कम से कम एक सामान्य न हो।

---

[1] Valid.

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख किया जा सकता है कि यदि उसका हेतु-पद दोनों वाक्यों में अधिकांश (=आधे से अधिक) का बोध करे, तो दो विशेष-वाक्यों के आधार पर भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है। जैसे—

अधिकांश मनुष्य लोभी है,
अधिकांश मनुष्य आरामपसंद है,
∴ कुछ आरामपसंद लोग लोभी है।

'मनुष्य' के विस्तार के आधे से अधिक अंश से 'लोभी' और 'आराम-पसंद' के पृथक् पृथक् सम्बद्ध होने से उसका कुछ अंश ऐसा अवश्य रह जायगा जिसमें दोनों पद समान हों। इसे नीचे के चित्र से व्यक्त कर सकते हैं—
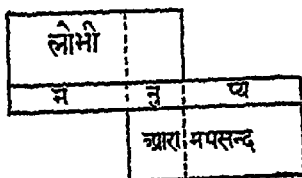
नवाँ नियम—यदि दो आधारवाक्यों में एक 'विशेष' हो, तो निष्कर्ष भी अवश्य विशेष होगा।[1] यदि एक आधार-वाक्य विशेष हो, तो दूसरा अवश्य सामान्य होगा; क्योंकि दो विशेष वाक्यों से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। एक विशेष और एक सामान्य वाक्य के कुल इतने संभव संयोग हो सकते हैं—

'आ'-'ई', 'आ'-'ओ', 'ए'-'ई' और 'ए'-'ओ', सीधे या उलटे।

---

[1]If one premise be particular, so is the conclusion.

सीधे या उलटे 'ए'-'ओ' संयोग तो 'असिद्ध' है, क्योंकि दोनों निषे-धात्मक है।

सीधे या उलटे 'आ'-'ई' सयोग में केवल एक पद—'आ' का उद्देश—सर्वांशी है। वह पद अवश्य 'हेतु' होना चाहिए, क्योंकि विना हेतु के सर्वांशी हुए कोई निष्कर्ष नही निकलता। आधार-वाक्यो मे और किसी पद के सर्वांशी न होने के कारण निष्कर्ष के दोनों पद असर्वांशी ही रहेंगे। यह केवल 'ई' वाक्य में होता है। अतः इस संयोग से 'ई' निष्कर्ष निकलेगा, जो विशेष है।

'आ'-'ओ' तथा 'ए'-'ई', इन दोनो संयोगो में, सीधे या उलटे, केवल दो ही पद सर्वांशी है : पहले मे 'आ' का उद्देश तथा 'ओ' का विधेय, और दूसरे में 'ए' के दोनो। दोनो सयोगो मे एक वाक्य निषेधात्मक है, इससे उनका निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष मे विधेय-पद सर्वांशी होगा। तब, आधार-वाक्यो में कम से कम दो पद सर्वांशी अवश्य होने चाहिए—एक तो 'वि', और कम से कम एक वार 'हे'। इन सयोगो मे जो दो पद सर्वांशी है वे यही दोनो होगे। तब, आधार-वाक्य मे 'उ' असर्वांशी ही रहा। निष्कर्ष मे भी यह असर्वांशी ही रहेगा; सर्वांशी नही हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि निष्कर्ष 'विशेष' ही रहेगा; सामान्य नही हो सकता। इससे यह नियम सिद्ध हुआ कि एक 'विशेष' और एक 'सामान्य' वाक्य के जितने सयोग होगे उनसे यदि निष्कर्ष निकलेगा तो वह विशेष ही हो सकता है, सामान्य नही।

इस सम्बन्ध में यह देख लेना चाहिए कि इस नियम का प्रतिलोम ठीक नही ठहरता। निष्कर्ष के 'विशेष' होने पर ऐसा नही कह सकते कि इसके आधारवाक्यो मे भी एक अवश्य विशेष होगा। दो सामान्य वाक्यो के आधार पर भी विशेष निष्कर्ष निकलता है। आधार-वाक्य मे 'उ' के सर्वांशी होने पर भी निष्कर्ष में वह असर्वांश में लिया जा

सकता है। ऊपर देख चुके है कि सर्वांग से असर्वांग निकालने में कोई दोष नहीं है; किंतु दोष तो है असर्वांग से सर्वांग निकालने में।

इससे यह बात स्पष्ट है कि यदि निष्कर्ष सामान्य हो तो दोनों आधार-वाक्य अवश्य सामान्य होंगे, क्योकि यदि एक भी आधार-वाक्य विशेष होता तो निष्कर्ष भी विशेष हो जाता। इस नियम की सिद्धि स्वतत्र रूप से भी इस तरह की जा सकती है—

यदि निष्कर्ष सामान्य है तो वह या तो 'आ' होगा या 'ए'। यदि वह 'आ' है, तो विधानात्मक होने के कारण, इसके दोनो आधार-वाक्य भी अवश्य विधानात्मक होगे। क्योकि इसका 'उ' सर्वांशी है इसलिए, आधार-वाक्यो में कम से कम दो पद अवश्य सर्वांगी होगे—एक तो 'उ' और एक 'हे'। यह तभी हो सकता है जब इसके दोनो आधार-वाक्य सामान्य हो, अर्थात् उनका सयोग 'आ'-'आ' हो। इनमे पहले वाक्य (=विधेय-वाक्य) का उद्देश 'हे', और दूसरे (=उद्देश- वाक्य) का उद्देश 'उ' होगा। यदि आधारवाक्यो में कोई भी 'ई' होता तो, क्योकि इसके दोनों पद असर्वांगी है, या तो 'असर्वांगी-हेतु' का दोष हो जाता, या 'अनुचित उद्देश' का।

और, यदि निष्कर्ष-वाक्य 'ए' हो तो, इसके निषेधात्मक होने के कारण, इसके आधार-वाक्यों में एक अवश्य निषेधात्मक होगा। फिर, क्योकि इसके दोनो पद सर्वांगी है, उन्हे आधार-वाक्यो मे भी सर्वांशी होना चाहिए। इस तरह, आधार-वाक्यो मे कम से कम तीन पद सर्वांगी होंगे—'उ', 'वि' और एक बार 'हे'। यह केवल इन सयोगो मे सम्भव है—'ए'-'ए', 'ए'-'ओ', और 'ए'-'आ' सीधे या उलटे। इनमें पहले दो संयोग तो, दोनों निषेधात्मक होने के कारण, 'असिद्ध' है। अत', 'ए' निष्कर्ष के आधार-वाक्यो का सयोग 'ए'-'आ' ही सीधे या उलटे हो सकता है। यह दोनो सामान्य-वाक्य है।

तब, यह नियम सिद्ध हुआ कि निष्कर्ष-वाक्य यदि सामान्य हो तो उसके दोनो आधार-वाक्य भी अवश्य सामान्य होगे।

दसवाँ नियम—यदि विधेय-वाक्य विशेष, और उद्देश-वाक्य निषेधात्मक हो, तो उनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।[1] यदि उद्देशवाक्य निषेधात्मक हो तो विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा, क्योकि दो निषेधात्मक-वाक्यो के आधार पर कोई निष्कर्ष नही निकलता। तब, विधेय-वाक्य के विशेष-विधानात्मक (='ई' वाक्य) होने के कारण उसका कोई पद सर्वांशी नहीं होगा।

इधर, एक आधारवाक्य निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी अवश्य निषेधात्मक होगा, और तब 'वि' सर्वांशी होगा, जो आधारवाक्य मे वैसा नही है। इस तरह, यहा 'अनुचित विधेय' का दोष हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि विधेयवाक्य के विशेष, और उद्देशवाक्य के निषेधात्मक होनें से कोई निष्कर्ष नही निकलता।

* * * *

न्यायवाक्य के इन दस साधारण नियमो को देखने से पता चलता है कि पहले दो नियम न्यायवाक्य की बनावट के विषय में हैं; दूसरे दो नियम पदो के विस्तार के विषय मे है; और शेष छः तीनो अवयव-वाक्यो के गुण या अश के विषय मे है। इन नियमो में पहले छ मुख्य हैं; शेष चार गौण है, जो उन्ही मुख्य नियमो से निकले है।

इन छ मुख्य नियमो को याद रखने के लिए निम्न श्लोक उपयोगी होगे—

---

[1] From a particular major and a negative minor, no conclusion follows.

पदानि चैव वाक्यानि
त्रीणि भवन्ति नित्यशः ।
एकत्र क्वापि सर्वांशी
हेतुर्ध्रुवतया मतः ॥१॥
एकांशिपदमाधारे
निष्कर्षे नान्यथा भवेत् ।
निष्कर्षो नैव प्राप्येत
आधारयोर्निषेधयोः ॥२॥
निषेधात्मनि चैकस्मिन्
आधारद्वयमध्यतः ।
निषेध एव निष्कर्षे
भवति नात्र संशयः ॥३॥

पहले श्लोक मे तीन नियम कहे गए है—(१-२) पद और वाक्य नित्य तीन होते है । (३) हेतु एक जगह कही भी ध्रुव रूप से सर्वांशी होगा ।

दूसरे श्लोक में दो नियम कहे गए है—(४) आधार मे जो एकांशि पद (=असर्वांशी) है वह निष्कर्ष मे अन्यथा (=सर्वांशी) नही हो सकता । (५) दो निषेधात्मक आधारो से निष्कर्ष प्राप्त नही होता ।

तीसरे श्लोक मे केवल एक नियम कहा गया है—(६) दो आधार-वाक्यो के मध्य एक के निषेधात्मक होने से निष्कर्ष भी निषेधवाक्य ही होता है ।

§ ८—साधारण नियमों से सिद्धसंयोग[1]

न्यायवाक्य के उक्त दस साधारण नियमो को दृष्टि मे रख कर देखें कि आधार-वाक्यों के सोलह सम्भव 'सयोगो' में कौन सिद्ध ठहरते हैं और कौन असिद्ध— [पृ० १६०]

वे सोलह सम्भव 'सयोग' है—

(१) 'आ'-'आ' (२) 'आ'-'ए' (३) 'आ'-'ई' (४) 'आ-''ओ'
(५) 'ए'-'आ' (६) 'ए'-'ए' (७) 'ए'-'ई' (८) 'ए'-'ओ'
(९) 'ई'-'आ' (१०) 'ई'-'ए' (११) 'ई'-'ई' (१२) 'ई'-'ओ'
(१३) 'ओ'-'आ' (१४) 'ओ'-'ए' (१५) 'ओ'-'ई' (१६) 'ओ'-'ओ'

इनमे (६) 'ए'-'ए', (८) 'ए'-'ओ', (१४) 'ओ'-'ए' और (१६) 'ओ'-'ओ', ये चार 'सयोग' इस कारण असिद्ध है, क्योकि इनके दोनो वाक्य निषेधात्मक है (पाँचवाँ नियम)।

(११) 'ई'-'ई', (१२) 'ई'-'ओ', (१५) 'ओ'-'ई'—ये तीन सयोग इस कारण असिद्ध है, क्योकि इनके दोनो वाक्य विशेष है (आठवाँ *नियम*)।

(१०) 'ई'-'ए', यह सयोग इस कारण असिद्ध है, क्योकि इसका विधेय वाक्य विशेष, और उद्देश-वाक्य निषेधात्मक है (दसवाँ नियम)।

शेष आठ 'सयोगो' मे साधारण नियमो का कोई विरोध नही पडता। न्यायवाक्य के चार क्रमो मे किसी न किसी एक मे वे अवश्य सिद्ध होगे।

अब, इन आठ 'सयोगो' को प्रत्येक 'क्रम' मे परीक्षा करके देखें कि चारो भिन्न भिन्न 'क्रमो' मे कौन कौन सयोग सिद्ध ठहरते है।

§ ९—पहले क्रम के सिद्ध 'संयोग'[2]

हमने अभी देखा कि न्याय-वाक्य के दस साधारण नियमो की दृष्टि से परीक्षा करने पर आधार-वाक्यो के सोलह सम्भव 'संयोगो' मे आठ ऐसे है जिनसे कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। शेष आठ 'सयोगो'

[1] Determination of Valid Moods.

[2] Valid Moods of the First Figure.

से निष्कर्ष निकाला जा सकता है। वे है—'आ'-'आ', 'आ'-'ए', 'आ'-'ई', 'आ'-'ओ', 'ए'-'आ', 'ए'-'ई', 'ई'-'आ', और 'ओ'-'आ'। एक एक करके इनकी परीक्षा करनी चाहिए कि पहले 'क्रम' मे किन से निष्कर्ष निकल सकता है और किन से नहीं।

याद रहे कि आधार-वाक्यो मे हेतु के स्थान पहले क्रम में इस प्रकार रहते हैं—

'हे'—'वि'
'उ'—'हे'
∴ 'उ'—'वि'

(१) 'आ'-'आ' सयोग का पहले 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,	सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' है,	सभी 'राजा' 'मनुष्य' है,
∴ सभी 'उ' 'वि' है।	∴ सभी 'राजा' 'मरणशील' है।

इस न्यायवाक्य में हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वांशी है, क्योंकि वह यहा 'आ' वाक्य का उद्देश है। फिर, दोनों आधार-वाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक है। निष्कर्ष के 'आ' वाक्य होने मे कोई दोष नही है। यहा जो 'उ' सर्वांशी है वह आधार-वाक्य मे भी सर्वांशी ही है; अत. 'अनुचित उद्देश' के दोष का भी भय नहीं है। इसलिए, आधार-वाक्यों का यह सयोग सिद्ध ठहरा। न्यायवाक्य के इस रूप का सांकेतिक नाम बार्बारा[1] है। इसके तीनो स्वर 'आ-आ-आ' सूचित करते है कि इस न्यायवाक्य के तीनो अवयव 'आ' वाक्य है।

[इसी तरह, आगे भी जिन सिद्ध सयोगो के सांकेतिक नाम दिए जायेंगे उनमें तीन स्वर रहेंगे जो न्यायवाक्य के तीनो अवयवो के रूप

---

[1] Barbara.

का बोध करेंगे। उनमे प्रयुक्त व्यञ्जनाक्षरो के निर्देश क्या है यह आगे चल कर देखेंगे]

(२) 'आ'-'ए' सयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है, सभी 'घोड़े' 'चौपाये' है,
'ए'—कोई 'उ' 'हे' नही है, कोई 'ऊट' 'घोड़ा' नही है,
कोई निष्कर्ष नही। कोई निष्कर्ष नही।

यहा, एक आधारवाक्य निषेधात्मक है, इससे इनका निष्कर्ष निषेधात्मक ही होता। और तब निष्कर्ष-वाक्य में 'वि' सर्वांशी होता। इसके लिए उसे पहले आधारवाक्य में सर्वांशी होना चाहिए था। किंतु, यहा तो आधारवाक्य मे 'वि' सर्वांशी नही है। ऐसी अवस्था मे इस सयोग से यदि कोई भी निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करे तो 'अनुचित विधेय' के दोष से बच नही सकते। इसलिए यह सयोग असिद्ध ठहरा, इससे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

(३) 'आ'-'ई' संयोग का पहले 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है, सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ई'—कुछ 'उ' 'हे' है, कुछ 'प्राणी' 'मनुष्य' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' है। ∴ कुछ 'प्राणी' 'द्विपद' है।

यहा, दोनो आधार-वाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होना चाहिए। और, एक आधारवाक्य के विशेषात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विशेषात्मक होना चाहिए। अत, निष्कर्ष 'ई' वाक्य होगा। इसके विधेय-वाक्य मे हेतु-पद सर्वांशी हो चुका है। और, निष्कर्षवाक्य मे किसी पद के सर्वांशी न होने के कारण, किसी 'अनुचित' दोष का भी भय नही है। अत, यह सयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है दारीई।[1] इसके अवयव है—'आ'-'ई'-'ई'।

---

[1] Darii.

(४) 'आ'-'ओ' सयोग का पहले 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,   सभी 'चिड़ियाँ' 'अण्डज' है,
'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नही है,   कुछ 'प्राणी' 'चिडिया' नही है,
कोई निष्कर्ष नही ।   कोई निष्कर्ष नही ।

यहा, एक आधारवाक्य निषेधात्मक है, इससे इनका निष्कर्ष निषेधात्मक ही होगा । और तब, निष्कर्ष-वाक्य मे 'वि' सर्वांशी होता । इसके लिए उसे पहले आधारवाक्य में सर्वांशी होना चाहिए था । किंतु, यहा तो आधारवाक्य मे 'वि' सर्वांगी नही है । ऐसी अवस्था में इस सयोग ने यदि कोई भी निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करे तो 'अनुचित विधेय' के दोष से बच नही सकते । इसलिए, पहले क्रम में यह सयोग असिद्ध ठहरा । इससे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता ।

(५) 'ए'-'आ' सयोग का पहले 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है,   कोई 'प्राणी' 'अमर' नही है,
'आ'— सभी 'उ' 'हे' है,   सभी 'मनुष्य' 'प्राणी' है,
∴ कोई 'उ' 'वि' नही है ।   ∴ कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है ।

यहां हेतु-पद विधेय-वाक्य मे सर्वांगी है । एक आधार-वाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा । दोनो आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है । इसलिए, निष्कर्ष 'ए' वाक्य हुआ । निष्कर्ष मे दोनो पद सर्वांगी है, वे आधारवाक्यो में भी सर्वांगी ही है । इसलिए यहा किसी 'अनुचित' दोष की भी सम्भावना नही है । अत. पहले क्रम मे यह सयोग सिद्ध ठहरा । इस सिद्ध न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम केलारेण्ट[1] है । 'ए'-'आ'-'ए' ।

(६) 'ए-'ई' सयोग का पहले 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है,   कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है,

---

[1] Celarent.

'ई' कुछ 'उ' 'हे' है, कुछ 'प्राणी' 'मनुष्य' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है। कुछ 'प्राणी' 'अमर' नही है।

यहा, हेतु-पद विवेय-वाक्य मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिए। एक आधारवाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होना चाहिए। अर्थात्, निष्कर्ष 'ओ' वाक्य होगा। निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष-वाक्य मे 'वि' सर्वांशी है; वह आधार-वाक्य मे भी सर्वांशी है। अत., पहले 'क्रम' मे यह सयोग सिद्ध ठहरा। इस सिद्ध न्यायवाक्य का साकेतिक नाम है फेरीओ[1]। 'ए'-'ई'-'ओ'।

(७) 'ई'-'आ' सयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ई'— कुछ 'हे' 'वि' है, कुछ 'मनुष्य' 'पण्डित' है,
'आ'— सभी 'उ' 'हे' है, सभी 'भारतीय' मनुष्य' है,
कोई निष्कर्ष नही कोई निष्कर्ष नही।

यहा आधारवाक्यो मे हेतुपद एक बार भी सर्वांशी नही है, अतः इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। पहले क्रम मे यह सयोग असिद्ध ठहरा।

(८) 'ओ'-'आ' सयोग मे इसका रूप होगा—

'ओ'— कुछ 'हे' 'वि' नही है, कुछ 'मनुष्य' 'पण्डित' नही है,
'आ' सभी 'उ' 'हे' है, सभी 'भारतीय' 'मनुष्य' है,
कोई निष्कर्ष नही कोई निष्कर्ष नही

ऊपर ही की तरह, इन आधारवाक्यो मे भी हेतुपद एक बार भी सर्वांशी नही है। अत, इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। पहले क्रम में यह संयोग असिद्ध ठहरा।

---

[1] Ferio.

§ १०—पहले क्रम के अपने नियम

आधार-वाक्यों के आठ सभव सिद्ध मयोगो की परीक्षा करके देखा कि उनमें केवल चार ऐसे हैं जो पहले क्रम में सिद्ध होते हैं। उनके निष्कर्ष के साथ पूरे न्यायवाक्य के अपने अपने साकेतिक नाम भी दे दिए गए हैं—वार्बारा, केलारेण्ट, दारीई, फेरीओ। पहले क्रम मे इन सिद्ध न्यायवाक्यो को प्रथम-क्रम-सिद्ध-संयोग कहते हैं। इन मयोगो को एक साथ रख कर देखें कि उनमे क्या ममानतायें हैं—

'आ'—'आ'—'आ'
'ए—'आ'—'ए'
'आ —'ई'—'ई'
'ए'—'ई'—'ओ'

इन मयोगों मे पहली ममानता तो यह है कि सभी के विधेय-वाक्य मामान्य हैं; और दूमरी यह कि सभी के उद्देशवाक्य विधानात्मक हैं। पहले 'क्रम' के यही दो अपने असाधारण नियम हैं। न्यायवाक्य के 'माधारण नियमों' का प्रयोग करके भी इन दो 'असाधारण नियमों' की सत्यता दिखाई जा सकती है। जैसे—

(१) पहले क्रम में विधेय-वाक्य अवश्य सामान्य होगा।[1]

इस नियम की सत्यता प्रतिलोम-विधि से प्रामाणित की जा सकती है। यदि विधेयवाक्य सामान्य नहीं हो तो विशेप होगा। तब, उसमें हेतुपद सर्वांगी नहीं होगा। न्यायवाक्य में 'असर्वांगी हेतु' का दोष न हो इसलिए हेतुपद को उद्देशवाक्य में सर्वांगी होना आवश्यक होगा। पहले क्रम में उद्देशवाक्य में हेतुपद विधेय रहता है। उसके सर्वांगी होने का अर्थ है कि वह वाक्य अवश्य निषेधात्मक होगा।

---

[1] In the first figure, the major premise must be universal.

उद्देशवाक्य निषेधात्मक होने का मतलब है कि विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक (क्योकि दो निषेधात्मक वाक्यो के आधार पर कोई निष्कर्ष नही निकलता) और निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमे 'वि' सर्वांशी होगा। किंतु वह यहा विधानात्मक आधारवाक्य के विधेय होने के कारण सर्वांशी नही होगा। इस तरह, पहले क्रम मे न्यायवाक्य के विधेयवाक्य को यदि सामान्य न मान कर विशेष मानें तो जा कर 'अनुचित विधेय'[1] का दोष आ जाता है।

(२) पहले क्रम में उद्देश-वाक्य अवश्य विधानात्मक होगा।[2]

यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक न हो कर निषेधात्मक हो तो कोई निष्कर्ष नही निकलेगा। कैसे ? इसके निषेधात्मक होने से विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक, और निष्कर्ष निषेधात्मक होगे। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। किंतु वह यहा विधानात्मक आधारवाक्य के विधेय होने के कारण सर्वांशी नही होगा। इस तरह, पहले क्रम मे न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य को विधानात्मक न मान कर निषेधात्मक माने तो 'अनुचित विधेय' का दोष आ जाता है। अतः, यह प्रामाणित हुआ कि इसका उद्देशवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा।

* * *

पहले क्रम के इन दो 'असाधारण नियमो' को आधारवाक्यो के सोलह सभव सयोगो पर सीधे लागू करके भी देख सकते है कि यहा यही चार सयोग सिद्ध ठहरेंगे। वे सोलह सभव संयोग है—

'आ'-'आ'	'ए'-'आ'	'ई'-'आ'	'ओ'-'आ'
'आ'-'ए'	'ए'-'ए'	'ई'-'ए'	'ओ'-'ए'

---

[1] Illicit Major. [2] In the first figure, the minor premise must be affirmative.

'आ'-'ई'	'ए'-'ई'	'ई'-'ई'	'ओ'-'ई'
'आ'-'ओ'	'ए'-'ओ'	'ई'-'ओ'	'ओ'-'ओ'

पहले नियम के अनुसार अन्तिम आठ संयोग असिद्ध हैं, क्योकि उनके विधेयवाक्य सामान्य नही हैं। दूसरे नियम के अनुसार 'आ'-'ए', 'ए'-'ए', 'आ'-'ओ', तथा 'ए'-'ओ' भी असिद्ध है, क्योकि उनके उद्देश-वाक्य विधानात्मक नही है। शेष चार ही सयोग पहले क्रम में सिद्ध है, जो हम ऊपर देख चुके है।

§ ११—दूसरे क्रम के सिद्ध संयोग[1]

आधार-वाक्यो मे हेतु के स्थान दूसरे क्रम मे इस प्रकार रहते है—

'वि'—'हे'
'उ'—'हे'

दूसरे क्रम में भी उन्ही आठ संभव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखे कि उनमें कौन सिद्ध ठहरते हैं और कौन असिद्ध—

(१) 'आ'-'आ' सयोग का दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'— सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'प्राणी' 'मरणशील' है,
'आ'— सभी 'उ' 'हे' है, सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है
कोई निष्कर्ष नही कोई निष्कर्ष नही

यहा हेतुपद दोनो वाक्यो में असर्वांशी ही है। अत, इनके आधार पर कोई निष्कर्ष नही निकलता। दूसरे क्रम में यह सयोग असिद्ध ठहरा।

(२) 'आ'-'ए' सयोग का दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'— सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ए'— कोई 'उ' 'हे' नही है, कोई 'घोड़ा' 'द्विपद' नही है,

---

[1] Valid Moods of the Second Figure.

∴ कोई 'उ' 'वि' नही है। ∴ कोई 'घोडा' 'मनुष्य' नही है।

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनो आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण उनका निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है। अर्थात् निष्कर्ष 'ए' वाक्य होगा। आधारवाक्यो मे 'वि' और 'उ' दोनो के सर्वांशी होने के कारण किसी 'अनुचित दोष' की भी आशका नही है। इस तरह, यह सयोग सिद्ध ठहरा। न्यायवाक्य के इस रूप का साकेतिक नाम कामेस्ट्रेस्[1] है।

(३) 'आ'-'ई' सयोग का दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'— सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ई'— कुछ 'उ' 'हे' है, कुछ 'प्राणी' 'द्विपद है,
कोई निष्कर्ष नही कोई निष्कर्ष नही

यहा, हेतुपद किसी भी आधारवाक्य मे सर्वांशी नही है, इसलिए कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। दूसरे क्रम मे यह सयोग असिद्ध ठहरा।

(४) 'आ'-'ओ' सयोग का दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'— सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ओ'— कुछ 'उ' 'हे' नही है, कुछ 'प्राणी' 'द्विपद' नही है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है। ∴ कुछ 'प्राणी' 'मनुष्य' नही है।

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक और विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी अवश्य निषेधात्मक और विशेष होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष मे 'वि' सर्वांशी होगा। वह आधार वाक्य मे भी सर्वांशी है। अत,, 'अनुचित विधेय' दोष की आशका नही है। इस तरह, दूसरे क्रम मे यह सयोग सिद्ध ठहरा। इसका साकेतिक नाम है बारोको[2]।

---

[1] Camestres. [2] Baroco.

(५) 'ए'-'आ' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ए'—	कोई 'वि' 'हे' नहीं है,	कोई 'मनुष्य' 'चतुष्पद' नहीं है
'आ'—	सभी 'उ' 'हे' हैं,	सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' हैं,
∴	कोई 'उ' 'वि' नहीं है।	कोई 'घोड़ा' 'मनुष्य' नहीं है।

यहां, हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांगी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनों आधारवाक्यों के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है। अत निष्कर्ष 'ए' वाक्य हो सकता है। ऐसा होने में किसी 'अनुचित दोष' की भी आशंका नहीं है, क्योंकि आधारवाक्यों में 'उ' और 'वि' दोनों सर्वांगी हैं। निष्कर्ष में वे मज़े में सर्वांगी हो सकते हैं। अत, दूसरे क्रम में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है—केसारे[1]।

(६) 'ए'-'ई' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ए'—	कोई 'वि' 'हे' नहीं है,	कोई 'सिंह' 'डरपोक' नहीं है,
'ई'—	कुछ 'उ' 'हे' हैं,	कुछ 'जानवर' 'डरपोक' हैं,
∴	कुछ 'उ' 'वि' नहीं हैं।	कुछ 'जानवर' 'सिंह' नहीं हैं।

यहां हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांगी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। और, एक आधारवाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात्, निष्कर्ष 'ओ' वाक्य होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष में 'वि' सर्वांगी होगा। वह आधारवाक्य में भी सर्वांगी है, इसमें 'अनुचित विवेय' का दोष नहीं हो सकता। अत., दूसरे क्रम में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है—फेस्टीनो[2]।

(७) 'ई'-'आ' संयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ई'— कुछ 'वि' 'हे' है, कुछ 'प्राणी' 'अण्डज' है,

---

[1] Cesare   [2] Festino.

'आ'— सभी 'उ' 'हे' है, सभी 'कबूतर' 'अण्डज' है,
कोई निष्कर्ष नही कोई निष्कर्ष नही

यहा, हेतुपद किसी भी आधारवाक्य मे सर्वांशी नही है। अतः, कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। दूसरे क्रम में यह सयोग असिद्ध ठहरा।

(८) 'ओ'-'आ' सयोगका दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ओ'— कुछ 'वि' 'हे' नही है, कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही है,
'आ'— सभी 'उ' 'हे' है, सभी 'योगी' 'ज्ञानी' है,
कोई निष्कर्ष नही कोई निष्कर्ष नही

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वांगी है, अत. 'असर्वांशी हेतु' का दोष नही है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होता। तब, उसमे 'वि' सर्वांशी होता। किंतु आधारवाक्य मे वह असर्वांशी ही है। अतः इनके आधार पर निष्कर्ष निकालने मे 'अनुचित विधेय' का दोष हो जायगा। दूसरे क्रम मे यह संयोग असिद्ध ठहरा।

§ १२—दूसरे क्रम के अपने नियम[1]

दूसरे क्रम मे आधारवाक्यो के आठ सभव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखा कि उनमे केवल चार सिद्ध ठहरते है। निष्कर्ष के साथ इन सिद्ध न्यायवाक्यो को द्वितीय-क्रम-सिद्ध-संयोग कहते है। उन्हे एक साथ रख कर देखे कि उनमे क्या समानतायें है—

'ए'–'आ'–'ए' केसारे
'आ'–'ए'–'ए' कामेस्ट्रेस
'ए'–'ई'–'ओ' फेस्टीनो
'आ'–'ओ'–'ओ' बारोको

---

[1] The Special Rules of the Second Figure.

इनमे तीन समानतायें है—(१) सभी मे विधेयवाक्य सामान्य है, (२) सभी में एक आधारवाक्य अवश्य निषेधात्मक है, और (३) सभी में निष्कर्ष निषेधात्म है। दूसरे क्रम के यही तीन अपने असाधारण नियम हैं। न्यायवाक्य के साधारण नियमो का भी प्रयोग करके इनकी सत्यता प्रामाणित कर सकते है। जैसे—

(१) दूसरे क्रम में विधेयवाक्य अवश्य सामान्य होगा।[1]

यदि विधेयवाक्य सामान्य नही हो तो विशेष होगा। तब, उसका उद्देश 'वि' सर्वांशी नहीं होगा। निष्कर्ष मे भी वह सर्वांशी नही हो सकता। निष्कर्ष मे 'वि' के सर्वांशी न होने का अर्थ हुआ कि वह विधानात्मक होगा, क्योंकि निषेधात्मक वाक्य का विधेय अवश्य सर्वांशी होता है। फिर, निष्कर्ष के विधानात्मक होने का अर्थ है कि दोनो आधारवाक्य अवश्य विधानात्मक होंगे, क्योंकि उनमे एक के भी निषेधात्मक होने से निष्कर्ष वैसा न हो सकता। यदि दोनो आधारवाक्य विधानात्मक हुए तो उनमे हेतुपद के एक बार भी सर्वांशी होने का अवसर नही होगा, क्योंकि दूसरे क्रम में हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे विधेय होते है।

इस तरह, यहा विधेयवाक्य के विशेष होने से जा कर 'असर्वांशी हेतु' का दोष उपस्थित होता है। इससे प्रामाणित हुआ कि दूसरे क्रम में विधेयवाक्य विशेष नही किन्तु सामान्य ही होगा।

(२) दूसरे क्रम में एक आधारवाक्य अवश्य निषेधात्मक होगा।[2]

दूसरे क्रम मे हेतुपद दोनो आधार वाक्यो मे विधेय होता है। अत. उसे एक बार सर्वांशी होने के लिए एक आधारवाक्य को अवश्य निषेधात्मक होना होगा, क्योंकि निषेधात्मक वाक्य का ही विधेय सर्वांशी होता

---

[1] In the Second Figure, the major premise must be universal. [2] In the Second Figure, one of the premises must be negative.

है। यदि दोनो आधारवाक्य विधानात्मक हुए तो हेतुपद के एक बार भी सर्वांशी न होने के कारण 'असर्वांशी हेतु' का दोष हो जायगा। इससे प्रामाणित हुआ कि दूसरे क्रम मे एक आधारवाक्य अवश्य निषेधात्मक होगा।

(३) दूसरे क्रम में निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा।[1]

यदि निष्कर्ष निषेधात्मक न हुआ तो विधानात्मक होगा। तब, दोनो आधारवाक्य भी विधानात्मक होगे। वैसी दशा मे, जैसा ऊपर देख चुके है, हेतुपद के एक बार भी सर्वांगी होने का अवसर न होगा। इस तरह, निष्कर्ष को विधानात्मक मानने से जा कर, 'असर्वांगी हेतु' का दोष उपस्थित होता है। इससे यह नियम प्रामाणित हुआ कि दूसरे क्रम में निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा।

इन तीन 'असाधारण नियमो' को उन सोलह सभव सयोगो पर लागू कर निश्चित कर सकते है कि दूसरे क्रम में कौन सिद्ध होगे, और कौन नही। पहले नियम से अन्तिम आठ सयोग असिद्ध होते है, क्योकि उनका विधेय वाक्य सामान्य नही है। दूसरे नियम के अनुसार 'आ'–'आ', और 'आ'–'ई' असिद्ध है, क्योकि इनमें एक भी निषेधात्मक नही है। इसी नियम के अनुसार 'ए'–'ए' और 'ए'–'ओ' भी असिद्ध है, क्योकि ये दोनो निषेधात्मक है। शेष चार सयोग ही सिद्ध है, जिनके साकेतिक नाम है—केसारे, कामेस्ट्रेस्, फेस्टीनो और बारोको।

§ १३—तीसरे क्रम के सिद्ध संयोग[2]

तीसरे क्रम मे हेतुपद के स्थान आधारवाक्यो मे इस प्रकार होते है—

---

[1] In the Second Figure, the conclusion must be negative. [2] Valid Moods of the Third Figure.

'हे'—'वि'
'हे'—'उ'

इस क्रम मे भी आठ सभव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखें कि उनमें कौन सिद्ध ठहरते है और कौन असिद्ध।

(१) 'आ'-'आ' सयोग का तीसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—	सभी 'हे' 'वि' है,	सभी 'भारतीय' 'स्वतन्त्र' है,
'आ'—	सभी 'हे' 'उ' है,	सभी 'भारतीय' 'देशभक्त' है,
∴	कुछ 'उ' 'वि' है।	∴ कुछ 'देशभक्त' 'स्वतन्त्र' है।

यहां हेतुपद दोनो आधारवाक्यो में सर्वांशी है। दोनो आधारवाक्यो के विधानात्मक होने के कारण उनका निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। दोनो आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता था; किंतु आधारवाक्य में 'उ' के सर्वांशी न होने के कारण निष्कर्ष मे वह असर्वांशी ही रहेगा। अतः, निष्कर्ष सामान्य न हो कर विशेष ही होगा। अर्थात्, वह 'ई' वाक्य होगा। 'ई' वाक्य मे कोई पद सर्वांशी नही होता; अत. किसी 'अनुचित दोष' के होने की भी सभावना नही है। तब, यह सयोग तीसरे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम दाराप्ती[1] है।

(२) 'आ-'ए' सयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—	सभी 'हे' 'वि' है,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ए'—	कोई 'हे' 'उ' नही है,	कोई 'मनुष्य' 'चतुष्पद' नही है,
	कोई निष्कर्ष नही	कोई निष्कर्ष नही

यहा, हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य

---

[1] Darapti.

के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा, और तब उसमें 'वि' सर्वांगी होगा। किंतु आधारवाक्य में 'वि' सर्वांगी नही है। अतः, 'अनुचित विधेय' दोष हो जाने के कारण यह संयोग असिद्ध ठहरा। इससे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

(३) 'आ'-'ई' संयोग का तीसरे क्रम में रूप होगा—

'आ'—	सभी 'हे' 'वि' है,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ई'—	कुछ 'हे' 'उ' है,	कुछ 'मनुष्य' 'गोरे' है,
∴	कुछ 'उ' 'वि' है।	∴ कुछ 'गोरे' 'द्विपद' है।

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वांगी है। दोनो आधारवाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। एक आधार-वाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ई' वाक्य होगा। 'ई' वाक्य मे कोई पद सर्वांगी नही है, अत. किसी 'अनुचित दोष' की आशंका भी नहीं है। इस तरह, तीसरे क्रम मे यह संयोग सिद्ध ठहरा। इसका सांकेतिक नाम है दातीसी'।

(४) 'आ'-'ओ' सयोग का तीसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—	सभी 'हे' 'वि' है,	सभी 'वृक्ष' 'हरे' है,
'ओ'—	कुछ 'हे' 'उ' नही है,	कुछ 'वृक्ष' 'बड़े' नही है,
	कोई निष्कर्ष नहीं	कोई निष्कर्ष नही

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वांगी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होता। और तब उसमे 'वि' सर्वांगी होता। किंतु आधारवाक्य मे 'वि' सर्वांगी नही है। अतः, 'अनुचित विधेय' दोष उत्पन्न होने के कारण कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। तीसरे क्रम मे यह संयोग असिद्ध ठहरा।

(५) 'ए'-'आ' सयोग का तीसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

' Datisi.

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नहीं है, कोई 'चोर' 'सत्यवादी' नही है,
'आ'— सभी 'हे' 'उ' है, सभी 'चोर' 'हिंसक' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं है। ∴ कुछ 'हिंसक' 'सत्यवादी' नही है।

यहा, हेतुपद दोनो आधारवाक्यो में सर्वांगी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। दोनो आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष सामान्य हो सकता था। किंतु, आधारवाक्य में 'उ' अनर्वांगी होने के कारण वह निष्कर्ष मे सर्वांगी नहीं हो सकता। अर्थात्, निष्कर्ष सामान्य नही होगा, 'ओ' होगा। इस तरह, यह सयोग तीसरे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इसका सांकेतिक नाम है फेलाप्तोन्[1]।

(६) 'ए'-'ई' सयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—
'ए'— कोई 'हे' 'वि' नहीं है, कोई 'मनुष्य' 'चतुष्पद' नही है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है, कुछ 'मनुष्य' 'काने' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है। ∴ कुछ 'काने' 'चतुष्पद' नहीं है।

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य में सर्वांगी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। और, एक आधारवाक्य के विशेष होने से निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात्, वह 'ओ' वाक्य होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने के कारण उसमें 'वि' सर्वांगी होगा। वह यहा आधारवाक्य में भी सर्वांगी है, अत. 'अनुचित विधेय' का दोष नहीं हो सकता। इस तरह, तीसरे क्रम मे यह सयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है फेरीसोन्[2]।

(७) 'ई'-'आ' सयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—
'ई'— कुछ 'हे' 'वि' है, कुछ 'पजाबी' 'वीर' है,
'आ'— सभी 'हे' 'उ' है, सभी 'पजाबी' 'भारतीय' है,

---

[1] Felapton. [2] Ferison.

∴　कुछ 'उ' 'वि' है।　　∴ कुछ 'भारतीय' 'वीर' है।

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य मे सर्वांशी है। दोनो आधारवाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। एक आधार-वाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ई' वाक्य होगा। 'ई' वाक्य मे कोई पद सर्वांशी नही होता, अत· किसी 'अनुचित दोष' की सभावना नही है। इस तरह, यह सयोग तीसरे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है डीसामीस्[1]।

(८) 'ओ'-'आ' सयोग का तीसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ओ'— कुछ 'हे' 'वि' नही है,　　कुछ 'आम' 'मीठे' नही है,
'आ'— सभी 'हे' 'उ' है,　　सभी 'आम' फल' है
∴　कुछ 'उ' 'वि' नही है।　∴ कुछ 'फल' 'मीठे' नही है।

यहां, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के विशेष और निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी वैसा ही होगा। अर्थात् वह 'ओ' वाक्य होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने के कारण उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। वह आधारवाक्य मे भी सर्वांशी है, अतः 'अनुचित दोष' नही हो सकता। इस तरह, तीसरे क्रम में यह सयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का साकेतिक नाम है बोकार्डो[2]।

§ १४—तीसरे क्रम के अपने नियम[3]

तीसरे क्रम मे भी आधारवाक्यो के आठ सभव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखा कि उनमे केवल दो को छोड़ शेष छः सिद्ध ठहरते है। निष्कर्ष के साथ इन सिद्ध न्यायवाक्यो को तृतीय-क्रम-सिद्ध-संयोग कहते हैं। उन्हे एक साथ रख कर देखे कि उनमे क्या समानताये हैं—

---

[1] Disamis.　　[2] Bocardo.
[3] The Special Rules of the Third Figure.

'आ'—'आ'—'ई'   दाराप्ती
'आ'—'ई'—'ई'   दातीसो
'ए'—'आ'—'ओ'   फेलाप्तो
'ए'—'ई'—'ओ'   फेरीसीन्
'ई'—'आ'—'ई'   दीसामीस्
'ओ'—'आ'—'ओ'   वोकार्डो

इनमे दो समानतायें है—(१) सभी के उद्देशवाक्य विधानात्मक है, (२) सभी में निष्कर्ष विशेष है। तीसरे क्रम के यही अपने असाधारण नियम है। न्यायवाक्य के साधारण नियमो का प्रयोग करके भी तीसरे क्रम के इन असाधारण नियमो की प्रामाणिकता दिखाई जा सकती है। जैसे—

(१) तीसरे क्रम में उद्देशवाक्य विधानात्मक ही होगा।[1]

यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक न हुआ तो निषेधात्मक होगा। तब विधेयवाक्य विधानात्मक होगा, क्योंकि दो निषेधात्मक वाक्यो के आधार पर कोई निष्कर्ष नही निकलता। और, एक आधार वाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमे 'वि' सर्वांगी होगा। किंतु वह विधानात्मक विधेयवाक्य मे विधेय होने के कारण सर्वांगी नही हो सकता। अतः, उद्देशवाक्य को निषेधात्मक मानने से जा कर 'अनुचित विधेय' का दोष हो जायगा। इससे यह नियम प्रामाणित हुआ कि तीसरे क्रम मे उद्देशवाक्य विधानात्मक ही होगा।

(२) तीसरे क्रम में निष्कर्ष विशेष ही होगा।[2]

---

[1] In the third figure, the minor premise must be affirmative. [2] In the third figure, the conclusion must be particular.

यदि निष्कर्ष विशेप नही हो तो सामान्य होगा। निष्कर्ष के सामान्य होने का अर्थ है कि उसमे 'उ' सर्वांशी है। निष्कर्ष मे 'उ' के सर्वांशी होने से उसे आधारवाक्य मे भी सर्वांशी होना चाहिए। तीसरे क्रम में उद्देशवाक्य मे 'उ' विधेय होता है, अत. उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वह निषेधात्मक वाक्य होगा, क्योकि विधानात्मक वाक्य का विधेय कभी सर्वांशी नही होता। उद्देशवाक्य के निषेधात्मक होने से विधेयवाक्य विधानात्मक और निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमे 'वि' सर्वांशी होगा; और तव उसे विधेय वाक्य में भी सर्वांशी होना चाहिए। किंतु अभी देख चुके है कि विधेयवाक्य विधानात्मक होगा, और इस कारण इस क्रम मे उसमे 'वि' सर्वांशी नही होगा। अत, निष्कर्ष को सामान्य मान लेने से जा कर 'अनुचित विधेय दोष' उत्पन्न हो जाता है। इससे यह नियम प्रामाणित हुआ कि तीसरे क्रम मे निष्कर्ष अवश्य विशेष होगा।

अब, इन असाधारण नियमो को उन सोलह सभव सयोगो पर लागू कर निश्चित कर सकते है कि तीसरे क्रम मे कौन सिद्ध होगे और कौन नही। पहले नियम से ये सयोग असिद्ध ठहरते है—'आ'-'ए', 'आ'-'ओ', 'ए'-'ए', 'ए'-'ओ', 'ई'-'ए', 'ई'-'ओ', 'ओ'-'ए', और 'ओ'-'ओ', क्योकि इनके उद्देशवाक्य विधानात्मक नही है।

'ई'-'ई' और 'ई'-'ओ', इन दो सयोगो को इस साधारण नियम से असिद्ध ठहरा सकते हैं कि दो विशेष-वाक्यो के आधार पर कोई निष्कर्ष नही निकलता (नियम ५)। इन्हे असाधारण नियम से असिद्ध ठहराने के लिए कुछ पुस्तको मे तीसरे क्रम का एक और असाधारण नियम स्वीकार किया गया है, कि दोनो आधारवाक्यो मे एक अवश्य सामान्य होगा। और इसे साधारण नियमो से इस प्रकार प्रामाणित करते है कि—

तीसरे क्रम में हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे उद्देश होता है, अतः उसे कम से कम एक बार सर्वांशी होने के लिए एक को अवश्य सामान्य होना होगा।

किंतु, यथार्थ मे यह नियम तो न्यायवाक्य का ८ वा साधारण नियम ही है। तब, इस क्रम के सिद्ध सयोग हुए—दाराप्ती, दीसामीस, दातीसी, फेलाप्तोन्, बोकार्डो, और फेरीसोन्।

§ १५—चौथे क्रम के सिद्ध संयोग[1]

चौथे क्रम मे हेतुपद के स्थान आधारवाक्यो मे इस प्रकार होते हैं—

'वि'—'हे'

'हे'—'उ'

इस क्रम मे भी आठ सम्भव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखें कि उनमे कौन सिद्ध ठहरते है और कौन असिद्ध—

(१) 'आ'-'आ' सयोग का चौथे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,	सभी 'तिवारी' 'ब्राह्मण' है
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,	सभी 'ब्राह्मण' 'हिन्दू' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' है।	∴ कुछ 'हिन्दू' 'तिवारी' है।

यहां, हेतुपद उद्देशवाक्य मे सर्वांशी है। दोनो आधारवाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। आधारवाक्य मे 'उ' असर्वांगी होने के कारण निष्कर्ष मे भी वैसा ही होगा। अर्थात् निष्कर्ष विशेष विधानात्मक (='ई') होगा। 'ई' वाक्य मे कोई पद सर्वांगी नही होता; अत, किसी 'अनुचित दोष' की आशका नही है। इस तरह, यह सयोग चौथे क्रम में सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का साकेतिक नाम है ब्रामान्तीप्।[2]

(२) 'आ'-'ए' सयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'ब्राह्मण' 'हिन्दू' है,

---

[1] Valid moods of the Fourth Figure.

[2] Bramantip.

'ए'— कोई 'हे' 'उ' नही है, कोई 'हिन्दू' 'मुसल्मान' नही है,
∴ कोई 'उ' 'वि' नही है । ∴ कोई 'मुसल्मान' 'ब्राह्मण' नही है ।

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य मे सर्वांशी है । एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा । दोनों आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है । अर्थात् यह 'ए' वाक्य होगा । आधारवाक्यो में 'उ' और 'वि' दोनो सर्वांशी है; अतः निष्कर्ष मे उनके सर्वांशी होने से कोई दोष नहीं । इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम में सिद्ध ठहरा । इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है कामेनेस्[1] ।

(३) 'आ'-'ई' सयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—
'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'आम' 'फल' है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है, कुछ 'फल' 'कंटीले' है,
कोई निष्कर्ष नही । कोई निष्कर्ष नही ।

यहां, हेतुपद किसी भी आधारवाक्य में सर्वांशी नही है । अत. इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता । यह संयोग चौथे क्रम में असिद्ध ठहरा ।

(४) 'आ'-'ओ' संयोग का चौथे 'क्रम' मे यह रूप होगा—
'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'गाय' 'चतुष्पद' है,
'ओ'—कुछ 'हे' 'उ' नही है, कुछ 'चतुष्पद' 'घोड़े' नही हैं,
कोई निष्कर्ष नही । कोई निष्कर्ष नही ।

यहां भी ऊपर ही की तरह हेतुपद आधारवाक्यो में एक बार भी सर्वांशी नही है । अतः इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता । यह संयोग चौथे क्रम मे असिद्ध ठहरा ।

(५) 'ए-'आ' सयोग का चौथे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

---

[1] Camenes.

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,   कोई 'निर्धन' 'सेठ' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,   सभी 'सेठ' 'दानी' है,
.·. कुछ 'उ' 'वि' नही है। .·. कुछ 'दानी' 'निर्धन' नही हैं।

यहां, हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनो आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता था। किंतु आधारवाक्य में 'उ' असर्वांशी होने के कारण निष्कर्ष मे सर्वांशी नहीं हो सकता। अर्थात् निष्कर्ष सामान्य नही हो सकता; वह विशेष ही ('ओ') रहेगा। निष्कर्ष मे 'वि' सर्वांशी है, वह आधारवाक्य में भी सर्वांशी है। इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है फेसापो[1]।

(६) 'ए'-'ई' संयोग का चौथे 'क्रम' मे यह रूप होगा—
'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,   कोई 'पण्डित' 'मूर्ख' नही है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है,   कुछ 'मूर्ख' 'चमार' है,
.·. कुछ 'उ' 'वि' नही हैं। .·. कुछ 'चमार' 'पण्डित' नही हैं।

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। एक आधारवाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ओ' वाक्य होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमें 'वि' सर्वांशी होगा; वह आधारवाक्य मे भी सर्वांशी है, अत 'अनुचित विधेय' का दोष नही आ सकता। इस तरह, यह सयोग चौथे क्रम में सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है फ्रेसीसोन्[2]।

(७) 'ई'-'आ' संयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—
'ई'— कुछ 'वि' 'हे' है,   कुछ 'भारतीय' 'ब्राह्मण' हैं,

---

[1] Fesapo.   [2] Fresison.

'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, सभी 'ब्राह्मण' 'हिन्दू' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' है। ∴ कुछ 'हिन्दू' 'भारतीय' है।

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। दोनों आधारवाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। एक आधार-वाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ई' वाक्य होगा। 'ई' वाक्य मे कोई पद सर्वांशी नही होता, अत. किसी 'अनुचित दोष' की आशंका नही है। इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है दीमारीस्[1]।

(८) 'ओ'-'आ' संयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ओ'—कुछ 'वि' 'हे' नही है, कुछ 'अफ़्रीकी' 'हवशी' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, सभी 'हवशी' 'काले' है,
कोई निष्कर्ष नही। कोई निष्कर्ष नही।

यहा, हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। तव, इसमे 'वि' सर्वांशी होगा। किंतु यहां आधारवाक्य में 'वि' सर्वांशी नही है। अतः 'अनुचित विधेय' का दोष उपस्थित हो जायगा। इस तरह, यह सयोग चौथे क्रम मे असिद्ध ठहरा।

§ १६—चौथे क्रम के अपने नियम[2]

चौथे क्रम मे भी आधारवाक्यो के आठ सम्भव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखा कि उनमे तीन को छोड़ शेष पाँच सिद्ध ठहरते है। निष्कर्ष के साथ इन सिद्ध न्यायवाक्यो को 'चतुर्थ-क्रम-सिद्ध-संयोग' कहते है। उन्हे एक साथ रख कर उनकी परीक्षा करें—

---

[1] Dimaris.

[2] The Special Rules of the Fourth Figure.

'आ'-'आ'-'ई' ब्रामान्तीप्
'आ'-'ए'-'ए' कामेनेस्
'ए'-'आ'-'ओ' फेसापो
'ए'-'ई'-'ओ' फ़ेसोसोन्
'ई'-'आ'-'ई' दीमारीस्

इन्हें देखने से इनमें ये नियम निकलते है—

(१) यदि विधेयवाक्य विधानात्मक हो, तो उद्देशवाक्य सामान्य होगा।

(२) यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक हो, तो निष्कर्ष विशेष होगा।

(३) यदि कोई भी आधारवाक्य निषेधात्मक हो, तो विधेयवाक्य सामान्य होगा।[1]

न्यायवाक्य के साधारण नियमो को भी लागू करके इन असाधारण नियमों की प्रामाणिकता दिखाई जा सकती है। जैसे—

(१) यदि विधेयवाक्य विधानात्मक हो तो इसमें हेतुपद सर्वांशी नही हो सकता। अत. इसे उद्देशवाक्य मे सर्वांशी होना अवश्य चाहिए। इस क्रम मे हेतुपद उद्देशवाक्य मे उद्देश होता है। उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वाक्य सामान्य होगा।

---

[1] (१) If the major premise be affimative, the minor must be universal.

(२) If the minor premise be affirmative, the conclusion must be particular.

(३) If either premise be negative, the major must be universal.

(२) यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक हो, तो इसमें उद्देशपद सर्वांशी नही होगा। अतः यह निष्कर्ष में भी सर्वांशी नही हो सकता। निष्कर्ष में उद्देश के असर्वांशी होने का अर्थ है कि वह वाक्य विशेष होगा।

(३) यदि कोई भी आधारवाक्य निषेधात्मक होगा तो निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। तब, उसका विधेय सर्वांशी होगा। 'अनुचित विधेय' के दोष से बचने के लिए उसे विधेयवाक्य मे भी सर्वांशी होना होगा। और, इस क्रम मे विधेयवाक्य में 'वि' उद्देश होता है। उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वह वाक्य सामान्य होगा।

§ १७—संक्षेप

आधारवाक्यो के कुल सोलह संभव-संयोग है। न्यायवाक्य के 'साधारण नियमो' को लागू करने पर उनमें केवल आठ संभव-सिद्ध-संयोग निकले।

आधारवाक्यो के इन आठ 'सभव-सिद्ध-सयोगो' को चारो क्रमो मे जाँच कर देखा कि प्रथम क्रम मे चार, द्वितीय मे चार, तृतीय मे छः, और चतुर्थ मे पाँच ऐसे हैं जिनसे कोई निष्कर्ष निकलता है। आधारवाक्यो के साथ उनके निष्कर्ष-वाक्यो को भी युक्त कर जो ये १९ सिद्ध न्यायवाक्य बनते है उन्हें सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोग कहते है।

'आ'-'आ'	'ए'-'आ'	'ई'-'आ'	'ओ'-'आ'
'आ'-'ए'	'ए'-'ए'×	'ई'-'ए'×	'ओ'-'ए'×
'आ'-'ई'	'ए'-'ई'	'ई'-'ई'×	'ओ'-'ई'×
'आ'-'ओ'	'ए'-'ओ'×	'ई'-'ओ'×	'ओ'-'ओ'×

आधारवाक्यो के ये सोलह 'सभव-सयोग' है। × चिह्नित को छोड़ शेष ८ 'सभव-सिद्ध-सयोग' हैं। चार क्रमो मे उनके आधार पर इस प्रकार १९ 'सिद्ध-न्यायवाक्य-सयोग' बनते है—

संभव-सिद्ध संयोग	पहला क्रम	दूसरा क्रम	तीसरा क्रम	चौथा क्रम
'आ'-'आ'	'आ'-'आ'-'आ'	..	'आ'-'आ'-'ई'	'आ'-'आ'-'ई'
'आ'-'ए'		'आ'-'ए'-'ए'	.	'आ'-'ए'-'ए'
'आ'-'ई'	'आ'-'ई'-'ई'		'आ'-'ई'-'ई'	.
'आ'-'ओ'	.	'आ'-'ओ'-'ओ'		..
'ए'-'आ'	'ए'-'आ'-'ए'	'ए'-'आ'-'ए'	'ए'-'आ'-'ओ'	'ए'-'आ'-'ओ'
'ए'-'ई'	'ए'-'ई'-'ओ'	'ए'-'ई'-'ओ'	'ए'-'ई'-'ओ'	'ए'-'ई'-'ओ'
'ई'-'आ'	..	.	'ई'-'आ'-'ई'	'ई'-'आ'-'ई'
'ओ'-'आ'	.	.	'ओ'-'आ'-'ओ'	..

इन सिद्ध-न्यायवाक्य-प्रयोगों के संकेत-सूत्र[1] इस प्रकार हैं—

बार्बारा, सेलारेण्ट्, दारीई, फेरीओ;
(Barbara) (Celarent) (Darii) (Ferio)

सेसारे, कामेस्ट्रेस्, फेस्टीनो, बारोको;
(Cesare) (Camestres) (Festino) (Baroco)

दाराप्ती, दीसामीस्, दातीसी, फेलाप्तोन्;
(Darapti) (Disamis) (Datisi) (Felapton)

बोकार्डो, फेरीसोन्;
(Bocardo) (Ferison)

ब्रामान्तीप्, कामेनेस्, दीमारीस्, फेसापो
(Bramantip) (Camenes) (Dimaris) (Fesapo)

फ्रेसीसोन्।
(Fresison)

---

[1] The Mnemonic Lines. इन्हें कण्ठ कर लेना चाहिए।

§ १८—सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोगों का परस्पर रूपान्तर

पाश्चात्य तर्कशास्त्र का आदि प्रणेता युनानी दार्शनिक अरस्तू ने एक सिद्धान्त बताया जिसे उसने सभी न्यायवाक्य की सिद्धि का आधार माना। वह सिद्धान्त युनानी भाषा मे है—डिक्टम् डि ओम्नि एट् नल्लो। इसका शाब्दिक अर्थ है—वह कथन जो सभी के विषय मे हो और जो किसी के भी विषय मे न हो। इसका तात्पर्य यह है कि—जो बात किसी पूरे वर्ग के साथ सत्य हो, वह बात उसी तरह उस के साथ भी सत्य होगी जो उस वर्ग में अन्तर्गत है। तर्कशास्त्री वेट्ले इस सिद्धान्त का विश्लेषण इस प्रकार करता है*—

(१) जो बात किसी पूरे वर्ग के साथ सत्य हो, (विधेयवाक्य)
(२) उस वर्ग मे कोई अन्तर्गत हो, (उद्देशवाक्य)
(३) उस अन्तर्गत के साथ वह बात सत्य है। (निष्कर्षवाक्य)

इस विश्लेषण को दृष्टि में लाने से स्पष्ट मालूम होता है कि अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार विधेयवाक्य को सामान्य होना चाहिए, और उद्देशवाक्य को विधानात्मक होना चाहिए। हम देख चुके है कि ये दोनो प्रथम क्रम के अपने असाधारण नियम है। इससे यह फलित होता है कि अरस्तू का उक्त सिद्धान्त 'प्रथम क्रम' ही पर साक्षात् लागू होता है, जिसके सिद्ध न्यायवाक्य-सयोग है—बार्बारा, केलारेण्ट्, दारीई और फेरीओ। अत, अरस्तू के अनुसार प्रथम-क्रम ही उत्तम क्रम[1] है। शेष तीन हीन क्रम[2] है, क्योकि उन पर उक्त सिद्धान्त साक्षात् रूप से लागू नही किया जा सकता। इस कारण, प्रथम क्रम के चार सयोगो को उत्तम-संयोग,[3] और अन्य क्रमो के शेष पन्द्रह सयोगो को हीन-संयोग[4]

---

[1] Perfect Figure. [2] Imperfect Figure.
[3] Perfect Moods. [4] Imperfect Moods.
*Whately, Logic, p. 23.

कहते है। अरस्तू किसी 'हीन-संयोग' को किसी 'उत्तम-सयोग' में रूपान्तर करके ही उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करता है।

अतः इस विचार से 'हीन-सयोगों' को 'उत्तम-संयोगों' मे रूपान्तर करने का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि बिना ऐसा किए उनकी प्रामाणिकता सिद्ध नही हो सकती। किंतु अब हमारे लिए इस रूपान्तर-करण का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि हम उनकी प्रामाणिकता दूसरी विधि से भी कर ले सकते है। अरस्तू ने 'चौथे क्रम' को स्वीकार नही किया था। बाद में यह क्रम एक यूनानी दार्शनिक गैलेन् द्वारा स्थापित किया गया था, जिसने इसे गैलेनियन क्रम भी कहते है। किसी 'हीन-सयोग' को 'उत्तम-सयोग' मे रूपान्तर करके परीक्षा करना अब भले ही अनिवार्य न रह गया हो, किंतु उस विधि के अध्ययन से एक बड़ा लाभ यह है कि इससे सिद्ध-न्यायवाक्यो का परस्पर सम्बन्ध तथा उनका ऐक्य साफ हो जाता है।

*   *   *

(क) रूपान्तर-करण[1]

हम देखेंगे कि न्यायवाक्य का कोई भी सयोग किसी भी दूसरे सयोग में रूपान्तरित किया जा सकता है। अत, 'रूपान्तर-करण' का व्यापक अर्थ है किसी भी सयोग को दूसरे सयोग में रूपान्तर करना। किंतु यहा हमें किसी भी सयोग को किसी दूसरे सयोग में रूपान्तर करने से कोई मतलब नही है। यहा तो अरस्तू के अनुसार 'हीन-सयोगों' को ही 'उत्तम-संयोगों' में रूपान्तर करके उन्हे सिद्ध करना है। अत, यहा 'रूपान्तर-करण' का यही सीमित अर्थ है कि—दूसरे, तीसरे और चौथे क्रमो के न्यायवाक्यसयोगों को पहले क्रम के न्यायवाक्यसयोगों में रूपान्तर करना; और इस तरह उनकी सिद्धि या असिद्धि की परीक्षा करना।

---

[1] Reduction

'रूपान्तर-करण' की दो विधिया है—अनुलोम-विधि और प्रतिलोम-विधि। 'अनुलोम-विधि'[1] मे किसी 'हीन-सयोग' को, उसके वाक्यो को व्यत्यय आदि अनन्तरानुमान की प्रक्रिया से बदल कर या उनके सिल-सिले मे उलट-पलट कर, किसी 'उत्तम-सयोग' मे रूपान्तरित करते है। और, 'प्रतिलोम-विधि'[2] मे किसी 'हीन-सयोग' के निष्कर्ष के अत्यन्त विरुद्ध[3] रूप को ले कर किसी एक आधारवाक्य के साथ प्रथम-क्रम मे कोई न्याय-वाक्य उपस्थित करके निष्कर्ष निकाल कर दिखाते है कि यह दूसरे आधार-वाक्य का अत्यन्त विरुद्ध रूप है। चूकि आधारवाक्य की सत्यता सर्वथा नियत होती है, इससे नया निष्कर्ष असत्य ठहरता है। इस तरह, उस 'हीन-सयोग' के निष्कर्ष के अत्यन्त विरुद्ध रूप को असत्य दिखा कर उसकी सिद्धि स्थापित की जाती है। इन दो विधियों की परीक्षा सविस्तार करेगे।

* * *

(ख) रूपान्तर-करण के संकेत

बार्बारा, केलारेण्ट् आदि जो सिद्ध न्यायवाक्य-संयोगो के साकेतिक नाम दिए गए है उनमे तीन तीन स्वर हैं। पहला स्वर विधेयवाक्य का, दूसरा उद्देशवाक्य का और तीसरा निष्कर्ष-वाक्य का सूचक है; यह तो ऊपर कह चुके हैं। यहां रूपान्तर-करण की प्रक्रिया मे इन नामो मे प्रयुक्त व्यञ्जनाक्षरो के क्या निर्देश है इसे जानना आवश्यक है—

(१) 'हीन-सयोगों' के नाम के आदि अक्षर यह सूचित करते है कि उन्हीं अक्षरो से प्रारम्भ होने वाले 'उत्तम-सयोगों' में उनका रूपान्तर होगा। 'ब' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी हीन-सयोगो का रूपान्तर 'बार्बारा' में, 'क' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी हीन-सयोगों का रूपान्तर

---

[1] Direct Reduction.

[2] Indirect Reduction. [3] Contradictory.

'फेलारेण्ट्' में, 'द' अक्षर से आरम्भ होने वाले सभी हीन-सयोगो का रूपान्तर 'दारीई' में, और 'फ' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी 'हीन-सयोगों' का रूपान्तर 'फेरीओ' में होता है।

(२) 'म' अक्षर यह निर्देश करता है कि रूपान्तर करने की प्रक्रिया में उस 'हीन-सयोग' के आधारवाक्यो का स्थानान्तर हो जायगा।

(३) 'स' अक्षर यह निर्देश करता है कि रूपान्तर करने की प्रक्रिया मे 'हीन-सयोग' के जिस स्वर के अनन्तर यह प्रयुक्त हुआ है उस वाक्य का 'सम-व्यत्यय' कर लेना होगा।

(४) 'प' अक्षर यह निर्देश करता है कि रूपान्तर करने की प्रक्रिया में 'हीन-सयोग' के जिस स्वर के अनन्तर यह प्रयुक्त हुआ है उस वाक्य का 'विषम-व्यत्यय' कर लेना होगा।

(५) 'स' या 'प' यदि 'हीन-सयोग' के तृतीय स्वर के अनन्तर प्रयुक्त हुआ हो तो उनका निर्देश यह है कि रूपान्तर करने के सिलसिले में जो नया निष्कर्ष प्राप्त हुआ है उसका व्यत्यय कर लेना होगा।

(६) 'क' अक्षर जब 'हीन-सयोग' के नाम के बीच मे आता है तो उनका निर्देश है कि उस न्यायवाक्य का रूपान्तर प्रतिलोम विधि से होगा। ऐसे 'हीन-संयोग' केवल दो है—बारोको और बोकार्डो। प्राचीन तर्क-शास्त्री इनको प्रतिलोम-विधि से ही रूपान्तरित किया करते थे, किंतु देखा गया कि अनुलोम-विधि से भी इनका रूपान्तर कर सकते हैं। ऐसा करने के लिए 'बारोको' का नाम बदल कर फाक्सोको, और 'बोकार्डो' का नाम बदल कर दोक्सामोस्क् कर देते है। इन दोनो मे प्रयुक्त 'क' अक्षर का निर्देश है कि जिस स्वर के बाद यह आता है उस वाक्य का 'परि-वर्तन' करना होगा। इस तरह 'क्स' का निर्देश है उस वाक्य का पहले 'परिवर्तन' करना और फिर उस 'परिवर्तित' का 'व्यत्यय' करना। उसी तरह, 'स्क' का निर्देश है उस वाक्य का पहले 'व्यत्यय' करना और फिर

उस 'व्यत्यस्त' का 'परिवर्तन' करना। यदि 'स्क' तीसरे स्वर के बाद आवे तो उसका निर्देश है कि रूपान्तर प्रक्रिया के सिलसिले में जो नया निष्कर्ष प्राप्त हुआ है उसका पहले 'व्यत्यय' करना और फिर उस व्यत्यस्त का 'परिवर्तन' करना।

(७) इनके अतिरिक्त जो दूसरे व्यञ्जनाक्षर है उनका कोई अर्थ नही है, वे उच्चारणार्थ हैं।

*　　*　　*

(ग) अनुलोम-विधि से रूपान्तरकरण

१. दूसरे क्रम के हीन-संयोगों का पहले क्रम के उत्तम-संयोग में रूपान्तर

दूसरे क्रम मे चार सिद्ध सयोग हैं—केसारे, कामेस्ट्रेस्, फेस्टीनो और बारोको। इनमे पहले दोनो के आदि अक्षर 'क' है। यह निर्देश करता है कि उनका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'केलारेण्ट्' मे होगा। तीसरे सयोग का आदि अक्षर 'फ' है; यह निर्देश करता है कि इसका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'फेरीओ' मे होगा। चौथे सयोग के बीच मे 'क' अक्षर प्रयुक्त हुआ है; यह निर्देश करता है कि इसका रूपान्तर प्रतिलोम-विधि से होगा। ऊपर देख चुके है कि अनुलोम-विधि से रूपान्तर करने के लिए इसका नाम बदल कर 'फाक्सोको' रख दिया जाता है; और तब उसका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'फेरीओ' में होता है। इनके रूपान्तर इस प्रकार होगें—

(१) केसारे	=	केलारेण्ट्
'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,		कोई 'हे' 'वि' नही है,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' है,		सभी 'उ' 'हे' है,
∴ 'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है।		∴ कोई 'उ' 'वि' नही है।

यहा, हीन-सयोग में विधेयवाक्य के बाद प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से उसका व्यत्यय करके रूपान्तर में रखा गया।

(२) कामेस्ट्रेस्	=	केलारेण्ट्
'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,	╳	कोई 'हे' 'उ' नही है,
'ए'— कोई 'उ' 'हे' नही है,		सभी 'वि' 'हे' है,
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'वि' नही है।		∴ कोई 'वि' 'उ' नही है,
		= कोई 'उ' 'वि' नही है।

यहां, हीन-संयोग में प्रयुक्त 'म' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसके आधारवाक्यों का स्थानान्तर कर दिया। अर्थात् उसके उद्देशवाक्य को विधेयवाक्य, और उसके विधेयाक्य को उद्देशवाक्य कर दिया। हीन-सयोग में उद्देशवाक्य के आगे प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसको व्यत्यस्त करके रखा। फिर, हीन-सयोग के तीसरे स्वर के आगे प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर-करण के सिलसिले में जो नया निष्कर्ष प्राप्त हुआ उसका व्यत्यय कर दिया।

(३) फेस्टीनो	=	फेरीओ
'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,		कोई 'हे' 'वि' नही है,
'ई'— कुछ 'उ' 'हे' है,		कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।		∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यहा, हीन-सयोग मे विधेयवाक्य के बाद प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसको व्यत्यस्त करके रखा।

(४) वारोको=फाक्सोको	=	फेरीओ
'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,		कोई 'नही-हे' 'वि' नही है,
'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नही है,		कुछ 'उ' 'नही-हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।		∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यहा, हीन-संयोग में विधेयवाक्य के बाद प्रयुक्त 'क्स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसको परिवर्तित और फिर व्यत्यस्त करके रखा। और, उद्देशवाक्य के बाद प्रयुक्त 'क' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसको परिवर्तित करके रखा।

२. *तीसरे क्रम के हीन-संयोगों का पहले क्रम के उत्तम संयोग मे रूपान्तर*

तीसरे क्रम मे सिद्ध न्यायवाक्यो के छः सयोग है—(१) दाराप्ती, (२) दीसामीस्, (३) दातीसी, (४) फेलाप्तोन्, (५) बोकार्डो, और (६) फेरीसोन्। इनमें पहले तीन के आदि में 'द' अक्षर आने से निर्देश होता है कि उनका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'दारीई' में होगा। चौथे और छठे का रूपान्तर 'फेरीओ' में होगा। पाँचवे के बीच में प्रयुक्त 'क' अक्षर बताता है कि इसका रूपान्तर प्रतिलोम-विधि से होगा। किंतु इसका रूपान्तर अनुलोम-विधि से भी हो सकता है; तब इसका नाम 'दोक्सामोस्क' होगा, और उसका रूपान्तर 'दारीई' में होगा। इनके रूपान्तर इस प्रकार होंगे—

(१) दाराप्ती	=	दारीई
'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,		सभी 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,		कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।		∴ कुछ 'उ' 'वि' है।

यहा, हीन-सयोग मे उद्देशवाक्य के बाद प्रयुक्त 'प' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसका विषम-व्यत्यय करके रखा।

(२) दीसामीस	=	दारीई
'आ'— कुछ 'हे' 'वि' है,	↗	सभी 'हे' 'उ' है,
'ई'—सभी 'हे' 'उ' है,	↘	कुछ 'वि' 'हे' है,

∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है। ∴ कुछ 'वि' 'उ' है।
स=कुछ 'उ' 'वि' है।

(३) दातीसी = दारीई
'आ'—सभी 'हे' 'वि' है, सभी 'हे' 'वि' है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' है, =स. कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है। ∴ कुछ 'उ' 'वि' है।

(४) फेलाप्तोन् = फेरीओ
'ए'—कोई 'हे' 'वि' नहीं है, कोई 'हे' 'वि' नहीं है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, =प. कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं है। ∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

(५) बोकार्डो=दोक्सामोस्क = दारीई
'ओ'—कुछ 'हे' 'वि' नहीं है, ╳ सभी 'हे' 'उ' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, = क्स. कुछ 'नहीं-वि' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं है। ∴ कुछ 'नहीं-वि' 'उ' है।
स्क=कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

(६) फेरीसोन् = फेरीओ
' '—कोई 'हे' 'वि' नहीं है, कोई 'हे' 'वि' नहीं है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' है, =स. कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं है। ∴ कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

३. चौथे क्रम के हीन-संयोगों का पहले क्रम के उत्तम संयोग में रूपान्तर

(१) ब्रामान्तीप् = बार्बारा
'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, ╳ सभी 'हे' 'उ' है,

'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,   सभी 'वि' 'हे' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है।   ∴ सभी 'वि' 'उ' है।
प=कुछ 'उ' 'वि' है।

(२) कामेनेस् = केलारेण्ट्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,   कोई 'हे' 'उ' नही है,
'ए'—कोई 'हे' 'उ' नही है,   सभी 'वि' 'हे' है,
∴ 'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है।   ∴ कोई 'वि' 'उ' नही है।
स=कोई 'उ' 'वि' नही है।

(३) दीमारीस् = दारीई

'ई'— कुछ 'वि' 'हे' है,   सभी 'हे' 'उ' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,   कुछ 'वि' 'हे' है,
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।   ∴ कुछ 'वि' 'उ' है।
स=कुछ 'उ' 'वि' है।

(४) फेसापो = फेरीओ

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,   =स कोई 'हे' 'वि' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,   =प. कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।   ∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।

(५) फ्रेसीसोन् = फेरीओ

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,   =स कोई 'हे' 'वि' नही है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है,   =स कुछ 'उ' 'हे' हैं,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।   ∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।

*   *   *

(घ) प्रतिलोम-विधि से रूपान्तरकरण

१. दूसरे क्रम के संयोगो का रूपान्तर

(१) केसारे

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' है,
∴ 'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका अत्यन्त विरुद्ध रूप (ई) 'कुछ 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल विधेयवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,   (मूल विधेयवाक्य)
'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है,   (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नही हैं।   (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'फेरीओ' के रूप में है, क्योकि यहां 'वि' हेतुपद का काम करता है।

अब, देखते हैं कि यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का अत्यन्त विरुद्ध रूप है। किंतु, आधारवाक्य की सत्यता तो पहले ही नियत कर ली जाती है, उसे असत्य माना नही जा सकता। इससे, मूल उद्देगवाक्य का विरुद्ध रूप यह नया निष्कर्ष ही असत्य माना जायगा। इस नये निष्कर्ष की असत्यता का कारण क्या है ? अनुमान की प्रक्रिया में कोई दोप नही है, क्योकि यह तो पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'फेरीओ' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य मे भी नही है, क्योकि यह तो मूल विधेयवाक्य है। अत. इसके (=नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देगवाक्य का ही असत्य होना है। यह जब असत्य हुआ तो इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्षवाक्य—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(२) कामेस्ट्रेस्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,
'ए'—कोई 'उ' 'हे' नही है,
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कुछ 'उ' 'वि' है' अवश्य सत्य होगा। मूल विधेयवाक्य के साथ इसे मिला कर पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, (मूल विधेयवाक्य)
'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'हे' है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'दारीई' के रूप मे है, क्योंकि इसमे 'वि' हेतुपद का काम कर रहा है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध-रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है ? अनुमान की प्रक्रिया मे कोई दोष नही हो सकता, क्योंकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'दारीई' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्याय-वाक्य के विधेयवाक्य मे भी नही है, क्योंकि यह मूल-न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अतः, इसके (=नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध-रूप—मूल निष्कर्ष-वाक्य—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(३) फेस्टीनो

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,
'ई'—कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप "सभी 'उ' 'वि' हैं" अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल विधेयवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नही है, (मूल विधेयवाक्य)
'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'हे' नही है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'केलारेण्ट्' के रूप म है, क्योकि इसमें 'वि' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत. अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है ? अनुमान की प्रक्रिया में कोई दोष नही हो सकता, *क्योकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-*संयोग 'केलारेण्ट्' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य में भी नही है, क्योकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अत, इसके (=नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(४) बारोको

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,	सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' है,
'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नही है,	कुछ 'प्राणी' 'चतुष्पद' नही है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।	∴ कुछ 'प्राणी' 'घोड़े' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि हैं' अथवा 'सभी प्राणी घोड़े हैं' अवश्य सत्य होगा। इसको मूल विधेयवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' है,
'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, सभी 'प्राणी' 'घोड़े' है,
∴ आ'—सभी 'उ' 'हे' है। ∴ सभी 'प्राणी' 'चतुष्पद' है।

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'वार्वारा' के रूप में है, क्योकि इसमे 'वि' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत. अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है? अनुमान की प्रक्रिया मे कोई दोष नही हो सकता, क्योकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'वार्वारा' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्याय-वाक्य के विधेयवाक्य मे भी नही है, क्योंकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अत., इसके (=नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

२. तीसरे क्रम के संयोगों का रूपान्तर

(१) दाराप्ती

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई उ वि नही है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल उद्देशवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'केलारेण्ट्' के रूप में है, क्योंकि यहां 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का 'भेदक' होने के कारण अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है? अनुमान की प्रक्रिया में कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'केलारेण्ट्' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य में भी नहीं है, क्योंकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अतः इसके (=नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(२) दीसामीस्

'ई'— कुछ 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई 'उ' 'वि' नहीं है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल उद्देशवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'— कोई 'उ' 'वि' नहीं है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ए'— कोई 'हे' 'वि' नहीं है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'केलारेण्ट्' के रूप में है, क्योंकि यहां 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत अवश्य असत्य होगा। इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य

के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूलन्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(३) दातीसी

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' हैं।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई 'उ' 'वि' नही हैं' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल उद्देशवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ओ'—कुछ 'हे' 'वि' नही है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम संयोग 'फेरीओ' के रूप में है, क्योकि यहा 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।....इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(४) फेलाप्तोन्

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य के साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'आ'—सभी 'हे' 'वि' है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम सयोग 'बार्बारा' के रूप में है, क्योंकि यहां 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत. अवश्य असत्य होगा।... इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(५) बोकार्डो

'ओ'—कुछ 'हे' 'वि' नहीं है,	कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,	सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।	∴ कुछ 'मरणशील' 'ज्ञानी' नहीं है

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि है' अथवा 'सभी मरणशील ज्ञानी है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य के साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' है,	सभी 'मरणशील' 'ज्ञानी' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,	सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
∴ 'आ'—सभी 'हे' 'वि' है।	∴ सभी 'मनुष्य' 'ज्ञानी' है।

बार्बारा

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।....इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(६) फेरीसोन्

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि हैं' सत्य होगा। इसके साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ई'— कुछ 'हे' 'वि' है। (नया निष्कर्ष)

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।....इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

३. चौथे क्रम के संयोगों का रूपान्तर

(१) ब्रामान्तीप्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,

∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि यह निष्कर्ष असत्य है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई उ वि नही है' अवश्य सत्य होगा। इसके साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देश वाक्य)
∴ 'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है। (नया निष्कर्ष)
=व्यत्यस्त—कोई 'वि 'हे' नही है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का 'भेदक' है, अत. अवश्य असत्य होगा।....इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(२) कामेनेस

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,
'ए'— कोई 'हे' 'उ' नही है,
∴ 'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष असत्य है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कुछ 'उ' 'वि' है' अवश्य सत्य होगा। मूल विधेयवाक्य के साथ इसे मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, (मूल विधेय वाक्य)
'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'हे' है। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कुछ 'हे' 'उ' है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत. अवश्य असत्य होगा। .. इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका

विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(३) दीमारीस्

'ई'— कुछ 'वि' 'हे' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई उ वि नहीं है' अवश्य सत्य होगा। इसे विधेयवाक्य बना मूल उद्देशवाक्य के साथ पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कोई 'वि' 'हे' नही है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत. अवश्य असत्य होगा।....इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(४) फेसापो

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि है' अवश्य सत्य होगा। इसे विधेयवाक्य बना मूल उद्देशवाक्य के साथ पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'आ'—सभी 'हे' 'वि' है। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कुछ 'वि' 'हे' है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत अवश्य असत्य होगा।....इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(५) फ़ेसीसोन्

'ए—कोई 'वि' 'हे' नहीं है,
'ई—कुछ 'हे' 'उ' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि हैं' अवश्य सत्य होगा। उसे विधेयवाक्य बना मूल उद्देशवाक्य के साथ पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ई'—कुछ 'हे' 'वि' है। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कुछ 'वि' 'हे' है।

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'दारीई' के रूप में है, क्योंकि इसमें 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है? अनुमान की प्रक्रिया

मे कोई दोष नही हो सकता, क्योकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'दारीई' के रूप मे है। फिर उस निष्कर्ष का व्यत्यय अनन्तरानुमान से विधिवत् निष्कर्ष निकाला गया है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य में भी नही है, क्योकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अतः इसके असत्य होने का कारण इस नये न्याय-वाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

'फ़ेसीसोन्' को प्रतिलोम-विधि से रूपान्तर करने मे उसके निष्कर्ष के विरुद्ध रूप को नये न्यायवाक्य मे उद्देशवाक्य भी बना कर सिद्ध कर सकते है। जैसे—

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है, (मूल विधेयवाक्य)
'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध रूप)
∴ 'ए'— कोई 'उ' 'हे' नही है। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कोई 'हे' 'उ' नही है।

यह निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः असत्य है।.... इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

द्रष्टव्य

(१) चौथे क्रम के 'कामेनेस्' और दूसरे क्रम के सभी संयोगो को प्रतिलोम-विधि से रूपान्तर करने में उनके निष्कर्ष के विरुद्ध रूप को नये न्यायवाक्य मे उद्देशवाक्य बनाते हैं।

(२) 'कामेनेस्' को छोड़, तीसरे और चौथे क्रमों के सभी सयोगो को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने में उनके निष्कर्ष के विरुद्ध रूप को नये न्यायवाक्य मे विधेयवाक्य बनाते हैं।

(३) 'फेमापो' और 'फ्रेसीसोन्' को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने में उनके निष्कर्ष के विरुद्ध रूप को नये न्यायवाक्य मे चाहे तो उद्देश-वाक्य भी और चाहे तो विधेयवाक्य भी बना सकते है।

§ १९—'आवश्यकमात्र'[1] और 'आवश्यकाधिक'[2] न्यायवाक्य

सिद्ध न्यायवाक्य में हेतुपद कम से कम एक वार अवश्य सर्वांगी होना है; और आधारवाक्य मे बिना सर्वांगी हुए कोई पद निष्कर्ष मे सर्वांगी नहीं हो सकता। इतनी बात कम से कम अवश्य होनी चाहिए।

जिस न्यायवाक्य मे इतनी ही बात पूरी हुई हो, अर्थात् हेतुपद केवल एक ही बार सर्वांगी हो और आधारवाक्य में कोई पद सर्वांगी न हो जो निष्कर्ष में सर्वांगी न हुआ हो, उसे 'आवश्यक मात्र' न्यायवाक्य कहते हैं। यदि न्यायवाक्य के दोनों आधारवाक्यों में हेतुपद सर्वांगी हो, अथवा उनमें कोई ऐसा पद सर्वांगी हो जो निष्कर्ष में सर्वांगी न हुआ हो, तो उसे 'आवश्यकाधिक' न्यायवाक्य कहते हैं।

अर्थात्, जिस न्यायवाक्य के आधारवाक्यों में कोई पद अनावश्यक सर्वांगी न हुआ हो उसे 'आवश्यकमात्र' न्यायवाक्य कहते हैं। जिस न्यायवाक्य के आधारवाक्यों में कोई ऐसा पद भी सर्वांगी हो गया हो जो उस (न्यायवाक्य) की सिद्धि के लिए आवश्यक न था उसे 'आवश्यकाधिक' न्यायवाक्य कहते हैं।

अब, यदि सभी १९ सिद्ध-न्यायवाक्य-सयोगों की परीक्षा करें तो

---

[1] Fundamental. [2] Non-fundamental Syllogism.

देखेंगे कि 'दाराप्ती', 'फेलाप्तोन्' और फेसापो' इन तीनों में हेतुपद दो दो वार सर्वांशी हुए हैं; और 'ब्रामान्तीप्' के आधारवाक्य में 'वि' सर्वांशी है किंतु निष्कर्ष में नही है। इन न्यायवाक्यो की सिद्धि के लिए इन पदों का सर्वांगी होना आवश्यक न था। पहले तीन संयोगों में हेतुपद यदि एक एक ही वार सर्वांशी होता, और चौथे संयोग में यदि 'वि' आधारवाक्य में सर्वांशी न होता, तो भी उनके वही निष्कर्ष निकलते। अतः, कुल सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोगों मे यही चार 'आवश्यकाधिक' न्यायवाक्य है, और शेष पन्द्रह 'आवश्यकमात्र' न्यायवाक्य है।

§ २०—'मंद'[1] और 'अमंद'[2] न्यायवाक्य

जिस न्यायवाक्य मे नियमतः निष्कर्षवाक्य 'सामान्य' हो सकता हो, किंतु उसका 'विशेष' रूप ही लिया गया हो उसे मंद अथवा समावेश[3] संयोग न्यायवाक्य कहते हैं। उदाहरणार्थ—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' है,
'ई'—∴ कुछ 'उ' 'वि' है।

यह न्यायवाक्य पहले क्रम के 'वार्वारा' रूप में प्राप्त था। यहां निष्कर्ष 'सामान्य वाक्य' अपेक्षित था, किंतु उसका 'विशेष' रूप ही लिया गया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि यदि 'समावेशक वाक्य' सत्य हो तो उसका 'समाविष्ट वाक्य' अवश्य सत्य होगा। इस नियम के अनुसार 'आ' निष्कर्ष के बदले 'ई' लेने में कोई आपत्ति नही है। किंतु निष्कर्ष की व्यापकता यों ही सीमित तथा अनिश्चित कर देने में उतने अंश में सत्य का गोपन होता है। इसलिए, ऐसे न्याय वाक्य 'मंद' है।

---

[1] Weakened. [2] Non-weakened Syllogism.
[3] Subaltern Mood.

हम देखेंगे कि कुल १६ सिद्ध न्यायवाक्यों में केवल पाँच ऐसे हैं जिनके निष्कर्ष सामान्य हैं—वार्बारा, केलारेण्ट्, केसारे, कामेस्ट्रेस् और कामेनेस्। इन 'अमंद' न्यायवाक्यों के निष्कर्ष को यदि 'विशेष' रूप दे दें तो ये ही 'मद न्यायवाक्य' हो जायेंगे; जैसे—

वार्बारो, केलारोण्ट्, केसारो, कामेस्ट्रोस् और कामेनोस।

तीसरे क्रम के न्यायवाक्यों मे निष्कर्ष बराबर 'विशेष' होते है, अतः उन्हें 'मंद' करने की बात ही नहीं उठती।

§ २१—'सबल'[1] और 'यथाबल'[2] न्यायवाक्य

जहा किसी 'विशेष' वाक्य के आधार पर ही कोई निष्कर्ष निकल सकता हो, वहा यदि उसका सामान्य रूप दे दिया गया हो, तो उस न्याय-वाक्य को सबल न्यायवाक्य कहते हैं। अर्थात्, 'सबल न्यायवाक्य' वह है जिसका कोई आधारवाक्य आवश्यकता से अधिक बल वाला हो। जैसे—

दाराप्ती
'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है।

यहा, यदि विधेयवाक्य 'सामान्य' न हो कर 'विशेष' होता, तो भी यही निष्कर्ष निकलता। जैसे—

'ई'—कुछ 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है। दीसामीस्

और, विधेयवाक्य को विशेष न बना कर उद्देशवाक्य को विशेष बनावें तो भी वही निष्कर्ष निकलेगा। जैसे—

---

[1] Strengthened. [2] Non-strengthened Syllogism.

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है। दातीसी

इतने से यह स्पष्ट मालूम होगा कि जितने 'आवश्यकाधिक' न्याय-वाक्य हैं (अर्थात् दाराप्ती, फेलाप्तोन्, ब्रामान्तीप् और फेसापो)। सभी 'सबल' है। इन चारों के अलावा सभी 'मंद' न्यायवाक्य भी, केवल 'कामेनोस' (४था क्रम) को छोड, 'सबल' है। 'कामेनोस' सबल न्यायवाक्य नही है, क्योकि इसका कोई आधारवाक्य आवश्यकता से अधिक बल वाला नही है। इसके किसी आधारवाक्य को यदि सामान्य से विशेष कर दें तो कोई निष्कर्ष नही निकलेगा।

§ २२—शुद्ध हेतुफलाश्रित न्याय वाक्य[1]

अभी तक हम 'शुद्ध निरपेक्ष न्यायवाक्यों' पर विचार करते रहे, जिनमे तीनो अवयव 'निरपेक्ष वाक्य' ही है। इसी तरह, न्यायवाक्य के तीनो अवयव 'हेतुफलाश्रित वाक्य' भी हो सकते है, और तब उसे 'शुद्ध-हेतुफलाश्रित-न्यायवाक्य' कहेंगे।

ऊपर हम देख चुके है कि हेतुफलाश्रित वाक्य के भी 'गुण' और 'अंश' के भेद से वही चार रूप होते है जो निरपेक्ष वाक्य के। हेतुफलाश्रित वाक्य का 'गुण' इसके 'फल' के गुण के, और इसका 'अश' इसके 'हेतु' के अश के अनुसार होता है। जैसे:—

'आ'—(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है।
(२) यदि 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' है।
(३) यदि 'क' 'ख' है, तो कुछ 'ग' 'घ' है।
(४) यदि 'क' 'ख' नही है, तो कुछ 'ग' 'घ' है।

---

[1] Pure Hypothetical Syllogism.

'ए'—(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नही है।
(२) यदि 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' नही है।
(३) यदि 'क' 'ख' है, तो कुछ 'ग' 'घ' नही है।
(४) यदि 'क' 'ख' नही है, तो कुछ 'ग' 'घ' नही है।

'ई'—(१) यदि कुछ 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है।
(२) यदि कुछ 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' है।
(३) यदि कुछ 'क' 'ख' है, तो कुछ 'ग' 'घ' है।
(४) यदि कुछ 'क' 'ख' नही है, तो कुछ 'ग' 'घ' है।

'ओ'—(१) यदि कुछ 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नही है।
(२) यदि कुछ 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' नही है।
(३) यदि कुछ 'क' 'ख' है, तो कुछ 'ग' 'घ' नही है।
(४) यदि कुछ 'क' 'ख' नही है, तो कुछ 'ग' 'घ' नही है।

व्यवहार मे इन रूपो का उतना उपयोग नही है, अत न्यायवाक्यो में इनके सयोग कितने प्रकार के होगे इन पर विचार करने की यहा आवश्यकता नही है। किन्तु, इन रूपो के वे सभी सयोग सिद्ध होगे जो निरपेक्ष-न्यायवाक्यो मे होते है।

उदाहरणार्थ, बार्बारा का एक रूप होगा—

'आ'—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है,
यदि 'च' 'छ' है, तो 'क' 'ख' है,
∴ यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है।

यदि 'यह' 'रत्न' है, तो 'यह' 'बहुमूल्य' है,
यदि 'यह' 'हीरा' है, तो 'यह' 'रत्न' है,
∴ यदि 'यह' 'हीरा' है, तो 'यह' 'बहुमूल्य' है।

§ २३—कुछ द्रष्टव्य उपनियम

(१) यदि निष्कर्ष-वाक्य सामान्य हो, तो आधारवाक्यो में हेतुपद केवल एक बार ही सर्वांशी होगा।[1]

सिद्धि—यदि निष्कर्ष-वाक्य सामान्य हो, तो यह या तो 'आ' होगा या 'ए'।

यदि निष्कर्ष-वाक्य 'आ' हो, तो दोनो आधारवाक्य भी अवश्य 'आ' ही होगे। क्योकि, निष्कर्ष के विधानात्मक होने के कारण दोनो आधार-वाक्य भी अवश्य विधानात्मक होगे, और निष्कर्ष के सामान्य होने के कारण दोनो आधार-वाक्य भी अवश्य सामान्य होगे। दोनो आधारवाक्यो के 'आ' होने से उनमे केवल दो ही पद—दोनो के उद्देश—सर्वांशी हो सकेगे। इन दोनो मे एक तो अवश्य 'उ' होगा, क्योकि निष्कर्ष मे 'उ' सर्वांशी होने के कारण आधारवाक्य मे भी अवश्य सर्वांशी होगा। दूसरा जो एक बचता है वही हेतुपद होगा।

यदि निष्कर्ष-वाक्य 'ए' हो, तो एक आधारवाक्य भी अवश्य 'ए' होगा, और दूसरा आधारवाक्य 'आ' होगा। क्योंकि, निष्कर्ष-वाक्य सामान्य होने के कारण दोनो आधारवाक्यो को अवश्य सामान्य होना चाहिए, और निष्कर्ष-वाक्य के निषेधात्मक होने के कारण एक आधार-वाक्य को अवश्य निषेधात्मक होना चाहिए। इन दो आधारवाक्यो में केवल तीन पद सर्वांशी है—'आ' का उद्देश, और 'ए' के दोनों पद। अब, निष्कर्षवाक्य 'ए' होने के कारण 'उ' और 'वि' दोनो सर्वांशी है, और इसलिए उन्हे आधारवाक्यो में भी सर्वांशी होना चाहिए। तब, जो तीसरा एक सर्वांशी पद बचता है वह हेतुपद होगा।

---

[1] If the conclusion be universal, the middle term can be distributed only once in the premises.

(२) केवल पहले क्रम में ही 'आ' वाक्य निष्कर्ष हो सकता है[1]

सिद्धि—यदि निष्कर्ष 'आ' हो, तो दोनो आधारवाक्य भी अवश्य 'आ' होगे। क्योंकि, निष्कर्ष के विधानात्मक होने के कारण दोनो आधारवाक्य भी अवश्य विधानात्मक होगे; और निष्कर्ष के सामान्य होने के कारण दोनो आधारवाक्य भी अवश्य सामान्य होगे।

'आ' निष्कर्ष-वाक्य मे 'उ' सर्वांगी है; इसे उद्देशवाक्य में भी सर्वांगी होना आवश्यक है। अत, यहाँ उद्देशवाक्य का उद्देशपद ही 'उ' होगा क्योंकि इसमे केवल वही सर्वांगी है। विधेयवाक्य का उद्देशपद जो सर्वांगी है अवश्य 'हे' होगा। तब, विधेयवाक्य का विधेयपद 'वि' होगा; और उद्देशवाक्य का विधेयपद 'हे' होगा। इस तरह, इस न्यायवाक्य मे क्रम होगा—

हे—वि
उ—हे

यह पहला क्रम है।

(३) पहले क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता[2]

सिद्धि—पहले क्रम मे 'हे' विधेयवाक्य में उद्देश, और उद्देशवाक्य मे विधेय होता है।

यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो, तो उद्देशवाक्य अवश्य 'आ' होगा : क्योंकि, दोनो आधारवाक्य न तो निषेधात्मक हो सकते है और न विशेष। विधेयवाक्य 'ओ' और उद्देशवाक्य 'आ' होने मे यहा 'हे' को एक बार भी सर्वांगी होने का अवसर नहीं मिलेगा। अत कोई निष्कर्ष नही निकल सकेगा।

---

[1] The first figure alone can prove the proposition. 'A' [2] The proposition O cannot be a premise in the 1st figure.

यदि उद्देशवाक्य 'ओ' हो, तो उक्त कारण से विधेयवाक्य अवश्य 'आ' होगा। और, निष्कर्षवाक्य 'ओ' होगा। निष्कर्षवाक्य निषेधात्मक होने के कारण उसमे 'वि' सर्वांशी होगा। उसे विधेयवाक्य मे भी सर्वांशी होना आवश्यक होगा। किंतु यहा वह सर्वांशी नही है। अत, कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

इस तरह, सिद्ध हुआ कि पहले क्रम मे आधारवाक्य 'ओ' नही हो सकता, न तो उद्देशवाक्य और न विधेयवाक्य।

(४) चौथे क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता[1]

प्रमाण—चौथे क्रम मे 'हे' विधेयवाक्य मे विधेय, और उद्देशवाक्य मे उद्देश होता है। यदि कोई भी आधारवाक्य 'ओ' हो तो दूसरा आधार-वाक्य 'आ' होगा; और उनका निष्कर्ष 'ओ' होगा।

यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमें 'वि' सर्वांशी नही होने के कारण वह निष्कर्ष मे भी सर्वांशी नही हो सकता। किंतु निष्कर्ष 'ओ' होने के कारण उसमे 'वि' सर्वांशी होना चाहिए। इस कारण, विधेयवाक्य 'ओ' नही हो सकता।

यदि उद्देशवाक्य 'ओ' हो तो इसमें 'हे' सर्वांशी नही होगा। तब, इसे विधेय वाक्य मे सर्वांशी होना अवश्य चाहिए। किंतु विधेयवाक्य 'आ' होने के कारण इसमे भी 'हे' सर्वांशी नही हो सकता।

इससे सिद्ध हुआ कि चौथे क्रम मे आधारवाक्य 'ओ' नही हो सकता।

(५) 'ओ' विधेयवाक्य केवल तीसरे क्रम में हो सकता है[2]

प्रमाण—(क) पहले क्रम मे विधेयवाक्य 'ओ' नही हो सकता।

---

[1] The proposition O cannot be a premise in the fourth figure. [2] The proposition O can be the major premise only in the third figure.

पहले क्रम में, 'हे' विधेयवाक्य में उद्देश और उद्देशवाक्य में विधेय होता है। अब, यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो, तो उद्देशवाक्य 'आ' होगा। और तब इनमे किसी मे भी 'हे' सर्वांगी नहीं होगा। अतः इन मे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

(ख) दूसरे क्रम में भी विधेयवाक्य 'ओ' नही हो सकता।

दूसरे क्रम मे, दोनो आधारवाक्यो में 'हे' विधेय होता है। अत., यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमे 'वि' सर्वांशी नही होगा। किंतु, एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा, और उसमे 'वि' सर्वांगी होना चाहिए। इस तरह 'अनुचित विधेय' दोष हो जाता है। कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा।

(ग) चौथे क्रम मे भी विधेयवाक्य 'ओ' नही हो सकता। चौथे क्रम में, 'हे' विधेयवाक्य म विधेय और उद्देशवाक्य में उद्देश होता है।

यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमे 'वि' सर्वांशी नही होगा। किंतु, एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा, और उसमे 'वि' सर्वांशी होना चाहिए। इस तरह, 'अनुचित विधेय दोष' हो जाता है। कोई निष्कर्ष नही निकलेगा।

(घ) तीसरे क्रम मे विधेयवाक्य 'ओ' हो सकता है।

तीसरे क्रम में, 'हे' दोनो आधारवाक्यो मे उद्देश होता है। यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमे 'वि' सर्वांशी होगा, और निषेधात्मक निष्कर्ष मे 'अनुचित विधेय' दोष होने का प्रसग नहीं आवेगा। फिर, विधेयवाक्य 'ओ' होने से उद्देशवाक्य 'आ' होगा, जिसमे 'हे' उद्देश होने के कारण सर्वांगी होगा। इस तरह, न तो ''अनुचित विधेय' का और न 'असर्वांगी हेतु' का दोष होगा। इनके आधार पर जो निष्कर्ष निकलेगा वह 'ओ' वाक्य होगा।

(६) दूसरे क्रम को छोड़, और किसी भी क्रम में 'ओ' उद्देशवाक्य नही हो सकता।[1]

प्रमाण—(क) पहले क्रम मे 'ओ' उद्देशवाक्य नही हो सकता, क्योंकि, जैसा ऊपर देख चुके है, इससे 'अनुचित विधेय' का दोष हो जायगा।

(ख) तीसरे क्रम मे यदि 'ओ' उद्देशवाक्य हो, तो विधेयवाक्य 'आ' और निष्कर्ष वाक्य 'ओ' होगा। तब, निष्कर्ष में 'वि' सर्वांशी होगा, और उसे विधेयवाक्य मे भी सर्वांशी होना चाहिए। किंतु यहा 'आ' विधेयवाक्य मे 'वि' विधेय होने के कारण सर्वांशी नही है। इस तरह, 'अनुचित विधेय' का दोष उपस्थित होता है।

(ग) चौथे क्रम मे यदि 'ओ' उद्देशवाक्य हो, तो विधेयवाक्य 'आ' होगा। तब, इस क्रम मे 'हे' न तो विधेयवाक्य मे सर्वांशी होगा और न उद्देशवाक्य में। 'असर्वांशी हेतु' दोष आ जाने के कारण कोई निष्कर्ष नही निकलेगा।

(घ) दूसरे क्रम मे 'ओ' उद्देशवाक्य हो सकता है। उद्देशवाक्य 'ओ' होने से विधेयवाक्य 'आ' और निष्कर्षवाक्य 'ओ' होगा। निष्कर्ष में 'वि' सर्वांशी है; और वह विधेयवाक्य मे भी है (क्योकि, यहाँ 'वि' विधेयवाक्य का उद्देश है, जो सर्वांशी है)। फिर, 'हे' उद्देशवाक्य में निषेधात्मवाक्य के विधेय होने के कारण सर्वांशी है। इस तरह, इसके आधार पर निर्दोष निष्कर्ष निकल सकता है।

(७) सभी क्रमों में, उद्देशवाक्य निषेधात्मक होने से विधेयवाक्य अवश्य सामान्य होगा।[2]

---

[1] The preposition O cannot be a minor premise, in any other figure but the second.

[2] In every figure, if the minor premise be negative, the major must be universal.

उद्देश्यवाक्य निषेधात्मक हो तो विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा। और, उनका निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष में 'वि' सर्वांगी होगा। उसे विधेयवाक्य में भी सर्वांगी होना चाहिए।

चूंकि यहां विधेयवाक्य विधानात्मक है, इसमें सर्वांगी 'वि' विधेय न होकर उद्देश्य ही होगा। और, उद्देश के सर्वांगी होने का अर्थ है उस वाक्य का सामान्य होना।

(८) यदि 'हे' दोनों आधारवाक्यों में सर्वांगी हो, तो निष्कर्ष सामान्य नहीं हो सकता।'

यदि निष्कर्ष सामान्य हो, तो वह या तो विधानात्मक होगा या निषेधात्मक, या तो 'आ' या 'ए'।

यदि निष्कर्ष 'आ' हो तो दोनों आधारवाक्य भी 'आ' होंगे। क्योंकि एक भी आधारवाक्य के 'विशेष' होने से निष्कर्ष विशेष होता, और एक भी आधारवाक्य के निषेधात्मक होने से निष्कर्ष निषेधात्मक होता। निष्कर्ष 'आ' होने से उसमें 'उ' सर्वांगी होगा, और उसे आधारवाक्य में भी सर्वांगी होना चाहिए। किन्तु इन दो आधारवाक्यों के जो उद्देश सर्वांगी हैं वे तो 'हे' हैं; अतः 'उ' उनमें सर्वांगी नहीं है। निष्कर्ष में भी 'उ' सर्वांगी नहीं हो सकता। अर्थात्, निष्कर्ष सामान्य नहीं होगा।

यदि निष्कर्ष 'ए' हो तो उसमें 'उ' और 'वि' दोनों सर्वांगी होंगे, और आधारवाक्यों में भी उन्हें सर्वांगी होना चाहिए। फिर, निष्कर्ष 'ए' होने से एक आधारवाक्य अवश्य 'ए' होगा और दूसरा 'आ'। क्योंकि, एक भी आधारवाक्य के विशेष होने से निष्कर्ष विशेष होता, और दोनों के निषेधात्मक होने से कोई निष्कर्ष ही नहीं निकलता। इस तरह,

---

'If the middle term be distributed in both the premises the conclusion cannot be universal.

आधारवाक्यो में केवल तीन ही पद सर्वांशी हो सकेंगे । इनमे दो 'हे' होगें, तो एक 'वि' होगा क्योंकि निष्कर्ष निषेधात्मक है । तब 'उ' को सर्वांशी होना सम्भव नही रहता । निष्कर्ष मे भी 'उ' सर्वांशी नही होगा । अर्थात् वह वाक्य सामान्य नही होगा ।

(६) यदि आधारवाक्य में 'उ' विधेय हो, तो निष्कर्ष कदापि 'आ' नही हो सकता ।

या तो 'उ' सर्वांशी है या नही । यदि 'उ' सर्वांशी हो, तो उद्देशवाक्य निषेधात्मक होगा । तब निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा । अतः यह 'आ' नही हो सकता ।

यदि आधारवाक्य मे 'उ' सर्वांशी न हो, तो निष्कर्ष मे भी वह नही होगा । अर्थात् निष्कर्ष सामान्य नही होगा । अत. यह 'आ' नही हो सकता ।

(१०) विधेयवाक्य में 'वि' यदि विधेय हो तो उद्देशवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा ।

विधेयवाक्य मे 'वि' या तो सर्वांशी है या नही । यदि सर्वांशी हो तो वह वाक्य निषेधात्मक होगा । तब, उद्देशवाक्य को अवश्य विधानात्मक होना चाहिए, क्योंकि दो निषेधात्मक वाक्यों से कोई निष्कर्ष नही निकलता ।

यदि विधेयवाक्य में 'वि' सर्वांशी न हो, तो यह निष्कर्ष में भी सर्वांशी नही हो सकता । अर्थात् निष्कर्ष विधानात्मक होगा । निष्कर्ष विधानात्मक होने का अर्थ है कि इसके दोनो आधारवाक्य भी अवश्य विधानात्मक होगे । अत. उद्देशवाक्य विधानात्मक ही हुआ ।

निगमन विधि

दूसरा भाग

(परंपरानुमान)

न्यायवाक्य

(ख मिश्र[1])

§ १—हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य[2]

हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य मिश्र-न्यायवाक्य का वह रूप है जिसका विधेयवाक्य हेतुफलाश्रित, और उद्देश्यवाक्य तथा निष्कर्षवाक्य निरपेक्ष होते हैं। हेतु और फल का जो परस्पर सम्बन्ध है, वही इस न्यायवाक्य की सिद्धि का आधार है। इस 'सम्बन्ध' में दो नियम काम करते हैं—

(१) हेतु के विधान से फल का विधान कर सकते है, किंतु फल के विधान से हेतु का विधान नहीं कर सकते। और,

(२) फल के निषेध से हेतु का निषेध कर सकते है, किंतु हेतु के निषेध से फल का निषेध नहीं कर सकते।

पहले प्रकार के न्यायवाक्य को विधायक[3] और दूसरे प्रकार के न्यायवाक्य को विघातक[4] कहते हैं।

---

[1] Mixed Syllogism. [2] Hypothetical-categorical Syllogism. [3] Modus Ponens (Constructive). [4] Modus Tollens (Destructive).

(क) विधायक हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य

इस न्यायवाक्य का विधेयवाक्य हेतुफलाश्रित होता है : इसका उद्देशवाक्य हेतु का निरपेक्ष विधान करता है : और, इसका निष्कर्ष-वाक्य 'फल' का निरपेक्ष विधान करता है। जैसे—

१. यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है;
'क' 'ख' है,
∴ 'ग' 'घ' है।
यदि दीया जलता है, तो प्रकाश होता है,
दीया जलता है,
प्रकाश होता है।

२ यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नही है,
'क' 'ख' है,
∴ 'ग' 'घ' नही है।
यदि चौकीदार जागता है, तो चोर नही आते है,
चौकीदार जागता है,
चोर नही आते है।

३. यदि 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' है,
'क' 'ख' नही है,
∴ 'ग' 'घ' है।
यदि कमरा अंधेरा नही है, तो लडका जागता है;
कमरा अंधेरा नही है,
∴ लड़का जागता है।

४. यदि 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' नही है,
'क' 'ख' नही है,
∴ 'ग' 'घ' नही है।

यदि वृष्टि नहीं होती है, तो धान नहीं होता है;
वृष्टि नहीं होती है,
∴ धान नहीं होता है।

(ख) विघातक[1] हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य

इस न्यायवाक्य का विधेयवाक्य हेतुफलाश्रित होता है : इसका उद्देश्यवाक्य 'फल' का निरपेक्ष निषेध करता है : और इसका निष्कर्ष-वाक्य 'हेतु' का निरपेक्ष निषेध करता है। जैसे—

१. यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है;
'ग' 'घ' नहीं है,
∴ 'क' 'ख' नहीं है।
यदि दीया जलता है, तो प्रकाश होता है;
प्रकाश नहीं होता है,
∴ दीया नहीं जलता है।

२. यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नहीं है;
'ग' 'घ' है,
∴ 'क' 'ख' नहीं है।
यदि चौकीदार जागता है तो चोर नहीं आते हैं;
चोर आते हैं,
∴ चौकीदार नहीं जागता है।

३. यदि 'क' 'ख' नहीं है, तो 'ग' 'घ' है,
'ग' 'घ' नहीं है,
∴ 'क' 'ख' है।
यदि कमरा अंधेरा नहीं है, तो लडका जागता है;

---

[1] Destructive.

लड़का जागता नही है,
∴ कमरा अँधेरा है।

४ यदि 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' नही है,
'ग' 'घ' है,
∴ 'क' 'ख' है।

यदि वृष्टि नही होती है, तो धान नही होता है;
धान होता है,
∴ वृष्टि होती है।

यह स्मरण रहे कि हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य के 'विधायक' तथा 'विघातक' रूप का सम्बन्ध उसके अवयवो के 'गुण' से नही है। अवयव विधानात्मक भी हो सकते है, और निषेधात्मक भी। किन्तु वे रूप इसी से जाने जाते है कि उद्देशवाक्य हेतु का विधान करता है, या फल का निषेध करता है।

(ग) इन न्यायवाक्यो के दोष

इन न्यायवाक्यो के दोष दो है—'फल-विधान' और 'हेतुनिषेध'।

फल-विधान दोष[1]—यदि किसी हेतुफलाश्रित वाक्य के फल का विधान करके हेतु का विधान करना चाहे तो यह नही हो सकता। जैसे—

यदि वह विष खाय, तो मर जाय;
वह मर गया,
∴ उसने विष खाया।

यह न्यायवाक्य ठीक नही है। क्योकि उसके मरने के दूसरे भी हेतु हो सकते है। इससे सिद्ध होता है कि फल का विधान करके हेतु का विधान करना सम्भव नही। इस दोष को 'फल-विधान दोष' कहते है।

---

[1] Fallacy of affirming the consequent.

इस न्यायवाक्य को शुद्ध निरपेक्ष रूप में ला कर भी इस दोष की परीक्षा कर सकते हैं। जैसे—

सभी 'विष खाने की अवस्थायें' 'मर जाने की अवस्थायें' है,
'यह' 'मर जाने की अवस्था' है,
∴ 'यह' 'विष खाने की अवस्था' है

इस न्यायवाक्य मे हेतुपद 'मर जाने की अवस्था' एक बार भी सर्वांगी नहीं है। अत: इनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य का 'फल-विधान-दोष' वही चीज है जो शुद्ध निरपेक्ष न्यायवाक्य मे 'असर्वांगी-हेतु-दोष' है।

हेतु-निषेध दोष'[1]—यदि किसी हेतुफलाश्रित वाक्य के हेतु का निषेध करके फल का निषेध करना चाहे तो यह नही हो सकता। जैसे—

यदि वह विष खाय, तो मर जाय,
उसने विष नहीं खाया,
∴ वह नहीं मरा।

यह न्यायवाक्य ठीक नही है। क्योंकि विष न खाने पर भी वह दूसरे कारण से मर जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि हेतु का निषेध करके फल का निषेध करना सम्भव नही है। इस दोष को 'हेतु निषेध दोष' कहते हैं।

इस न्यायवाक्य को शुद्ध निरपेक्ष रूप मे ला कर भी इस दोष की परीक्षा कर सकते हैं। जैसे—

सभी 'विष खाने की अवस्थायें' 'मर जाने की अवस्थायें' हैं,
'यह' 'विष खाने की अवस्था' नहीं है,
∴ 'यह' 'मर जाने की अवस्था' नही है।

इस निष्कर्ष मे 'वि' सर्वांगी है, किंतु वह आधारवाक्य मे सर्वांगी

[1] Fallacy of denying the antecedent.

नही है। अत. न्यायवाक्य सिद्ध नही हुआ। हेतुफलाश्रित-निरपेक्षन्याय-वाक्य का 'हेतु-निषेध दोष' वही चीज है जो शुद्ध निरपेक्ष न्यायवाक्य में 'अनुचित विधेय दोष' है।

§ २—वैकल्पिक-निरपेक्ष न्यायवाक्य[1]

वैकल्पिक-निरपेक्ष न्यायवाक्य मिश्र न्यायवाक्य का वह रूप है जिसका विधेयवाक्य वैकल्पिक, और उद्देशवाक्य तथा निष्कर्षवाक्य निरपेक्ष होते है। इसे सक्षेप में वैकल्पिक न्यायवाक्य भी कहते है।

इस न्यायवाक्य की सिद्धि का आधारभूत नियम यह है—किसी वैकल्पिक विधेयवाक्य के एक विकल्प का यदि उद्देशवाक्य में निषेध करें तो निष्कर्ष में उसके दूसरे विकल्प का विधान कर सकते है।[2] जैसे—

सांकेतिक

या तो 'क' 'ख' है, या 'ग' 'घ' है,
'क' 'ख' नही है,
∴ 'ग' 'घ' है।

या तो 'क' 'ख' है, या 'ग' 'घ' है,
'ग' 'घ' नही है,
∴ 'क' 'ख' है।

वास्तविक

या तो ईश्वर है, या बाइबिल झूठी है,
ईश्वर नही है,

---

[1] Disjunctive-categorical syllogism.

[2] Deny any of the alternatives of the Disjunctive major premise in the minor premise and you can affirm the other alternative of the major premise in the conclusion.

§ ३—मेण्डक-प्रयोग[1]

मेण्डक (=भेड़ा) के जैसे दो भयानक सीग होते है जिनके बीच मे पड कोई सुरक्षित नही रहता, एक से बचना चाहता है तो दूसरे की चोट लगती है, उसी तरह न्यायवाक्य के इस प्रयोग मे प्रतिवादी दो ऐसे विकल्पो के बीच डाल दिया जाता है जो दोनो उसके अनिष्ट होते है, जिनसे बचना कठिन होता है। पहली शताब्दी के आस-पास लिखी गई पालि किताब 'मिलिन्दपञ्हो' में इस न्यायवाक्य के बड़े सुन्दर उदाहरण मिलते है, जिन्हे ग्रीक-सम्राट् मिलिन्द (Menandor) बौद्ध धर्म के विपक्ष मे उपस्थित करता है।[2]

मेण्डक-प्रयोग मिश्रन्यायवाक्य का वह रूप है जिसके विधेयवाक्य मे दो हेतुफलाश्रित वाक्य सयुक्त होते है, उद्देशवाक्य वैकल्पिक होता है, (जिसके दोनो विकल्प या तो उनके हेतुका विधान करते है, या उनके फलो का निषेध करते है), और निष्कर्ष-वाक्य निरपेक्ष या वैकल्पिक होता है।

इस प्रयोग के तीनो अवयव इस प्रकार होते है—

(क) **विधेयवाक्य**—दो सयुक्त हेतुफलाश्रित वाक्य। जैसे—यदि तुम सत्यवादी रहो, तो मनुष्यो के अप्रिय बनोगे; और यदि असत्यवादी रहो तो ईश्वर के अप्रिय बनोगे।

(ख) **उद्देशवाक्य**—वैकल्पिकवाक्य, जिसके विकल्प विधेयवाक्य के दोनो हेतु का विधान करते है, या उसके दोनो फलो का निषेध करते है। जैसे—या तो तुम सत्यवादी हो या असत्यवादी, अथवा

या तो तुम मनुष्यो के अप्रिय नही हो, या ईश्वर के,

---

[1] Dilemma. 'मेण्डक' पालि भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है भेड़ा मेष।

[2] देखिए भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा अनूदित 'मिलिन्द प्रश्न'।

(ग) निष्कर्षवाक्य—उद्देशवाक्य में हेतु का विधान होने से, यहा फलो का विधान होगा; और उसमें फलो का निषेध होने से, यहा हेतु का निषेध होगा। जैसे—

∴ या तो तुम मनुष्यों के अप्रिय बनोगे, या ईश्वर के,

अथवा

∴ या तो तुम सत्यवादी नही हो, या असत्यवादी नही हो।

* * *

१. मेण्डक-प्रयोग के रूप

मेण्डक प्रयोग का उद्देशवाक्य यदि विधेयवाक्य के दोनो हेतुफलाश्रित वाक्यों के हेतु का विधान करता हो, तो उसे 'विधायक मेण्डक-प्रयोग'[1] कहते हैं। और, यदि उसका उद्देशवाक्य विधेयवाक्य के दोनो हेतुफलाश्रित वाक्यों के फलो का निषेध करता हो, तो उसे 'विघातक मेण्डक प्रयोग'[2] कहते हैं।

मेण्डक-प्रयोग का निष्कर्ष यदि निरपेक्षवाक्य हो तो उसे 'शुद्ध'[3], और यदि वैकल्पिक वाक्य हो तो उसे 'युक्त'[4] कहते हैं।

इस तरह, मेण्डक-प्रयोग के 'विधायक' या 'विघातक' होने की बात उसके उद्देशवाक्य को देखने से मालूम होगा, और उसके 'शुद्ध' या 'युक्त' होने की बात उसके निष्कर्षवाक्य को देखने से मालूम होगा। इन दोनो विभागो को मिला देने से मेण्डक-प्रयोग चार प्रकार के हुए—

(१) शुद्ध-विधायक, (२) युक्त-विधायक, (३) शुद्ध-विघातक, और (४) युक्त-विघातक। उनके उदाहरण है—

---

[1] Constructive Dilemma.

[2] Destructive Dilemma.

[3] Simple Dilemma.

[4] Complex Dilemma.

क. शुद्ध-विधायक मेण्डक-प्रयोग[1]

विधेयवाक्य—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है;
उद्देशवाक्य—या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;
निष्कर्ष—∴ 'ग' 'घ' है।

विधेयवाक्य—यदि मनुष्य अपने मन से ही कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते है; और यदि वह दूसरे के मन से कुछ करता है, तो भी लोग उसकी टीका करते है।
उद्देशवाक्य—मनुष्य या तो अपने मन से ही कुछ करेगा, या दूसरे के मन से;
निष्कर्ष—∴ किसी भी अवस्था में, उसकी टीका की जायगी।

यह मेण्डक-प्रयोग 'शुद्ध' है, क्योकि इसका निष्कर्ष निरपेक्ष-वाक्य है; और, यह 'विधायक' है, क्योकि इसके उद्देशवाक्य में विधेयवाक्य के दोनो हेतुफलाश्रित वाक्यो के हेतु का विधान किया गया है।

'शुद्ध-विधायक मेण्डक-प्रयोग' का एक अत्यंत प्रसिद्ध उदाहरण इगलैण्ड के राजा सप्तम हेनरी के जालिम कर्मचारी एम्पसॅन् के उस दलील का है जिससे वह अपराधियो को बड़ी बड़ी रकम में अर्थदण्ड देने को वाध्य किया करता था। वह कहा करता था—

विधेयवाक्य—यदि अपराधी किफायत से रहता है, तो उसने खूब धन बचा लिया होगा; और यदि वह बड़ा साखर्च है, तो इससे पता लगता है कि उसके पास धन है;
उद्देशवाक्य—अब, वह या तो किफायत से रहता होगा, या साखर्च होगा;
निष्कर्षवाक्य—∴ उसके पास अवश्य खूब धन है (अर्थात् वह बड़ी रकम में अर्थदण्ड दे सकता है)।

---

[1] Simple Constructive Dilemma.

(ख) युक्त-विधायक मेण्डक-प्रयोग[1]

विधेयवाक्य—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है ·
उद्देश्यवाक्य—या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;
निष्कर्ष ∴ या तो 'ग' 'घ' है, या 'ज' 'झ' है।

इस मेण्डक प्रयोग का प्रसिद्ध उदाहरण मुसल्मानी सेनापति उमर खलीफा के उस दृष्टान्त में है जिसने उसने अलक्षेन्द्रिया के विख्यात पुस्तकालय को जला देने योग्य ठहरा कर जला दिया था। खलीफा ने पुस्तकाध्यक्ष से कहा—

विधेयवाक्य—यदि तुम्हारी किताबें कुरान के अनुकूल है, तो कुरान के रहते इनका कोई प्रयोजन नहीं, और यदि ये कुरान के प्रतिकूल हैं, तो पातक है;
उद्देश्यवाक्य—अब, तुम्हारी किताबें या तो कुरान के अनुकूल होंगी, या उसके प्रतिकूल;
निष्कर्ष ∴ तुम्हारी किताबें या तो निष्प्रयोजन है, या पातक है।

(ग) शुद्ध-विघातक मेण्डक-प्रयोग[2]

विधेयवाक्य—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'क' 'ख' है, तो 'च' 'छ' है;
उद्देश्यवाक्य—या तो 'ग' 'घ' नहीं है, या 'च' 'छ' नहीं है;
निष्कर्ष—∴ 'क' 'ख' नहीं है।
विधेयवाक्य—यदि तुम्हें भोजन करना है, तो तुम्हे होटल जाना चाहिए; अथवा यदि तुम्हें भोजन करना है, तो तुम्हे आग जलाना चाहिए :

---

[1] Complex Constructive Dilemma.
[2] Simple Destructive Dilemma.

उद्देशवाक्य—या तो तुम होटल नही जा सकते, या आग नही जला सकते;
निष्कर्ष—तुम भोजन नही कर सकते।

(घ) युक्त-विघातक मेण्डक-प्रयोग[1]

विधेयवाक्य—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है;
उद्देशवाक्य—या तो 'ग' 'घ' नही है, या 'ज' 'झ' नही है,
निष्कर्ष—या तो 'क' 'ख' नही है, या 'च' 'छ' नही है।
विधेयवाक्य—यदि वह कर्मशील होता, तो खूब काम करता; और यदि वह विचारशील होता, तो बात समझता;
उद्देशवाक्य—या तो वह काम नही करता है, या बात नही समझता है;
निष्कर्ष ∴ या तो वह कर्मशील नही है, या विचारशील नही है।

* * *

२. मेण्डक-प्रयोग का प्रत्याख्यान[2]

किसी मेण्डक-प्रयोग के विरुद्ध ठीक उलटा निष्कर्ष सिद्ध करने वाले दूसरे मेण्डक-प्रयोग को उपस्थित करने की विधि को मेण्डक-प्रयोग का प्रत्याख्यान कहते है। इसकी विधि यह है कि—

विधेयवाक्य में दोनों हेतुफलाश्रित वाक्यों के फलों को परस्पर उलट देते है, और उनके गुण को बदल देते है।

यह प्रत्याख्यान 'युक्त-विधायक मेण्डक-प्रयोग' में ठीक होता है। जैसे—

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है:
या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है,

---

[1] Complex Destructive Dilemma.
[2] Rebutting a Dilemma.

.˙. या तो 'ग' 'ग' है, या 'ज' 'झ' है।

प्रत्याख्यात रूप

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ज' 'झ' नही है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' नही है :

या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;

.˙. या तो 'ज' 'झ' नही है, या 'ग' 'घ' नही है।

यहा देखेंगे कि प्रत्याख्यात रूप का निष्कर्ष प्रस्तुत रूप के निष्कर्ष का उलटा है। विधेयवाक्य में फलो को उलट कर जो उनके गुण बदल दिए उसमे भी कोई असंगति नहीं दीख पड़ती। मिया की जूती मियां के सिर वाली कहावत की तरह, प्रस्तुत बात को उलट कर ऐसा रख दिया कि वह वक्ता के ही विरुद्ध हो गया। कुछ वास्तविक उदाहरण ले कर देखें—

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि तुम्हारी किताबें कुरान के अनुकूल है, तो कुरान के रहते इनका कोई प्रयोजन नही, और यदि ये कुरान के प्रतिकूल है, तो पातक है :

अब, तुम्हारी किताबे या तो कुरान के अनुकूल होगी, या उसके प्रतिकूल;

.˙. तुम्हारी किताबे या तो निष्प्रयोजन है या पातक।

प्रत्याख्यात रूप

यदि हमारी किताबे कुरान के अनुकूल है, तो पातक नही है; और यदि ये कुरान के प्रतिकूल है, तो ये निष्प्रयोजन नही है;

अब, हमारी किताबें या तो कुरान के अनुकूल है, या उसके प्रतिकूल;

.˙. हमारी किताबे या तो पातक नही है, या निष्प्रयोजन नही है।

× × ×

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि तुम सचाई से काम करो, तो मनुष्य तुम्हें घृणा करेंगे; और यदि तुम बेईमानी से काम करो, तो देवता लोग तुम्हे घृणा करेंगे;

या तो तुम सचाई से काम करोगे, या बेइमानी से,

∴ या तो तुम्हे मनुष्य लोग घृणा करेंगे, या देवता लोग।

यह दलील दे कर एथेन्स नगर की एक माता ने अपने पुत्र को देश-सेवा मे लगने से रोकने का प्रयत्न किया। पुत्र ने इसका प्रत्याख्यान इस प्रकार किया—

प्रत्याख्यात रूप

यदि मै सचाई से काम करूं, तो देवता लोग मुझे प्रेम करेंगे; और यदि मै बेईमानी से काम करू तो मनुष्य लोग प्रेम करेंगे।

या तो मै सचाई से काम करूगा, या बेईमानी से;

∴ या तो मुझे देवता लोग या मनुष्य लोग प्रेम करेंगे।

× × ×

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि कोई अविवाहित रहे, तो उसकी परवाह करने वाली कोई नही होती; और यदि विवाहित रहे, तो उसे स्त्री की परवाह करनी होती है;

अब, मनुष्य या तो विवाहित रहेगा, या अविवाहित;

∴ या तो उसकी परवाह करने वाली कोई नही होगी, या उसे स्त्री की परवाह करनी होगी (अर्थात् दोनो अवस्थाओ मे उसे चैन नही)।

प्रत्याख्यात रूप

यदि कोई अविवाहित रहे, तो उसे स्त्री की परवाह करनी नही होती; और यदि वह विवाहित रहे, तो उसकी स्त्री उसकी परवाह करती है;

अब, मनुष्य या तो विवाहित रहेगा, या अविवाहित,

.·. या तो उसे स्त्री की परवाह करनी नही होती, या उसकी स्त्री उसकी परवाह करती है (अर्थात् दोनो अवस्थाओ मे उसे मौज है)।

× × ×

प्रसिद्ध युनानी दार्शनिक प्रोटेगोरस् ने युआथलस को इस शर्त पर वाक्-चातुरी सिखाना स्वीकार किया कि आधी फीस तो तत्काल दे दे, और शेप पहला मुकदमा जीतने पर। सीख चुकने के वाद युआथलस ने वहुत दिनो तक किसी मुकदमे मे वहस नही की, और फीस का शेप भाग नही दिया। प्रोटेगोरस् ने रुपये के लिए उस पर मुकदमा दायर किया। और, उसने उसके सामने यह मेण्डक-प्रश्न उपस्थित किया—

यदि तुम मुकदमा में हार गये, तो कचहरी के हुक्म से तुम्हे रुपये देने होगें, और यदि तुम जीत गये, तो भी तुम्हे अपने शर्त से रुपये देने होगे।

उसके चतुर चेले ने उत्तर दिया—

यदि मैं मुकदमा हार गया, तो अपने शर्त से रुपये नही दूगा; और यदि मैं जीत गया, तो कचहरी के हुक्म से मुझे रुपये देने नही होगे।

* * *

३. मेण्डक-प्रयोग की शुद्धि[1]

शास्त्रीय विचार से वही मेण्डक-प्रयोग शुद्ध है जिसमे रूप-विपयक और विपय-विपयक दोनों प्रामाणिकता पाई जाय। इसके शास्त्रीय नियमो की पूर्ति हो जाना भर पर्याप्त नहीं है, इसे वस्तुतः यथार्थ भी होना चाहिए।

क. रूपविपयक शुद्धि[2]

मेण्डक-प्रयोग यथार्थ में दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यो का संयुक्त रूप है। किसी भी मेण्डक-प्रयोग को तोड़ कर दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यों में रख सकते है। जैसे—

---

[1] Correctness of a Dilemma

[2] Formal Correctness of a Dilemma.

सांकेतिक उदाहरण

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है;
या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;
∴ 'ग' 'घ' है।

इसके दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य इस प्रकार होंगे—

(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है,
(२) यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है,

'क' 'ख' है, 'च' 'छ' है,
∴ 'ग' 'घ' है। ∴ 'ग' 'घ' है।

वास्तविक उदाहरण

यदि कोई अपने मन से ही कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते हैं; और यदि वह दूसरे के मन से कुछ करता है, तो भी लोग उसकी टीका करते हैं;

कोई या तो अपने मन से ही कुछ करेगा, या दूसरे के मन से;

∴ (दोनों तरह) लोग उसकी टीका करते हैं।

इसके दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य इस प्रकार होंगे—

(१) यदि कोई अपने मन से ही कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते हैं;

कोई अपने मन से ही कुछ करता है;

∴ लोग उसकी टीका करते हैं।

(२) यदि कोई दूसरे के मन से कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते हैं;

कोई दूसरे के मन से कुछ करता है;

∴ लोग उसकी टीका करते हैं।

इस तरह, मेण्डक-प्रयोग को दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यों में विभक्त कर उनकी परीक्षा करने से मालूम होता है कि वे दोनों निर्दोष हैं। दोनों में हेतु का विधान करके फल का विधान किया गया है, जो बिलकुल नियमानुकूल है। अत, इस मेण्डक-प्रयोग में रूपविषयक कोई अशुद्धि नहीं है।

मेण्डक-प्रयोग की रूपविषयक शुद्धि या अशुद्धि की परीक्षा इसी तरह उसे दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यों में विभक्त करके करते हैं। उदाहरण के लिए, एक अशुद्ध मेण्डक-प्रयोग की परीक्षा करके देखें—

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है;
या तो 'ग' 'घ' है, या 'ज' 'झ' है;
∴ या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है।

इसके दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य इस प्रकार होंगे—

(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है,
(२) यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है,

'ग' 'घ' है,	'ज' 'झ' है,
∴ 'क' 'ख' है।	∴ 'च' 'छ' है।

ये दोनों न्यायवाक्य अशुद्ध हैं, क्योंकि इनमें 'फल-विधान' का दोष है। हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य में फल का विधान करके हेतु का विधान नहीं कर सकते। अत', इस मेण्डक-प्रयोग में रूपविषयक अशुद्धि है।

ख. विषय-विषयक शुद्धि[1]

मेण्डक-प्रयोग की रूपविषयक शुद्धि ही पर्याप्त नहीं है। उसे विषय से भी यथार्थ होना चाहिए, अर्थात् उसके आधारवाक्य वास्तविक सत्य

---

[1] Material Correctness of a Dilemma.

हों। मेण्डक-प्रयोग मे अशुद्धि का कारण अधिकतर उसके आधारवाक्यों का असत्य होना ही होता है। आधारवाक्यों के असत्य होने से उसका निष्कर्ष भी असत्य होता है। अत. किसी मेण्डक-प्रयोग की परीक्षा करने के लिए यह देखना होगा कि इसके आधारवाक्य सच्चे है या नही।

मेण्डक-प्रयोग की विषय-विषयक असत्यता तीन तरह से सिद्ध की जा सकती है—

(१) विधेयवाक्य के दोनो हेतुफलाश्रित वाक्यों मे यदि यथार्थतः उस हेतु से वह फल निष्पन्न नही होता हो, तो वह विषय से असत्य है। विधेयवाक्य के असत्य होने से निष्कर्ष भी असत्य होगा। जैसे—

विधेयवाक्य—यदि खूब वृष्टि हो, तो धान सड़ जाय; और यदि वृष्टि नही हो, तो धान जल जाय;
उद्देशवाक्य—अब, या तो खूब वृष्टि होगी, या होगी ही नही;
निष्कर्ष—∴ या तो धान सड़ जायगा, या जल जायगा।

इस मेण्डक-प्रयोग मे दिखा सकते है कि यह निष्कर्ष असत्य है, क्योकि विधेयवाक्य सच्चा नही है। खूब वृष्टि होने पर भी यदि पानी के निकास का पूरा प्रबन्ध रहे तो धान नही सड़ेगा; और वृष्टि नही होने पर भी यदि नहर से सिंचाव का अच्छा प्रबन्ध रहे तो धान नही जलेगा। अत:, यह बात सच नही है कि—यदि खूब वृष्टि हो, तो धान सड़ जाय; और यदि वृष्टि न हो, तो धान जल जाय।

विधेयवाक्य के हेतुफलाश्रित-वाक्यो की उपमा भेड़ के दो सीगो से दी जाती है, जिनके बीच में पड़ कोई संकटापन्न हो जाता है। अतः, उनकी असत्यता दिखा कर मेण्डक-प्रयोग को परास्त करने की इस विधि को 'शृङ्गनिग्रह विधि'[1] कहते है। यह वैसा ही है जैसे कोई बिगड़े भेड़े को उसकी सीगो को पकड़ कर परास्त कर दे।

---

[1] Taking the dilemma by the horns.

(२) उद्देशवाक्य तब असत्य होता है जब उसके दोनों विकल्प यथार्थ में परस्पर विरुद्ध नहीं हों। उद्देशवाक्य के दोनो विकल्प ऐसे होने चाहिए कि उन्हे छोड़ किसी तीसरे विकल्प की सम्भावना एकदम नहीं हो। यदि उन दोनों को छोड़, तीसरे विकल्प की सम्भावना रह गई हो तो वह वाक्य सत्य नहीं ठहरता।

ऊपर के उदाहरण मे जो उद्देशवाक्य—अब, या तो खूब वृष्टि होगी, या होगी ही नहीं—है उसके दोनो विकल्प ऐसे नहीं हैं जो सारी सम्भावनाओं को व्याप्त कर लेते हो; क्योंकि अतिवृष्टि और अनावृष्टि के दो विकल्पों को छोड़, यथावृष्टि का तीसरा विकल्प भी सम्भव है। अतः यह कहना असत्य है कि या तो खूब वृष्टि होगी या एकदम नहीं होगी, क्योंकि उतनी ही वृष्टि भी हो सकती है जितनी धान के लिए आवश्यक है।

इस तरह, उद्देशवाक्य के विकल्पों के बीच तीसरे विकल्प की सम्भावना दिखा कर जो मेण्डक-प्रयोग को परास्त करने की विधि है उसे शृङ्गान्तनिर्गति[1] कहते हैं।

(३) मेण्डक-प्रयोग को परास्त करने की तीसरी विधि प्रत्याख्यान-विधि[2] है, जिसका अध्ययन हम ऊपर कर चुके हैं। मेण्डक-प्रयोग के उत्तर में उनका प्रत्याख्यात-रूप उपस्थित कर देने से वादी को अपने तर्क की असत्यता प्रगट हो जाती है।

---

[1] Escaping between the horns of a dilemma.
=दो सींगों के बीच से बच कर निकल जाना।

[2] Rebutting the Dilemma.

निगमन-विधि

दूसरा भाग

(परंपरानुमान)

न्यायवाक्य

(ग. संक्षिप्त)

§ १—संक्षिप्त न्यायवाक्य[1]

विधेयवाक्य, उद्देशवाक्य और निष्कर्षवाक्य, इन तीन अवयवो से युक्त हो न्यायवाक्य का अपना रूप पूर्ण होता है। किंतु, अपनी साधारण बातचीत के सिलसिले मे हम इसका ख्याल नही रखते कि हमारे तर्क मे न्यायवाक्य के सभी अवयव उपस्थित हुए है या नही। हमारी प्रवृत्ति रहती है कि जितने थोड़े मे बात साफ हो जाय उतना ही थोड़ा कहना। बात साफ हो जाने के बाद तर्कशास्त्र के रूपो की पूर्ति के लिए न तो अधिक कहने का हम में, और न अधिक सुनने का श्रोता में, धैर्य रहता है। अतः,

सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
'मै' 'मनुष्य' हूं,
∴ 'मै' 'मरणशील' हूं।

इतना न कह कर हम इतना ही कह देते है—

मुझे भी एक न एक दिन मरना है, क्योंकि मै भी मनुष्य हूं;

अथवा

मै भी मरूंगा, क्योकि सभी मनुष्य मरणशील है,

---

[1] Enthymeme.

अथवा

सभी मनुष्य मरते है, और मै भी मनुष्य हू ।

इतना भर कह देने से श्रोता के लिए बात साफ हो जाती है। पहले मे विधेयवाक्य अनुक्त है, दूसरे में उद्देशवाक्य, और तीसरे मे निष्कर्षवाक्य। इसे संक्षिप्त न्यायवाक्य कहते है।

'संक्षिप्त न्यायवाक्य' के चार रूप होते है'[1]—

(१) पहला रूप—जिसमे विधेयवाक्य अनुक्त होता है, केवल उद्देशवाक्य और निष्कर्ष कहे जाते है। जैसे—

सुकरात मनुष्य है,
∴ सुकरात मरणशील है।

(२) दूसरा रूप—जिसमें उद्देशवाक्य अनुक्त होता है, केवल विधेयवाक्य और निष्कर्ष कहे जाते है। जैसे—

सभी मनुष्य मरणशील है,
∴ सुकरात मरणशील है।

(३) तीसरा रूप—जिसमें निष्कर्ष अनुक्त होता है, केवल दोनो आधारवाक्य कहे जाते है। जैसे—

सभी मनुष्य मरणशील है,
और, सुकरात भी मनुष्य है।

(४) चौथा रूप—जिसमें केवल एक ही वाक्य कहा जाता है, और उसमें यह सामर्थ्य होता है कि वह सारे न्यायवाक्य का बोध करा दे। बातचीत के सिलसिले में बहुधा ऐसा होता है कि एक वाक्य के ही कह देने से सारी युक्ति समझ ली जाती है। जैसे—किसी बड़े योगी को भी कभी सासारिक माया मे आसक्त होते देख कोई कह उठे—

---

[1] Enthymemes are of four orders.

"मनुष्य अपूर्ण है," तो इतने से सारा न्यायवाक्य व्यक्त हो जाता है, यह कि—

सभी मनुष्य अपूर्ण हैं,
यह योगी मनुष्य है,
∴ यह योगी अपूर्ण है।

न्यायवाक्य

(घ. युक्ति-माला[1])

§ १—युक्ति-माला, अनुलोम और प्रतिलोम

जब दो या दो से अधिक न्यायवाक्य लगातार इस प्रकार आवें कि सभी जा कर एक ही निष्कर्ष को सिद्ध करें, तो उसे युक्ति-माला कहते हैं। जैसे—

(१) सभी 'ख' 'ग' हैं,
सभी 'क' 'ख' हैं,
∴ सभी 'क' 'ग' हैं।
(२) सभी 'ग' 'घ' हैं,
सभी 'क' 'ग' हैं,
∴ सभी 'क' 'घ' हैं।
(३) सभी 'घ' 'च' हैं,
सभी 'क' 'घ' हैं,
∴ सभी 'क' 'च' हैं।

---

[1] Compound Syllogism.
Train of Reasoning.

ये न्यायवाक्य एक के बाद एक इस तरह आते है, कि पहले का निष्कर्ष दूसरे का आधारवाक्य होता जाता है; और सभी मिल कर अन्त में यह सिद्ध करते है कि "सभी क च है"। इसे न्यायवाक्यावली[१] या न्यायवाक्य-सन्निपात[१] कहते है।

इस सिलसिले मे, जब एक न्यायवाक्य का निष्कर्ष दूसरे न्यायवाक्य मे आधार बनता है, तब पहले न्यायवाक्य के सम्बन्ध मे दूसरे को उपकृत न्यायवाक्य,[२] और दूसरे के सम्बन्ध मे पहले को उपकारक न्यायवाक्य[३] कहते है। इसी तरह, कोई 'उपकृत न्यायवाक्य' भी एक दूसरे न्यायवाक्य का 'उपकारक' बन सकता है, जब इसका निष्कर्ष उसका आधार बन जाय; और कोई 'उपकारक न्यायवाक्य' भी दूसरे न्यायवाक्य का 'उपकृत' हो सकता है, यदि उसका निष्कर्ष इसमे आधार के ऐसा प्रयुक्त हुआ हो। ऊपर के उदाहरण मे, दूसरा न्यायवाक्य पहले के सम्बन्ध में 'उपकृत' है, किंतु तीसरे के सम्बन्ध में 'उपकारक'।

फिर, ऊपर के उदाहरण मे हम देखते है कि यह 'युक्ति-माला' उपकारक से उपकृत की दिशा मे जाती हुई अन्त में एक निष्कर्ष को सिद्ध करती है। अतः, इसे उपकृत-गामी युक्ति-माला[४] कहते है। सारी न्याय-माला का प्रवाह अन्तिम निष्कर्ष की ओर है, अत. इसे अनुलोमयुक्ति-माला[५] भी कहते है। इस न्यायमाला में पहले न्यायवाक्य का निष्कर्ष दूसरे में सश्लिष्ट होता जाता है, अतः इसे संश्लेषकयुक्तिमाला[६] भी कहते है।

इसके विपरीत, यदि न्यायमाला की दिशा उपकृत से उपकारक की ओर हो, अर्थात् पहले आने वाले न्यायवाक्यो के आधारवाक्य अगले के

---

[१] Polysyllogism. [२] Episyllogism. [३] Prosyllogism. [४] Episyllogistic train of syllogism.

[५] Progressive train of syllogism.

[६] Synthetic train of syllogism.

निष्कर्ष होते जायं, तो उसे प्रतिलोम-युक्तिमाला[1] या उपकारक-गामी[2] युक्तिमाला कहते है । जैसे—

(१) सभी 'क' 'च' है,
∵ सभी 'घ' 'च' है, और
सभी 'क' 'घ' है।
(२) सभी 'क' 'घ' है,
∵ सभी 'ग' 'घ' है, और
सभी 'क' 'ग' है।
(३) सभी 'क' 'ग' है,
∵ सभी 'ख' 'ग' है, और
सभी 'क' 'ख' है।

इस न्यायमाला मे अन्तिम निष्कर्ष ही सबसे पहले कह दिया जाता है, और उसे प्रामाणित करने के लिए युक्तिया देते है । इस माला मे पहले न्यायवाक्य के आधारो में से एक विश्लिष्ट हो कर आगे के न्यायवाक्य का निष्कर्ष होता है, इससे इसे विश्लेषक-युक्तिमाला[3] भी कहते है ।

न्यायवाक्य

(ङ संक्षिप्त युक्तिमाला)

§ १—संक्षिप्त-अनुलोम-युक्तिमाला[4]

जिस 'सक्षिप्त-न्यायमाला' मे सभी 'उपकारक' न्यायवाक्यो के निष्कर्ष (तथा 'उपकृत' न्यायवाक्यो मे आधार के रूप मे भी उनका

[1] Regressive train of syllogism. [2] Prosyllogistic train of syllogism. [3] Analytic train of reasoning. [4] Sorites=Abridged progressive train of reasoning.

प्रयोग) अनुक्त हों, उसे संक्षिप्त-अनुलोम-युक्ति माला कहते हैं। जैसे—

सभी 'क' 'ख' हैं,
सभी 'ख' 'ग' हैं,
सभी 'ग' 'घ' हैं,
सभी 'घ' 'च' हैं,
∴ सभी 'क' 'च' हैं।

यदि इसमें 'उपकारक' न्यायवाक्यों के निष्कर्ष अनुक्त न होते तो इसका रूप होता—

(१) सभी 'ख' 'ग' हैं,
सभी 'क' 'ख' हैं,
∴ सभी 'क' 'ग' हैं।
(२) सभी 'ग' 'घ' हैं,
सभी 'क' 'ग' हैं,
∴ सभी 'क' 'घ' हैं।
(३) सभी 'घ' 'च' हैं,
सभी 'क' 'घ' हैं,
∴ सभी 'क' 'च' हैं।

इन न्यायवाक्यों में काले अक्षरों में लिखे अवयव ऊपर के संक्षिप्त रूप में अनुक्त हैं।

इसके दो प्रकार

(क) अरस्तू के मत से[1]

अरस्तू के मत से 'उपकारक न्यायवाक्य' का निष्कर्ष जो अनुक्त होता है वह 'उपकृत न्यायवाक्य' में उद्देश्यवाक्य होता है। जैसे—

---

[1] Aristotelian Sorites.

'चेतक' 'एक घोड़ा' है,
'घोड़ा' 'चतुष्पद' है,
'चतुष्पद' 'प्राणी' है,
'प्राणी' 'एक सत्ता' है,
∴ 'चेतक' 'एक सत्ता' है।

इन न्यायवाक्यों को पूर्ण रूप से व्यक्त करके रखें तो इसका यह रूप होगा—

(१) सभी 'घोडा' 'चतुष्पद' है,
'चेतक' 'घोडा' है,
∴ 'चेतक 'चतुष्पद' है।

(२) सभी 'चतुष्पद' 'प्राणी' है,
'चेतक' 'चतुष्पद' है,
∴ 'चेतक' 'प्राणी' है।

(३) सभी 'प्राणी' 'एक सत्ता' है,
'चेतक' 'प्राणी' है,
∴ 'चेतक' 'एक सत्ता' है।

(ख) गोक्लेनियस् के मत से[1]

गोक्लेनियस् के मत से 'उपकारक न्यायवाक्य' का निष्कर्ष जो अनुक्त होता है वह उपकृत न्यायवाक्य में विधेयवाक्य का काम करता है। जैसे—

'प्राणी' 'एक सत्ता' है,
'चतुष्पद' 'प्राणी' है,
'घोडा' 'चतुष्पद' है,

---

[1] Goclenian Sorites.

∵ 'चेतक' 'घोडा' है,
∴ 'चेतक' 'एक सत्ता' है।

इन न्यायवाक्यों को पूर्ण रूप से व्यक्त करके रखें तो इसका यह रूप होगा—

(१) सभी 'प्राणी' 'सत्ता' है,
सभी 'चतुष्पद' 'प्राणी' है,
∴ सभी 'चतुष्पद' 'सत्ता' है।
(२) सभी 'चतुष्पद' 'सत्ता' है,
सभी 'घोडा' 'चतुष्पद' है,
∴ सभी 'घोडा' सत्ता' है।
(३) सभी 'घोडा' 'सत्ता' है,
'चेतक' 'घोडा' है,
∴ 'चेतक' 'सत्ता' है।

§ ३—दोनों प्रकारों में अन्तर

अरस्तू और गोक्लेनियस द्वारा प्रतिपादित इन दो रूपों की परीक्षा करने से स्पष्ट होगा कि इन न्यायवाक्यों के आधारवाक्य तथा निष्कर्ष समान होते हुए भी उनमें ये अन्तर हैं—

(क) विधेयपद—अरस्तू की विधि में सबसे अन्तिम आधारवाक्य का विधेय 'वि' है; किंतु गोक्लेनियन विधि में सबसे प्रथम आधारवाक्य का विधेय 'वि' है।

(ख) उद्देशपद—अरस्तू की विधि में 'उ' सर्व-प्रथम उद्देश है, किंतु गोक्लेनियन विधि में यह सबसे अन्तिम उद्देश है।

(ग) अनुक्त-निष्कर्ष—अरस्तू की विधि में 'उपकारक न्यायवाक्य' का अनुक्त निष्कर्ष 'उपकृत न्यायवाक्य' में उद्देशवाक्य का काम करता है; किंतु गोक्लेनियन विधि में यह उसमें विधेयवाक्य का काम करता है।

(च) आधारवाक्य—अरस्तू की विधि मे सर्व प्रथम आधार उद्देश-वाक्य होता है, और तदनन्तर सभी आधार विधेयवाक्य होते हैं। किंतु गोक्लेनियन विधि में सर्व प्रथम आधार विधेयवाक्य होता है, और तद-नन्तर सभी आधार उद्देशवाक्य होते हैं।

§ ४—संक्षिप्त-अनुलोम युक्तिमाला के नियम

यदि इस न्यायमाला के सभी न्यायवाक्य पहले क्रम के हो, तो ऊपर की दोनो विधियो में ये नियम होगे—

(१) एक ही आधारवाक्य निषेधात्मक हो सकता है—अरस्तू की विधि में अन्तिम, और गोक्लेनियस की विधि में सर्व-प्रथम।

प्रमाण—इस न्यायमाला मे एक से अधिक आधार-वाक्य निषेधात्मक नही हो सकते। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने से उसका निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। तब, दो वाक्य यदि निषेधात्मक हुए तो एक ही न्यायवाक्य के दोनो आधार निषेधात्मक हो जायेंगे, जिनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

अरस्तू की विधि मे अन्तिम आधारवाक्य ही, और गोक्लेनियस् की विधि मे सर्व-प्रथम आधारवाक्य ही निषेधात्मक हो सकता है। यदि कोई भी आधारवाक्य निषेधात्मक हुआ तो अन्तिम निष्कर्ष अवश्यमेव निषेधात्मक होगा। तब, उसमे 'वि' सर्वांशी होगा। इसलिए उस आधारवाक्य को भी निषेधात्मक होना चाहिए जिसमे 'वि' विधेय के ऐसा प्रयुक्त हुआ हो। वह आधारवाक्य अरस्तू की विधि मे अन्तिम, और गोक्लेनियस् की विधि में सर्वप्रथम ही है। यदि किसी बीच वाले आधारवाक्य को निषेधात्मक माने तो 'अनुचित विधेय' का दोष उपस्थित हो जायगा।

(२) एक ही आधारवाक्य विशेष हो सकता है—अरस्तू की विधि में सर्व प्रथम, और गोक्लेनियस् की विधि में अन्तिम।

प्रमाण—इस न्यायमाला में एक से अधिक आधारवाक्य 'विशेष' नहीं हो सकते। एक आधारवाक्य के विशेष होने से उसका निष्कर्ष भी विशेष होगा। तब, यदि दो वाक्य विशेष हुए तो एक ही न्यायवाक्य के दोनों आधार विशेष हो जायेंगे, जिनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

अरस्तू की विधि में सर्वप्रथम आधारवाक्य ही विशेष हो सकता है। इस विधि में सर्वप्रथम को छोड़ शेष आधार विधेयवाक्य है। फिर, यह नियम तो उसी संक्षिप्त न्यायमाला में लागू होता है जिसके सभी न्याय-वाक्य पहले क्रम में हों। और, पहले क्रम का यह असाधारण नियम है कि उसमें विधेयवाक्य अवश्य सामान्य होगा। अतएव, इस न्यायमाला में सर्वप्रथम आधारवाक्य ही विशेष हो सकता है, क्योंकि केवल वही उद्देश्यवाक्य है।

गोक्लेनियस् की विधि में अन्तिम आधारवाक्य ही विशेष हो सकता है। इस विधि में अन्तिम को छोड़ कोई दूसरा आधारवाक्य 'विशेष' हो, तो उसका निष्कर्ष भी विशेष होगा। फिर, इस विधि में 'उपकारक न्यायवाक्य' का निष्कर्ष 'उपकृत न्यायवाक्य' का विधेयवाक्य होता है। यह 'विशेष' नहीं हो सकता, क्योंकि पहले क्रम में विधेयवाक्य हमेशा सामान्य होता है। अतएव, गोक्लेनियस् की विधि में केवल अन्तिम आधारवाक्य विशेष होता है। यदि कोई दूसरा आधारवाक्य 'विशेष' हो, तो 'असर्वांगी हेतु' का दोष उपस्थित हो जायगा।

§ ५—संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला[1]

संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला प्रतिलोम न्यायमाला का वह रूप है जिसमें प्रत्येक 'उपकारक न्यायवाक्य' का एक न एक आधारवाक्य अनुक्त रहता है।

---

[1] Epicheirema=Condensed regressive train of reasoning.

ऊपर देख चुके हैं कि प्रतिलोम-न्यायमाला की दिशा 'उपकृत न्यायवाक्य' से 'उपकारक न्यायवाक्य' की ओर होती है। जब यह 'संक्षिप्त' होती है तब सर्वप्रथम 'उपकृत न्यायवाक्य' अपने पूरे रूप में उपस्थित किया जाता है; तदनन्तर इसके आधारवाक्यों को सिद्ध करने के लिए संक्षिप्त 'उपकारक न्यायवाक्यों' की माला दी जाती है।

यदि उपस्थित 'उपकृत न्यायवाक्य' के आधार संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किए जाते है, तो उसे **संरल-संक्षिप्त-प्रतिलोम-युक्तिमाला**[1] कहते है। यदि उन संक्षिप्त न्यायवाक्यो को सिद्ध करने के लिए फिर भी दूसरे संक्षिप्त न्यायवाक्य दिए गए हों, तो उसे **संकुल-संक्षिप्त-प्रतिलोम-युक्तिमाला**[2] कहते है।

यदि उपस्थित 'उपकृत न्यायवाक्य' के दोनो आधार संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किए जाते हैं, तो उसे **उभय-संक्षिप्त-प्रतिलोम-युक्ति-माला**[3] कहते हैं। और, यदि उसका एक ही आधार संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किया जाय तो उसे **अनुभय-संक्षिप्त-प्रतिलोम-युक्तिमाला**[4] कहते हैं।

इस तरह, 'संक्षिप्त-प्रतिलोम-युक्तिमाला' चार प्रकार की हुई—

(१) सरल-अनुभय[5]

सभी 'क' 'ख' है
∵ सभी 'ग' 'ख' है, और
सभी 'क' 'ग' है।

---

[1] Simple Epicheirema.
[2] Complex Epicheirema. [3] Double Epicheirema.
[4] Single Epicheirema. [5] Simple Single Epicheirema.

फिर—

सभी 'ग' 'ख' है,

∴ सभी 'घ' 'ख' है।

इसे पूर्णतः व्यक्त करने से रूप होगा—

उपकृत—

सभी 'ग' 'ख' है,

सभी 'क' 'ग' है,

∴ सभी 'क' 'ख' है।

उपकारक—

सभी 'घ' 'ख' है,

सभी 'ग' 'घ' है,

सभी 'ग' 'ख' है।

यहाँ हम देखते हैं कि पहले न्यायवाक्य का एक आधार—सभी 'ग' 'ख' है—दूसरे न्यायवाक्य का निष्कर्ष है। यह न्यायमाला 'उपकृत' से 'उपकारक' की ओर बढ़ती है, अर्थात् यह प्रतिलोम न्यायमाला है। ऊपर के उदाहरण में, 'उपकारक' का एक आधार—सभी 'ग' 'घ' है—अनुक्त था, इसलिए यह 'संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला' है।

इसका यह 'सरल' रूप है, क्योंकि आधारवाक्य को एक ही संक्षिप्त न्यायवाक्य में सिद्ध किया है। फिर, इसका यह 'अनुभय' रूप है, क्योंकि दोनों आधारों में केवल एक ही की सिद्धि की गई है।

(२) सरल-उभय[1]

सभी 'क' 'ख' है,	
सभी 'ग' 'ख' है,	सभी 'ग' 'ख' है, और सभी 'क' 'ग' है।
	सभी 'घ' 'ख' है, और
सभी 'क' 'ग' है,	सभी 'क' 'च' है।

[1] Simple Double Epicheirema

यह 'सरल' है क्योकि इसके आधारवाक्य वाक्य एक एक ही संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किए गए है। और, यह 'उभय' है, क्योकि इसके दोनो आधारो की सिद्धि की गई है। पहला संक्षिप्त न्यायवाक्य उसके विधेयवाक्य —सभी 'ग' 'ख' है—को; और दूसरा उसके उद्देशवाक्य—सभी 'क' 'ग' है—को सिद्ध करता है। इसे पूर्णतः इस प्रकार व्यक्त कर सकते है—

उपकृत—

सभी 'ग' 'ख' है,
सभी 'क' 'ग' है,
∴ सभी 'क' 'ख' है।

उपकारक—

(क) सभी 'घ' 'ख' है,
सभी 'ग' 'घ' है,
∴ सभी 'ग' 'ख' है।

(ख) सभी 'च' 'ग' है,
सभी 'क' 'च' है,
∴ सभी 'क' 'ग' है

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पहला 'उपकारक न्यायवाक्य' उसके विधेयवाक्य को, और दूसरा उसके उद्देशवाक्य को सिद्ध करता है।

(३) अनुभय-संकुल[1]

सभी 'क' 'ख' है, ∵ सभी 'ग' 'ख' है, और सभी 'क' 'ग' है।
सभी 'ग' 'ख' है, ∵ सभी 'घ' 'ख' है; और सभी 'घ' 'ख' है,
सभी 'च' 'ख' है।

यह संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायवाक्य 'संकुल' है, क्योकि यहा 'उपकृत' न्यायवाक्य का एक आधार संक्षिप्त-न्यायवाक्य से सिद्ध किया गया, फिर उसका भी आधार एक दूसरे संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किया गया।

---

[1] Single Complex.

फिर, यह 'अनुभय' है, क्योंकि 'उपकृत न्यायवाक्य' का एक ही आधार सिद्ध किया गया दूसरा—सभी 'क' 'ग' है—नहीं सिद्ध किया गया।

(४) उभय-सकुल[1]

सभी 'घ' 'ग' है ∴ सभी 'ग' 'ख' है, और सभी 'क' 'ग' है।
सभी 'ग' 'ख' है, ∵ सभी 'घ' 'ग' है; और सभी 'घ' 'ख' है,
∴ सभी 'च' 'ग' है।

और फिर—
सभी 'क' 'ग' है, ∵ सभी 'छ' 'ग' है; और सभी 'छ' 'ग' है,
∴ सभी 'ज' 'ग' है।

यह 'उभय-संकुल-संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला' का उदाहरण है, क्योंकि इस 'उपकृत न्यायवाक्य' के दोनों आधार पहले एक एक संक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किए गए, फिर उनके आधारवाक्य को भी सिद्ध करने के लिए दूसरे संक्षिप्त न्यायवाक्य दिए गए।

न्यायमाला के विभिन्न रूप निम्न तालिका से प्रकट होंगे—
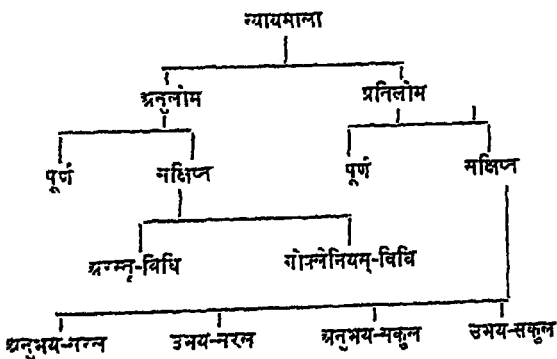
[1] Double Complex.

परिशिष्ट

१—परिशिष्ट

विचार की मर्यादा

§ १—विचार की मर्यादा के तीन नियम[1]

कुछ ऐसे सामान्य नियम है जिन्हें सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। वे इतने स्पष्ट होते है कि सामने आते ही उन्हे हम मान लेते है; उनके अन्यथा होने की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसे नियमों को स्वयंसिद्ध[2] कहते है। उदाहरणार्थ, गणित का विद्यार्थी आरम्भ मे ही अपने शास्त्र का एक स्वयंसिद्ध पढ़ता है कि "बराबर मे बराबर जोड़ने से उनका योग बराबर होता है"। पाच-पाँच सेर के दो वजन हो; उनमे यदि एक-एक सेर और मिला दे तो वे बराबर ही होगे। यह इतना स्पष्ट है कि कोई भी विद्यार्थी इसे तुरन्त मान लेगा। यदि वह यह न मान ले, अथवा समझ न ले, तो गणित-शास्त्र मे उसकी कोई गति नही हो सकती, क्योंकि गणितशास्त्र की सारी मर्यादा इन्ही स्वयसिद्ध नियमो पर आश्रित है। इसी प्रकार, तर्कशास्त्र के भी कुछ ऐसे स्वयसिद्ध नियम है जिन पर तार्किक विचार की मर्यादा निर्भर करती है। उन्हे अगरेजी मे Laws of Thought अर्थात् विचार के नियम कहते है। यही नियम 'विचार की मर्यादायें' है। मोटे तौर से, इन नियमो को सक्षेप मे इस प्रकार समझें—

---

[1] Three Laws of Thought.

[2] Axiom.

यदि कोई कहे कि 'घोडा दूध देता है', तो लोग सुन कर हँस देंगे। क्यो ? क्योकि यह स्पष्टत' असगत बात है। इसमें विचार की मर्यादा की अवहेलना की गई है। अमुक जानवर यदि घोडा है तो सवारी मे जा सकता है, गाड़ी मे जुत सकता है, घुड़-दौड मे जा सकता है, चना खा सकता है, इत्यादि सभी बाते जो घोडे मे होती हैं वे इसमे हो सकती हैं। दूध देना गाय का काम है, वह घोडे मे नही होता। इसी को इस तरह कह सकते हैं कि—घोडा घोडा है : घोडा गाय नहीं है।

घोडे या गाय की बात छोड कर साधारण रूप मे यह यो व्यक्त किया जा सकता है कि—कोई भी चीज वही है जो वह है, वह वह नही हो सकती जो वह नही है। ये दो बाते विचार की मर्यादा के पहले दो नियमो का बोध करती है। पहले नियम को तदात्मभाव[1] कहते हैं, सकेतो मे इसे इस तरह प्रकट करते हैं—'क' 'क' है। दूसरे नियम को, तद्भिन्नपरिहार[2] कहते है। सकेतो मे इसे इस तरह प्रकट करते है—कोई चीज 'क' और 'क–भिन्न' दोनो नही हो सकती। इन दोनो नियमो को ऊपर के उदाहरण मे इस तरह समझे कि—अमुक जानवर यदि घोडा है तो घोडा ही है, वह घोडा और घोडा से भिन्न दोनो नही हो सकता।

'तदात्मभाव' का नियम बताता है कि एक चीज क्या है, और 'तद्भिन्न-परिहार' का नियम बताता है कि वह क्या नही है। इन दोनो के आधार पर एक तीसरा नियम निकलता है, यह कि—कोई चीज या तो 'क' होगा या 'क-भिन्न'। ऊपर के उदाहरण मे—अमुक जानवर या तो 'घोडा' है या 'घोडा से भिन्न कोई दूसरा'। अब, अमुक जानवर इन दोनो विकल्पो को छोड कुछ और नही हो सकता, क्यो कि 'घोडा से भिन्न कोई दूसरा' इस विकल्प मे दूसरे गाय, बकरी, बाघ, मनुष्य आदि आदि समस्त जानवरो

---

[1] Law of Identity.

[2] Law of Contradiction.

का समावेश हो गया है। विरुद्ध विकल्पों के बीच किसी भी मध्ययोग का निषेध करने वाले इस नियम को 'मध्ययोगपरिहार'[1] कहते हैं।

'तदात्मभाव', 'तद्भिन्न परिहार' और 'मध्ययोगपरिहार', विचार की मर्यादा के यही तीन नियम हैं। ये नियम स्वयंसिद्ध हैं; इनकी प्रामाणिकता सभी मर्यादित विचारों में समान रूप से व्यापक है। इनका उल्लंघन होने से 'घोड़ा दूध देता है' जैसी असम्बद्ध बात उपस्थित होती है।

'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार', यथार्थ में दो पृथक् नियम नहीं हैं, किन्तु ये विधानात्मक और निषेधात्मक दो दृष्टियों से स्थापित किए गए एक ही सिद्धान्त को सूचित करते हैं। 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि इन दोनों नियमों से निषेध का स्वरूप पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाता है। साथ साथ हम यह देखेंगे कि इस अर्थ में ये नियम अपने में स्वतन्त्र भी हैं कि उनमें एक को दूसरे ही से नहीं सिद्ध कर सकते।

§ २—तदात्मभाव

तर्कशास्त्री सिग्वर्ट कहता है कि इस नियम का प्रयोजन 'अध्यवसाय'[2] की प्रक्रिया में सम्बद्धता स्थापित करना है। सत्य वही है जो त्रिकालाबाधित है। ब्रडले महाशय कहते हैं—

"जो सत्य है वह बराबर सत्य है, जो झूठ है वह बराबर झूठ है। सत्य समय से स्वतन्त्र है यही नहीं, वह तो परिवर्तन और संयोग से भी मुक्त है। स्थान या दिशा में हेरफेर करने से, अथवा किसी भी बात और प्रकरण में परिवर्तन ला कर सत्य को मिथ्या नहीं बनाया जा सकता। यदि मैं

---

[1] Law of Excluded Middle.

[2] Act of Judgment

जो कहता हूँ वह सत्य है, तो वह सदैव सत्य ही रहेगा" (Logic, p. 133)। अतएव, किसी भी वाक्य का विषय ध्रुव तथा स्थिर होगा, क्यो कि वह सत्य का प्रतिपादन करता है। अपने वाक्यो को जब ऐसा मान कर चलें तभी हमारे विचार और तर्क निर्दोष हो सकते है। ठीक इसी अर्थ मे 'तदात्मभाव' का नियम तर्कशास्त्र के सिद्धान्त का मूल कहा गया है, जो सत्य विचार और तर्क का शास्त्र है। यदि किसी एक स्वीकृत वाक्य को जब मर्जी हो बदल दे, या उसके अभिप्राय को एक बार एक प्रकार से ग्रहण करे, और दूसरी बार दूसरे प्रकार से, तो हमारे विचार ऊटपटाग हो जायेंगे और हमारे तर्क खिलवाड जैसे होगे। वैसे तर्क की प्रक्रिया के किसी क्रम पर आस्था नही होगी, क्यो कि उस प्रक्रिया के दूसरे क्रम पर आते इसका शसय होगा कि पहला वाक्य कहीं बदल तो नही गया। वैसी अवस्था मे, किसी मूल आधार वाक्य को स्वीकार करके भी उसके (विधिवत् प्राप्त) निष्कर्ष को अस्वीकार कर देने की छूट्टी रहेगी।

इसे यो कह सकते है कि, 'तदात्मभाव' केवल यह बताता है कि हम किसी वाक्य को साथ साथ स्वीकार और अस्वीकार दोनो नही कर सकते। 'तद्भिन्नपरिहार' का नियम भी यही बताता है। असल में बात यह है कि 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' एक ही सिद्धान्त को क्रमश विधान और निषेध की दृष्टियो से स्थापित करते है। तर्कशास्त्री सिग्वर्ट इसी को यो व्यक्त करता है कि, युगपत् विधान और निषेध के परिहार से ही अध्यवसाय की सम्बद्धता स्थापित होती है।

मिल महाशय की परिभाषा

तर्कशास्त्री मिल 'तदात्मभाव' के नियम की परिभाषा इस प्रकार करता है, "एक प्रकार की शब्द-योजना मे कही गई जो बात सत्य है वह उन सभी प्रकार की शब्द-योजनाओ मे सत्य होगी जो उसी अर्थ को व्यक्त

करती है ।"[1] भाषा ही विचार का अभिव्यञ्जक है, इस दृष्टि से इस परिभाषा को ग्रहण करना आवश्यक है । एक वाक्य को चाहे हम किसी प्रकार भी व्यक्त करें, तब तक कोई आपत्ति नहीं है जब तक उसका भाव समान रहता है । क्योंकि तर्कशास्त्र में वाक्य के कुछ निश्चित रूप स्थिर करने ही पड़ते हैं, हमें इसका अधिकार होना चाहिए कि लौकिक भाषा में कहे गए किसी वाक्य को, उसके भाव को बिलकुल सुरक्षित रख, शास्त्रीय रूप में ला सकें । अनन्तरानुभाव के साधन में मिल की इस परिभाषा का बड़ा उपयोग है । इस पर आगे चल कर विचार करेंगे ।

साधारण रूप

'तदात्मभाव' के नियम को साधारणतः इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि—'क' 'क' है : कोई चीज वही है जो वह है ।[2] इन संकेतों से क्या पदार्थ के विषय में कैसी सूचना मिलती है ? यदि ऐसा मानें तो बड़ी आपत्ति हो जाती है । इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि यह 'अध्यवसाय' की सम्बद्धता में निहित पदों या प्रत्ययों की सम्बद्धता को सूचित करता है, क्योंकि यदि विचार या तर्क के सिलसिले में आए पदों के भाव और निर्देश निश्चित नहीं होंगे तो 'अध्यवसाय' की सम्बद्धता सम्भव नहीं हो सकती । अतः विचार की मर्यादा के सभी नियम वाक्य-सम्बन्धी होते हुए पद-सम्बन्धी या 'प्रत्यय-सम्बन्धी' भी हैं ।

---

[1] "Whatever is true in one form of words is true in every other form of words which conveys the same meaning."

Mill—Examination of Sir William Hamilton's Philosophy, p. 466.

[2] A is A, Every thing is what it is.

आपत्ति

'क' 'क' है, इस सकेत को यदि 'क' नामक पदार्थ के विषय मे कहा गया एक वाक्य माने तो क्या आपत्ति है ? पहली आपत्ति तो यह है कि यह कोई वाक्य ही नही हुआ, जिसकी कल्पना भी की जा सके। सभी विचार में कुछ न कुछ भिन्नता का भाव होना आवश्यक है। जब हम किसी चीज का विचार करते है तो इसे कुछ दूसरी चीज से अलग करके समझते है, या इसे ऐसा समझते हैं कि इसके धर्म अन्य अनेक मे समान है, या कम से कम यह कि यही चीज भिन्न भिन्न कालो में समान है। इस तरह, हम देखते है कि किसी भी अवस्था में (भिन्नता से सर्वथा मुक्त) शुद्ध 'तदात्मभाव' प्राप्त नही होता।

इस कठिनाई को दो तरह दूर करते है —

(क) हम कह सकते है कि यहा तदात्मभाव का अर्थ शुद्ध तदात्मभाव नही है, किंतु इसका अर्थ है पूर्ण रूप से समान होना, जिस समानता मे एक को दूसरे से स्थान का नानात्व छोड़ और कोई भेद करना कठिन होता है (जैसे, एक ही प्रकार की सूइयो या छर्रों में)।

समान-ग्रहण

इस अर्थ में 'तदात्मभाव' का नियम वही ठहरता है जो तर्कशास्त्री जेवन के समान-ग्रहण का सिद्धान्त है—"एक चीज के साथ जो बात सत्य है वह उसके साथ भी सत्य है जो उसके समान है।[१] तर्कशास्त्री मैन्सल 'तदात्मभाव' के इस समानार्थक सिद्धान्त की स्थापना करता है कि— "किसी समान चीज के बराबर जितनी चीजे है सभी आपस मे बराबर है।"[२]

---

[१] "Whatever is true of a thing is true of its like."

[२] "Things that are equal to the same thing are equal to one another.

तनिक ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सिद्धान्तो को 'तदात्मभाव' के समकक्ष रखना गलत है; इन्हे इस—'क' 'क' है—संकेत से व्यक्त नहीं कर सकते। 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' नियमो का भी इस प्रकार अर्थ नहीं लगाया जा सकता। अत, 'तदात्मभाव' की ये व्याख्याये अयुक्त हैं।

(ख) यह कह कर भी कठिनाई टाली जा सकती है कि, 'तदात्मभाव' का अर्थ हैं प्रवाह की एकता। जैसे, यह वही कलम है जिससे मै कल लिख रहा था, यहा शुद्ध वही कलम का अर्थ नही है, क्योकि समय के प्रवाह में इसमे भिन्नता आ गई; तो भी यह वही है।

यदि इस व्याख्या का यह अर्थ समझें कि जो बात किसी चीज के साथ अभी सत्य है वही बाद में भी सत्य होगी, तो यह भ्रम है। क्योकि किसी वस्तु के धर्म स्थिर नहीं रहते। अर्थात् किसी व्यक्त वाक्य की सत्यता की तरह, किसी वस्तु का कोई धर्म धारण करना काल से स्वतत्र नहीं है।

उपसंहार

तब, तर्कशास्त्र मे 'तदात्मभाव' के नियम का क्या अर्थ है? इसका अर्थ धर्मों का तदात्म रहना नहीं, किंतु उस विषय का तदात्म रहना है जो धर्मो का आधार है। धर्मों में सतत परिवर्तन होता रहता है, किंतु उनका आधारभूत विषय वही रहता है। परिवर्तनो मे भी तदात्म बने रहने का स्वरूप यही है। किंतु, यह व्याख्या ठीक वही नही है जो तर्कशास्त्र में विचार की मर्यादा का नियम कहा गया है।

§ ३—तद्भिन्न-परिहार

दो 'विरुद्ध'[1] वाक्यो के सम्बन्ध का एक पहलू यह है कि दोनो एक साथ सत्य नहीं हो सकते। 'तद्भिन्नपरिहार' का नियम यही बताता है।

---

[1] Contradictory.

वाक्य की पहली विशेषता यह है कि यह सत्य होने का दावा करता है। किंतु किसी चीज के सत्य होने की घोषणा हम तब तक नही कर सकते जब तक किसी दूसरी चीज के झूठ होने की बात उसमें अन्तर्गत न हो। सभी विधान में निषेध की ध्वनि रहती है। अत., किसी वाक्य का तात्पर्य पूरा पूरा समझने के लिए यह भी समझना आवश्यक है कि यह किसका परिहार करता है।

किसी वाक्य और उसके परिहार में क्या सम्बन्ध है यह 'तद्भिन्न-परिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' के नियमो मे व्यक्त होता है। पहला नियम यह बताता कि परस्पर 'विरुद्ध' वाक्य दोनों के दोनो एक साथ सत्य नही हो सकते; और दूसरा यह कि दोनो के दोनो एक साथ झूठ नही हो सकते।

'तद्भिन्नपरिहार' का नियम, इस तरह, 'तदात्मभाव' के नियम से एक भिन्न दृष्टि से विचार की मर्यादा स्थापित करता है। विचार तथा तर्क की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए सदोष वाक्यो का निराकरण आवश्यक है; और यह निराकरण 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम से किया जा सकता है।

इस तरह, 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम का महत्व 'तदात्मभाव' के नियम का समकक्ष है। शास्त्रीय तर्क के मार्ग मे यह नियम हमें किसी तरह आगे नही बढाते है, किंतु पहले ही इसको बिना स्वीकार किए हम उस मार्ग पर उतर भी नही सकते है।

'तद्भिन्नपरिहार' का नियम साधारणत. इस सूत्र से प्रकट किया जाता है— 'क' 'नही-क' नहीं है। यहा दो वाक्यो का सम्बन्ध सूचित नही होता; किंतु यहा यह बताया गया है कि किसी वाक्य का विधेय उसके उद्देश के 'विरुद्ध' नही हो सकता। ऊपर हम देख चुके है कि बिना किसी वाक्य के सम्बन्ध मे समझे निषेध का कोई अर्थ नही है : अत. इस सूत्र से नियम खुलासा नही होता। हा, इस सूत्र को असिद्ध भी नही ठहरा

सकते, क्योंकि उसको—कुछ 'क' 'नहीं-क' है—इस वाक्य के सम्बन्ध में ला कर नियम को स्पष्ट समझ सकते हैं। अतः, उक्त सूत्र गौण रूप से ठीक ही है।

§ ४—झूठे हैं का कुतर्क[1]

निम्न तर्क की परीक्षा करें—

क्रीट द्वीप का निवासी एपिमेनाइडेस् कहता है कि, "उसके द्वीप के निवासी सभी झूठे हैं"।

तब, जो वह स्वयं कहता है वह भी सत्य नहीं हो सकता।

अर्थात् उसके द्वीप के निवासी झूठे नहीं हैं।

यदि ऐसी बात है, तो उसका कहना सत्य होगा कि उसके द्वीप के निवासी सभी झूठे हैं।

तब, जो वह स्वयं कहता है वह भी सत्य नहीं हो सकता.... —

समस्या

यह एक तर्क-चक्र हो गया जिसमें छुटकारा नहीं मालूम होता। इसका समाधान बड़ा आसान होता, यदि एपिमेनाइडेस् के कथन का यह अर्थ लें कि क्रीट के निवासी बहुधा झूठ बोलते हैं, क्योंकि कोई कितना बड़ा भी झूठा क्यों न हो वह कभी कभी सत्य भी तो अवश्य बोलता है। किंतु, यहां उनके कथन का अर्थ पूरी कड़ाई से लें, यह कि उसके द्वीप के रहने वाले सभी ऐसे झूठे हैं कि कभी सच नहीं बोलते।

फिर भी उसका समाधान बड़ा आसान होता, यदि इस कथन को असत्य मान लें। यह मानें कि एपिमेनाइडेस् का कहना असत्य है क्योंकि उसके द्वीप के रहने वाले कभी कभी सच भी बोलते हैं।

यदि यह सत्य मान कर चलें कि क्रीट के निवासी कभी सत्य नहीं बोलते,

[1] The Sophism of "The Liar"

तो समस्या की जटिलता बढ जाती है। यह मानने में कोई अन्तर्विरोध नही है, और यह मान कर चलने मे किसी बात की रुकावट नही है। तब, एपिमेनाइडेस् वैसा कथन मजे मे कर सकता है। और, क्योकि यह सत्य है इसलिए यह एक क्रीट का निवासी है जिसने सत्य कहा, और इसलिए यह असत्य है। इसकी अपनी सत्यता इसी की असत्यता सिद्ध करती है। किन्तु, फिर भी, क्यो कि यह सत्य है, एपिमेनाइडेस् सत्य नही बोल सकता, और इस लिए यह असत्य है। फिर भी वही बात हुई कि इसकी अपनी सत्यता से इसी की असत्यता सिद्ध हुई।

इस तर्क को इस प्रकार भी रख सकते है—यह बात सत्य मान कर चले कि क्रीट के निवासी सदा सर्वत्र झूठ बोलते है। और तब, एपिमेनाइडेस् के इस कथन को ले। या तो वह सत्य बोलता है या असत्य। किंतु, यदि वह सत्य बोलता है तो फलित होता है कि वह झूठ बोलता है। और, यदि वह झूठ बोलता है तो अपने सत्य बोलने की पुष्टि करता है।

समाधान

यहा समस्या यह है कि यह तर्क देखने मे निर्दोष मालूम होता हुआ भी ऐसा अन्तर्विरोधी निष्कर्ष क्यो उपस्थित करता है!!

यहा हमने ऐसे आधारवाक्य लिए जो अव्यक्त रूप से स्वय परस्पर विरोधी है, तर्क की प्रक्रिया से वही अन्तर्विरोध व्यक्त होकर प्रकट होता है। अन्तर्विरोध यह मानने में नही है कि क्रीट के रहनेवाले कभी कही भी सत्य नही बोलते। किंतु, यह मान कर, वही बात उस देश के एक निवासी के मुँह से कहलाने में अन्तर्विरोध चला आता है। हम जो दो आधारवाक्य लेते है—(१) क्रीट के रहने वाले सदा सर्वत्र झूठ बोलते है, और (२) वही का रहने वाला एपिमेनाइडेस् ऐसा कहता है—दोनो एक साथ सत्य नही हो सकते।

§ ५—मध्ययोगपरिहार

दो 'विरुद्ध'[1] वाक्यो मे जो सम्बन्ध है उसका केवल एक अश 'तद्भिन्न-परिहार' नियम से प्रकट होता है, यह कि दोनो एक साथ सत्य नही हो सकते। इस सम्बन्ध का दूसरा अश 'मध्ययोगपरिहार' नियम से पूरा होता है, यह कि दोनो एक साथ असत्य भी नही हो सकते। इस तरह, ये दोनो नियम एक दूसरे के पूरक है।

'तद्भिन्नपरिहार' का नियम बताता है कि उन दो वाक्यो मे एक अवश्य असत्य होगा। 'मध्ययोगपरिहार' का नियम बताता है कि उनमें एक अवश्य सत्य होगा। एककी सत्यता दूसरे की असत्यता सिद्ध करेगी; और एक की असत्यता दूसरे की सत्यता सिद्ध करेगी। दोनो नियमो को मिला देने से निषेध का भाव पूर्णत व्यक्त होता है।

'मध्ययोगपरिहार' का साधारण सूत्र है—प्रत्येक 'क' या तो 'ख' है, या 'नही-ख' है।[2]

§ ६—'मध्ययोगपरिहार' पर आपत्ति

कुछ लोगो ने आपत्ति की है कि 'मध्ययोगपरिहार' का नियम सामान्य और व्यापक रूप से सत्य नही है। उन आपत्तियो का कारण प्रायः 'भेदकता' और 'विरोध' के बीच[3] जो अन्तर है उसका ग्रहण न कर सकना ही है।

कुछ लोग आपत्ति करते है कि सभी जगह मध्ययोग का परिहार नही कर सकते। जैसे—'छोटा' और 'बड़ा', इन दोनों में एक बीच की अवस्था हो सकती है जो न छोटा हो न बडा हो। अथवा, 'सूरज उगा है'

---

[1] Contradictory.

[2] Every A is B or not-B.

[3] Between contrary and contradictory.

और 'सूरज नही उगा है', इन दोनो के बीच की एक अवस्था यह हो सकती है कि 'अभी सूरज आधे आध उगा है'।

यह कोई शास्त्रीय आपत्ति नही है। उन शब्दो के अर्थ ठीक ठीक निश्चित कर ले तो कोई कठिनाई नही होगी।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि हम ठीक ठीक मालूम नही कर सकते कि यह है अथवा नही है। किसी रोगीके शरीर को छू करभी कभी कभी यह पता नही लगता है कि उसे ज्वर है या नही है। न तो यह कह सकते है कि 'है', और न यह कह सकते है कि 'नही है'। किंतु इस कठिनाई का कारण मेरा अपना अज्ञान है : वैद्य नाड़ी की परीक्षा करके, या थरमा-मिटर लगा कर कह देगा कि उसे ज्वर है या नही है।

अतएव, इस सिलसिले मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि केवल 'विरुद्ध' वाक्यो के सम्बन्ध मे 'मध्ययोगपरिहार' का नियम सत्य होता है। तब कोई आपत्ति नही हो सकती।

§ ७—विचार की मर्यादा क्या विषय की भी मर्यादा है?

उक्त तीन नियमो के विषय मे इतना कह चुकने के बाद यह प्रश्न महत्व का नही रह जाता। हम देख चुके है कि ये नियम प्रामाणिक तथा सम्बद्ध विचार के मूल है, और यह कि इनकी सत्यता वाक्य के सम्बन्ध मे सिद्ध होती है। फिर भी, सारी परीक्षा का सार इस प्रकार है—

किसी व्यक्त वाक्य मे जिस सत्य की स्थापना की जाती है वह काल या उपाधि से स्वतत्र होता है। अत., हमे इसकी छुट्टी नही है कि एक तर्क के सिलसिले मे किसी वाक्य को पहले स्वीकार करके आगे अस्वीकार कर दे। वाक्य की यह सम्बद्धता 'तदात्मभाव' के नियम से, और फिर 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम से, व्यक्त होती है। उसी बात को पहला नियम विधानात्मक और दूसरा निषेधात्मक दृष्टि से देखता है। फिर, ऐसा कोई वाक्य नही है जिसमे विधि और निषेध दोनो के भाव न हो।

किसी वाक्य के पूरे अभिप्राय को समझने के लिए यह जानना होगा कि यह क्या विधान करता है, और यह भी कि यह क्या निषेध करता है। 'निषेध' का तात्पर्य क्या है यह 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' दोनो की सयुक्त विधि से व्यक्त होता है।

इसका यह अर्थ हुआ कि विना इन नियमो के पावन्द हुए हम विषय के ज्ञान में अग्रसर नहीं हो सकते। किंतु, केवल वे नियम सीधे तौर से ज्ञान को किसी तरह नही बढाते। यह स्पष्ट है कि वे वाक्यसम्बन्धी नियम हैं। उनका सीधा सम्बन्ध उस विषय से नही है जिसके वारे मे वाक्य कहा गया है।

जव यह कहा जाता है कि 'विचार की मर्यादा वस्तु की भी मर्यादा है', तव उन नियमो का निर्देश अपने गौण अर्थ मे होता है। किंतु, इन नियमो से वस्तु-सम्बन्धी कोई ज्ञान नही होता : और इनकी प्रामाणिकता वस्तु पर आश्रित नही है।

§ ८—नियमो में परस्पर सम्बन्ध

यदि अनन्तरानुमान की साधारण विधियो की प्रामाणिकता स्वीकार कर ले, तो यह दिखा सकते है कि तीनो एक दूसरे मे सन्निविष्ट है।

यह 'हेतुफलाश्रित' वाक्य ले—

यदि 'क' सत्य है, तो 'ख' भी सत्य है— (१)

इसके रूप होगे—

यह नहीं हो सकता कि 'क' सत्य हो, और 'ख' सत्य न हो— (२)

अर्थात्

या तो 'ख' सत्य है, या 'क' सत्य नही है— (३)

अब, यदि 'ख' के वदले भी 'क' ही रखे, तो हमे ये समानार्थक वाक्य प्राप्त होते है—

यदि 'क' सत्य है, तो यह सत्य है :
यह नहीं हो सकता कि 'क' सत्य भी हो, और नहीं भी;
'क' या तो सत्य है, या नहीं सत्य है।

इन वाक्यो से क्रमश. 'तदात्मभाव', 'तद्भिन्नपरिहार' तथा 'मध्ययोग-परिहार' के नियम व्यक्त होते है।

इस परीक्षा से यह साफ मालूम होता है कि इन नियमों में परस्पर कितनी घनिष्टता है। किंतु, यदि इस कारण ऐसा मान लें कि इनमें एक ही प्रधान है और दूसरे दो तज्जन्य हैं, तो बडी भूल होगी। यथार्थ मे, विचार की मर्यादा के ये नियम सभी प्रमाण के आधार है। यदि इन नियमों को पहले ही हम स्वीकार न कर लेते तो उनकी इस समानार्थकता को भी नहीं समझ सकते।

§ ९—अनन्तरानुमान से इन नियमों का सम्बन्ध

यह स्वीकार कर लेनें पर कि ये नियम सारे प्रमाण के आधार हैं, एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या केवल इन्ही के बल पर कोई अनुमान प्रामाणिक सिद्ध हो सकता है ?

तर्कशास्त्री हैमिल्टन का कहना है कि सारे शास्त्रीय विधान का सिद्धान्त 'तदात्मभाव', सारे शास्त्रीय निषेध का सिद्धान्त 'तद्भिन्नपरिहार', और सारे शास्त्रीय विकल्प का सिद्धान्त 'मध्ययोगपरिहार' है। यहा शास्त्रीय विधान, निषेध या विकल्प का अर्थ 'विषय' के सम्बन्ध में नही, किंतु केवल 'रूप' के सम्बन्ध में है। हैमिल्टन के अनुसार ये तीनो नियम वाक्य के विधानात्मक, निषेधात्मक तथा वैकल्पिक रूपो का समर्थन करते है।

विधान, निषेध और विकल्प—वाक्य का यह नया विभाजन विचित्र मालूम होता है। इसमे 'विभाग-सकर' है। प्रश्न होता है कि इन जैसे हेतुफलाश्रित वाक्यो के रूप को किस विभाग मे रखेंगे—(१) यदि यह

सत्य है कि जो कुछ 'उ' है वह 'वि' भी है, तब यह भी सत्य है कि जो कुछ 'वि' नहीं है वह 'उ' भी नहीं है : (२) यदि यह सत्य है कि सभी 'उ' 'हे' है, और यह कि सभी 'हे' 'वि' है, तब यह भी सत्य है कि सभी 'उ' 'वि' है।

क्योंकि ये सभी वाक्य विधानात्मक है, इन्हें 'तदात्मभाव' नियम में अन्तर्गत होना चाहिए: और, क्योंकि किसी भी अनुमान के रूप का सिद्धान्त ऊपर ही जैसे वाक्य के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है, हम देखते है कि हैमिल्टन यह मत स्थापित करता है कि इन तीन नियमो में (कम से कम 'तदात्मभाव' मे) एक पूरा आधार है जिस पर सभी शास्त्रीय अनुमान आश्रित हो सकते है।

सब से पहले, विशेष कर अनन्तरानुमानों के सम्बन्ध में सक्षेपतः इस मत की परीक्षा करें:—

यह स्वीकार कर सकते है कि अनन्तरानुमान की 'परिवर्तन-विधि' पूर्णतः 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' के नियमो पर आश्रित है। सभी 'क' 'ख' है, इस वाक्य से कोई 'क' 'नहीं-ख' नहीं है यह निष्कर्ष 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम से निकालते है। और, कोई 'क' 'ख' नहीं है, इस वाक्य से सभी 'क' 'नहीं-ख' है, यह निष्कर्ष 'मध्ययोगपरिहार' के नियम से निकालते है।

किन्तु 'व्यत्यय' और 'परिवर्तित व्यत्यय' की विधियो के साथ दूसरी बात है। यदि इन्हें पूर्ण रूप से इन तीन नियमो पर आश्रित करने का प्रयत्न करें तो या तो प्रतिज्ञा मात्र होगी, या इन विधियों के अनुमान होने का सर्वथा अपलाप होगा।

तर्कशास्त्री डी मोरगन लिखता है, "कोई लेखक यह दिखाने का प्रयत्न करे कि किस प्रकार व्यत्ययविधि की योग्यता का अनुभव—यह कि 'क' 'ख' है से 'ख' 'क' है सिद्ध होता है—इन्ही तीन नियमो से फलित होता है, तो मै उस पर विचार कर सकूँ। अभी तो, मै यही देखता हूं कि दूसरे केवल इसकी प्रतिज्ञा भर करने के अलावा और कुछ नही करते,

और मै स्वय जब कभी यह प्रयत्न करता हू तो स्वाश्रय दोष हुआ ज्ञात होता है।" Syllabus of Logic, p. 47

व्यत्यय-विधि की प्रामाणिकता सिद्ध करने के प्रयत्न मे यह देखना चाहिए कि उसकी सिद्धि मे यह निहित है या नही कि 'ओ' वाक्य का व्यत्यय हो ही नही सकता, और 'आ' वाक्य का व्यत्यय 'विषम-विधि' से होगा? हां, और हमे यह मानने का कोई अधिकार नही है कि जिस किसी सुस्पष्ट सिद्धान्त की हम सहायता ले वह 'तदात्मभाव' का ही नियम होगा।

उदाहरण के लिए, 'तदात्मभाव' के बल पर 'आ' तथा 'ई' वाक्यो के व्यत्यय की स्थापना करने के इस प्रयत्न को देखे—सभी विधानात्मक वाक्य यह प्रतिज्ञा करते है कि ऐसी कुछ चीजे है जिनमे उद्देश और विधेय दोनो के स्वभाव-धर्म प्राप्त है। इस तरह, 'तदात्मभाव' का नियम विधानात्मक वाक्य के व्यत्यय की पुष्टि करता है। क्योकि. यदि 'क' नामक व्यक्तियो मे 'ख' नामक धर्म प्राप्त है, तो 'तदात्मभाव' के नियम के अनुसार सिद्ध होता है कि कुछ चीजें जिनमें वह धर्म प्राप्त है 'क' नामक व्यक्तियां है। ऐसा कहते तो है, किंतु जरा यह भी विचार करें कि वह नियम यहा किस प्रकार लागू होता है। चाहे कुछ भी तर्क दे, मतलब यही होगा कि व्यत्यय की प्रामाणिकता स्वयं सुस्पष्ट है। तब, "तदात्मभाव के नियम के अनुसार सिद्ध होता है" यह कहने के बदले यही क्यो न कहा जाय कि "यह स्वयं सुस्पष्ट है" ?

यदि सारे अनन्तरानुमान को वाक्यान्तर-करण को छोड और कुछ न मानें, तो अलबत्ता कह सकते है कि इनका आधार 'तदात्मभाव' का नियम है। देख चुके है कि मिल महोदय इसी मत की पुष्टि करते है— "एक प्रकार की शब्द-योजना मे कही गई जो बात सत्य है वह उन सभी प्रकार की शब्द-योजनाओ में सत्य होगी जो उसी अर्थ को व्यक्त करती है।" किंतु, यदि व्यत्यय, या कोई भी अनन्तरानुमान, वाक्यान्तरकरण मात्र नही है, तो व्यत्येय और व्यत्यस्त की समानता सिद्ध करना रह जाता है।

§ १०—परंपरानुमान से इन नियमों का सम्बन्ध

तर्कशास्त्री मैनसेल का मत है कि न्यायवाक्य पूर्ण रूप से इन तीन नियमों पर आश्रित हैं। उसका कहना है कि किसी भी क्रम के विधानात्मक सिद्ध-संयोगो पर 'तदात्मभाव' का नियम, और निषेधात्मक पर 'तद्भिन्न-परिहार' का नियम लागू होता है।[1] न्यायवाक्य के अवयव-वाक्यो के विधेय के अंश का निश्चय करके विधानात्मक संयोगो में—इस स्वयसिद्ध को कि "किसी प्रत्यय के अंश या पूरे के साथ जिसका तदात्म होता है, उसका तदात्म उसके अंश या पूरे के साथ भी होगा जो उस प्रत्यय से तदात्म है" लागू कर उक्त मत की सिद्धि होती है। निषेधात्मक संयोगो में इस स्वयसिद्ध को लागू करना होगा कि "यदि सभी या कुछ 'ख' का 'क' से तदात्म हो, तो उनका (='क' का) सभी या कुछ उसके पूरे से पृथक् होगा जो सभी 'ख' से पृथक् है।"

मैनसेल के ये सूत्र स्पष्टत 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' के नियमो के साधारण स्वरूप से भिन्न हो जाते हैं। वे तो अरस्तू के "डिक्टम् दि ओम्नि एट् नल्लो" (देखिए पृ० २००) सिद्धान्त के समान हो जाते हैं। हां, यदि यह मान ले कि अरस्तू का यह सिद्धान्त 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्न-परिहार' के नियमो को ही व्यक्त करने का एक प्रकार है, तो इस पर और विचार करने की आवश्यकता नहीं। किंतु, तब हम 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' को क्रमशः इस प्रकार व्यक्त नहीं कर सकते कि—जो सत्य है वह सत्य है, या 'क' 'क' है और यदि एक वाक्य सत्य है तो उसका विरुद्ध असत्य है, या 'क' 'नहीं-क' नहीं है। न्यायवाक्य का आधारभूत जो सिद्धान्त है वह 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' के उक्त रूपो से व्यक्त नहीं होता। ये हेतुपद के व्यापार को उपस्थित नहीं करते, जो

[1] Prolegomena Logic, p. 222

न्यायवाक्य की अपनी विशेषता है : और, न तो इनसे न्यायवाक्य के नियम निकाले जा सकते हैं ।

हा, यह कहा जा सकता है कि विचार की मर्यादा के नियमो की पूर्वस्वीकृति न्यायवाक्य या किसी भी अनुमान के लिए आवश्यक है । प्रतिलोमविधि से रूपान्तरकरण की विधि में, न्यायवाक्य के सिद्धान्त में जिसका प्रमुख स्थान है, ये नियम साफ तौर पर उपस्थित होते है ।

२—परिशिष्ट

नाम, पद और प्रत्यय

कुछ तर्कशास्त्रियो ने 'पद' के बदले 'नाम' शब्द का ही प्रयोग करना अच्छा समझा है। हौब्स 'नाम' का लक्षण इस प्रकार करता है—"नाम वह शब्द है जिसे हम अपनी इच्छा से किसी विशेष सकेत के लिए ग्रहण कर लेते है जो हमारे मन में एक वैसा ही विचार उद्बुद्ध कर देता है जैसा पहले हुआ था; और जिसके कथन से दूसरो को भी वह सकेत हो जाता है जिसका विचार वक्ता के मन के सामने था या नही था।" कुछ लोगो ने 'पद' शब्द पर भी यही लक्षण लागू करना चाहा है। यदि उक्त लक्षण में से 'या नही था' इतना निकाल दें तो 'नाम' का तात्पर्य इससे अच्छा व्यक्त हो जाता है, किंतु इससे 'पद' का लक्षण ठीक नही होता। क्योकि, जिस किसी शब्द या शब्द-समूह से कोई चीज पुकारी जाय वह उसका 'पद' तो होगा, किंतु उसका 'नाम' नही भी हो सकता है। "इसे क्या कहते है?" इस प्रश्न के उत्तर मे जो शब्द कहे वही उसका नाम है। यदि वह चीज कोई व्यक्ति-विशेष द्रव्य हो, तो वह शब्द हमारे विचार को उस व्यक्ति-विशेष की ओर निर्देश भर कर देगा, चाहे वह कुछ भी हो। और, यदि किसी नाम से हमारा ध्यान इस ओर भी खिचे कि वह चीज क्या है जिसके विषय मे हमें विचारना है, तो वह शब्द उसकी किसी विशेषता या गुण को नही व्यक्त करेगा, किन्तु वह उसके अपने तात्त्विक स्वरूप को बतावेगा। पहली अवस्था मे, वह व्यक्तिवाचक संज्ञायें होगा, जैसे—गोपाल, गगा, भारतवर्ष इत्यादि। दूसरी अवस्था में, वह जातिवाचक सज्ञा होगा, जैसे—मनुष्य, नदी, लोहा इत्यादि, अथवा प्रकार, धर्म या सम्बन्ध का नाम होगा, जैसे—मनुष्यता, छेद, दूरी इत्यादि। किंतु, ऐसा शब्द नाम

नही कहा जा सकता जो किसी विषय के लिए प्रयुक्त होकर बतावे कि इसमें क्या धर्म या सम्बन्ध है, अथवा इन्ही के लिए प्रयुक्त होकर बतावे कि ये किस विषय मे रहते है, अथवा उनके बारे में और कुछ भी। 'महान् सेनापति' सुभाषचन्द्र बोस का नाम नही है : 'काकोरी की डकैती' साहस का नाम नही है 'परम उपादेय' धन का नाम नही है : 'लगातार' परिमाण का नाम नही है। कस्तूरी हरिण की नाभी मे पाई जाती है— इस वाक्य मे 'कस्तूरी' एक द्रव्य का नाम है, किंतु 'हरिण की नाभी मे पाई जाती' कोई नाम नही है . किन्तु वे दोनो उस वाक्य के 'पद' है।

'नाम' और 'पद' मे भेद करने का एक और कारण है। हम अपने मन मे बराबर नाम और नामधारी मे भेद करते है। किंतु, पद अपने अर्थ के साथ इतना सपृक्त हुआ रहता है कि हम प्राय पद से (उस शब्द को न समझ) विचार के उस विषय का बोध करते है जो उद्देश और विधेय है। बहुधा वाक्य को पदो मे विभक्त करते हमें कुछ नये शब्द भी लगाने पडते है जिनका प्रयोग मूल मे नही था। इससे भी साफ होता है कि 'पद' का सीधा सम्बन्ध अर्थ से है, न कि शब्द से। यह कहा जाता है कि वाक्य का उद्देश पद वह है जिसके विषय मे कुछ विधान या निषेध किया जाय। यहा 'उद्देश-पद' से उस शब्द का नही किंतु अर्थ का बोध होता है। इनकी परस्पर भ्रान्ति न हो इसलिए कभी कभी इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक होता है कि 'पद' से किसका बोध होता है—विचार के विषय का, या उसके प्रकाशक शब्दो का। पहली अवस्था मे उसे **विचार-पद**[1] और दूसरी अवस्था में उसे **पद-शब्द**[2] कहते है। इन दोनो के पृथक पृथक लक्षण होने चाहिए। किसी वाक्य के उद्देश या विधेय की तरह जिसका विचार हो सके वह 'विचार-पद' है। और, किसी वाक्य मे उद्देश या विधेय की तरह जिस शब्द या शब्द-समूह का प्रयोग हो सके वह 'पद-शब्द' है।

---

[1] Terms of thought. [2] Terms verbal.

यदि 'विचार-पद' व्यक्तिविशेष का न बोध कर किसी सामान्य का बोध करता हो तो वह 'प्रत्यय' कहा जाता है। 'प्रत्यय' शब्द से बराबर उस विषय का बोध होता है जिसका विचार है, उससे उसके नाम का कभी बोध नही होता।

'प्रत्यय' के अर्थ मे 'कल्पना' शब्द का भी प्रयोग होता है। बौद्ध दर्शन मे तो इस अर्थ मे 'कल्पना' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। साधारण भाषा मे 'कल्पना' शब्द का अर्थ उस मानसिक प्रक्रिया से भी है और उस विचार से भी। अत, यहा इस द्व्यर्थक शब्द को छोड 'प्रत्यय' का ही प्रयोग करना अच्छा होगा।

'प्रत्यय' और 'विचार-पद' एक ही चीज नही है, क्योकि व्यक्ति-विशेष द्रव्य विचार-पद तो हो सकता है किंतु प्रत्यय नही हो सकता। जैसे, गङ्गा बनारस हो कर बहती है, इस वाक्य मे 'गङ्गा' विचार-पद तो है क्योकि इसे हम देख या विचार सकते है, किंतु यह प्रत्यय नही है क्योकि हम इसकी कल्पना (=प्रत्ययन) नहीं करते। तथापि हमारे विचार के अनेकानेक पद प्रत्यय है। तर्कशास्त्र मे उनका क्या व्यापार है इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

'वाक्य' मात्र पर एक पुरानी आपत्ति यह है कि जब इसके उद्देश और विधेय अलग अलग है तब यह कैसे सत्य हो सकता है? 'तदात्मभाव' के नियम के अनुसार कोई चीज वही है जो वह है, तब उद्देश विधेय कैसे होगा? अर्थात्, 'क' 'ख' है, यह वाक्य ही नही बनेगा, क्योकि तदात्मभाव के अनुसार 'क' 'क' ही होगा 'ख' नहीं।[1]

किंतु यदि हम एकता मे भेद बिल्कुल न देखे तो विचार की कोई क्रिया हो ही नही सकती। तर्कशास्त्र और तत्वशास्त्र दोनो के लिए

[1] इस समस्या को सर्व-प्रथम यूनान के सिनिक दार्शनिक ऐण्टिस्थेनेस् ने उपस्थित किया था, जिसका काल ई० पू० ४ थी शताब्दी है।

'एक मे अनेक, और अनेक मे एक' की समस्या बडी पुरानी है। 'क' 'ख' है, वाक्य के इस रूप में हम बराबर विचार करते हैं; अत इसकी परीक्षा करनी होगी कि इस रूप का क्या तात्पर्य है।

वाक्य के निम्न उदाहरणो पर ध्यान दें—

(१) गोपाल चतुर है, (२) राजा गिरफ़्तार है, (३) आम एक फल है, (४) आज्ञा-पालन बलिदान से अच्छा है, और (५) अदत्तादान करना चोरी करना है।

पहले वाक्य में विधेय उद्देश की पूरी बात मे से एक बात है, किंतु उद्देश का निर्देश एक ऐसे नाम से किया गया है जो उसकी किसी और बात को नही बताता।

दूसरे वाक्य में फिर भी विधेय उद्देश की पूरी बात मे से एक ही बात है, किंतु उद्देश का निर्देश एक ऐसे नाम से किया गया है जो उसकी एक और बात बताता है।

दोनो वाक्यो मे विधेय प्रत्यय है, और उद्देश व्यक्तिविशेष द्रव्य है। किंतु दूसरे में उद्देश द्रव्य होने के अलावे प्रत्यय भी है, यह उद्देश-प्रत्यय उस व्यक्ति की पूरी बात में से एक बात है।

तीसरे वाक्य में फिर भी उद्देश एक द्रव्य है, और वह प्रत्यय है, किंतु वह उस चीज की कोई विशेष बात नही है, किंतु वह उसका तात्विक स्वरूप है। इसमे विधेय भी उद्देश की कोई विशेष बात नही बताता, किंतु वह उद्देश-प्रत्यय का सामान्य है।

इस तरह, पहला वाक्य गोपाल का एक धर्म—चतुरता—बताता तो है, किंतु उसका अर्थ यह नही है कि गोपाल होना चतुरता है। दूसरे का भी यह अर्थ नही है कि राजा होना गिरफ्तार होना है। किंतु तीसरे का तो यह अर्थ है कि आम होना एक फल होना है।

चौथे वाक्य में, उद्देश एक द्रव्य नही किंतु एक प्रत्यय है, जिसकी हम कल्पना करते है। उसका विधेय भी वैसा ही है, किंतु यह उद्देश-प्रत्यय

का सामान्य नहीं है। और, इस वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि आज्ञापालन बलिदान-में-अच्छाई है।

पांचवें वाक्य में चौथे की तरह, उद्देश प्रत्यय है, विधेय-प्रत्यय उसका (उद्देश का) सामान्य है, और वाक्य का यह अर्थ होता है कि अदत्तादान करना चोरी करना है।

अब इन उदाहरणों की परीक्षा से हम इन बातों पर ध्यान दें— (१) प्रत्यय धर्म होते हैं (यह आवश्यक नहीं कि हम उनका प्रत्यक्ष कर सकें) जिन्हें हम व्यक्तिविशेषों में पाते हैं (२) वे ऐसे भी धर्म हो सकते हैं कि इन व्यक्तियों की अवस्था को पूरी तरह ढक लें, या उसकी कुछ बातें भर बतावें (३) एक धर्म दूसरे धर्म को पूरा पूरा व्याप्त कर सकता है, या उसका सामान्य हो सकता है : (४) जहां विधेय-धर्म उद्देश, या उद्देश-प्रत्यय को पूरा पूरा व्याप्त कर लेता है, वहां स्वभावतः विधेय उद्देश है, यह नहीं कि उद्देश-धर्म में जो व्यक्त होता है वह विधेय-धर्म में केवल पुकारा जा सके (एक आम एक फल है, एक अदत्तादायी एक चोर है), किन्तु जो उद्देश-धर्म है वही विधेय-धर्म है (आम होना फल होना है, अदत्तादान करना चोरी करना है) (५) जहां विधेय-धर्म उद्देश की केवल एक बात बताता है—उद्देश या तो व्यक्तिविशेष हो या धर्म हो—वहां विधेय स्वभावतः उद्देश नहीं है, विधेय-धर्म उद्देश का प्रासंगिक हो या उद्देश-धर्म का उसी व्यक्ति में समव्याप्तिक हो। और भले ही उद्देश, या उद्देश-धर्म में व्यक्त हुआ, विधेय-धर्म में व्यक्त हो, उद्देश या उद्देश-धर्म विधेय-धर्म नहीं है (गोपाल चतुराई नहीं है, राजा होना गिरफ्तार होना नहीं है, आज्ञापालन बलिदान में अच्छा होना नहीं है)।

इस तरह, वाक्य के विचार-पदों में प्रत्यय भी सम्मिलित होते हैं, किन्तु विचार-पद व्यक्तिविशेष भी हो सकते हैं। किन्तु, इन विचार-पदों का, चाहे व्यक्तिविशेष हो या प्रत्यय, सभी वाक्य में समान सम्बन्ध नहीं

होते—भले ही भाषा के रूप उद्देश और विधेय के सम्बन्ध के भेदों को बराबर खोल न सकते हो।

हम देख चुके है कि 'प्रत्यय' किसी चीज का धर्म है, यह कोई व्यक्ति-विशेष नही है। किसी एक खास प्रत्यक्ष गुण (जैसे, इस स्याही का कालापन) का भी प्रत्यय नही होता। हा, उस जाति या सामान्य का प्रत्यय हो सकता है जिसका यह एक विशेष उदाहरण है। केवल अपने विचार के व्यापार से हम सामान्य रग की कल्पना कर सकते है जो काला, लाल, पीला सभी मे समान रूप से प्राप्त है। केवल अपने विचार के व्यापार से ही हम सामान्य कालापन की कल्पना कर सकते है जो सभी काली स्याहियो में समान है। अतः, 'प्रत्ययो' का प्रत्यक्ष नही हो सकता। किंतु, यह समझ लेना गलत होगा कि क्यो कि उनका प्रत्यक्ष नही हो सकता इसलिए उनकी सत्ता हमारे मनसे स्वतत्र नही है, और यह कि वे कल्पित है। हमारे जो प्रत्यय है, जिनके विषय मे हम विधान या निषेध करते है, वे यदि वैसी चीजें न हुई तो हमारा विचार करना निरर्थक होगा इसका कोई फल नही निकल सकता। मान लें कि पढ कर या और किसी तरह कोई यह मालूम कर ले कि जिब्राल्टर अगरेजो के आधीन है। तो, उसके वाक्य का विषय भूमध्यसागर के मुह पर स्थित एक चट्टान और उसके विषय में एक वर्तमान ऐतिहासिक बात है। यह साफ है कि चट्टान की सत्ता उसके विचार करने से स्वतत्र है। किंतु यह भी उसके विचार करने से स्वतंत्र है कि चट्टान पर अंगरेजों का अधिकार है; यदि ऐसा नही होता तो उसका वाक्य सत्य नही होता। तो भी उस पर किन्ही का अधिकार होना प्रत्यक्ष का विषय नही है।

३—परिशिष्ट

तर्कशास्त्र में चित्री-करण

ऊपर हम देख चुके हैं कि वाक्य के रूपों को समझने में किस प्रकार चिह्नों का उपयोग किया जा सकता है। स्विटजरलैण्ड के एक प्रसिद्ध गणितज्ञ तथा तर्कशास्त्री लियोनहर्ड यूलर ने (ई० १७०७–१७८३) चित्री-करण की जो विधि बताई उसका प्रचार अधिक हुआ है। वह इस प्रकार है—

पदों के व्यक्तिबोध को यदि चक्रों से सूचित करें तो देखेंगे कि निम्न पाँच चित्रों में किन्हीं दो पदों के सभी सम्भव सम्बन्ध सूचित किए जा सकते हैं—
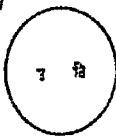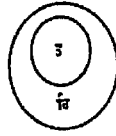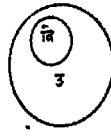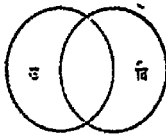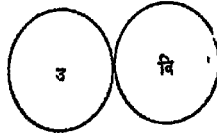
'आ' वाक्य—सभी 'उ' 'वि' है—केवल पहले दो चित्रों में व्यक्त हो सकता है।

'ए' वाक्य—कोई 'उ' 'वि' नही है—केवल अन्तिम चित्र में व्यक्त होता है।

'ई' वाक्य—कुछ 'उ' 'वि' है—अन्तिम को छोड पहले चारो चित्रो मे व्यक्त हो सकता है। यहा यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस वाक्य मे 'कुछ का अर्थ यह नही है कि 'कुछ ही' किंतु इसका अर्थ है कि, कम से कम कुछ। कुछ 'उ' 'वि' है—यह वाक्य इतना भर सूचित करता है कि वक्ता को सभी 'उ' के विषय मे जानकारी नही है। हो सकता है कि सभी 'उ' 'वि' हो, किंतु यहा वक्ता को केवल कुछ ही 'उ' के 'वि' होने की बात मालूम है। अत उक्त वाक्य का अर्थ यह नही है कि, कुछ ही 'उ' 'वि' है, किंतु इसका अर्थ यह है कि, कम से कम कुछ 'उ' 'वि' अवश्य है हो सकता है कि सभी 'उ' 'वि' हो, किंतु वक्ता को यह मालूम नही। इसी कारण, यह वाक्य पहले और दूसरे चित्रों से भी व्यक्त किया जा सकता है।

'ओ' वाक्य—कुछ 'उ' 'वि' नही है—पहले दो को छोड़ शेष तीन चित्रों से व्यक्त हो सकता है।

इस चित्रीकरण मे सबसे बडी कठिनाई इस कारण होती है कि एक ही चित्र से वाक्य के दो भिन्न रूपो का भी व्यक्त होना सम्भव होता है। अत किसी चित्र को देख कर ही यह नही कहा जा सकता कि इसका अर्थ क्या है। फिर भी, इन स्थानो मे इनका बडा उपयोग है—

(१) किसी वाक्य में विधेय का अश निश्चय करने में। वाक्य के चार रूपो को निम्न प्रकार देखे, जिनके विधेय का वह भाग काला कर दिया गया है जिसके विषय मे यहा कहना अभिप्रेत है—

'आ'—

'ए'—

इन्हें देखने मे पता चलता है कि 'अ' और 'ई' वाक्यो के विधेय कुछ अवस्थाओं मे केवल एक ही अंश में काले हैं, किंतु 'ए' और 'ओ' वाक्यो के विधेय सभी अवस्थाओं मे पूर्णतः काले हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि निषेधात्मक वाक्यो के विधेय सर्वथा सर्वांगी होते हैं, किंतु विधानात्मक वाक्यो के विधेय वैसे नही होते।

(२) वाक्यो के परस्पर भेद को व्यक्त करने मे भी इन चित्रो का बड़ा उपयोग है। 'आ' और 'ओ', इन दो विरुद्ध वाक्यो के चित्रो को देखने से साफ पता चलता है कि (क) इनमे कोई चित्र समान नही है, और यह कि (ख) इनमें सभी सम्भव चित्र चले आते है, कोई छूटता नही। यह इस बात को बडा साफ कर देता है कि दो विरुद्ध वाक्य एक साथ सत्य नहीं हो सकते, और यह कि उनमे एक अवश्य सत्य होगा। फिर, 'आ'

और 'ई', इन दो 'समावेश वाक्यो' के चित्रो को देखने से मालूम होता है कि पहले में वह बात आ गई है जो दूसरे मे है, बल्कि उससे अधिक बात भी, क्योकि उसमे और अधिक सम्भव सयोगो की गुजायश नही है। इसी तरह, दूसरे भेद भी समझे जा सकते है।

(३) वाक्यो के व्यत्यस्त रूप क्या होगे यह समझने मे भी यह चित्रीकरण सहायक हो सकता है। 'आ' वाक्य का 'विषम व्यत्यय' ही हो सकता है, यह इस चित्र से भली भाति समझ मे आ जाता है। 'आ' वाक्य—सभी 'उ' 'वि' है—के यही दो चित्र हो सकते है—
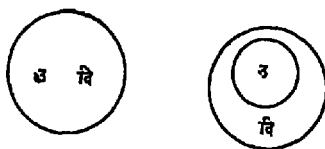
इनसे हम 'वि' के विषय में क्या जान सकते है? पहले चित्र के अनुसार तो—सभी 'वि' 'उ' है। किंतु दूसरे के अनुसार—कुछ 'वि' 'उ' है। किसी अवस्था में हमे पता नही हो सकता है कि वहां इनमे कौन सत्य है; अत इतना ही कहा जा सकता है कि—कुछ 'वि' 'उ' है।

फिर, इस चित्रीकरण से यह भी साफ समझ सकते है कि 'ओ' वाक्य का कैसे व्यत्यय हो नही सकता। कुछ 'उ' 'वि' नही है—इस वाक्य को केवल इन चित्रो में व्यक्त कर सकते है—
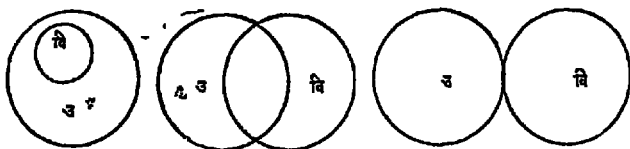
इन चित्रो को देखने से 'वि' के विषय मे क्या ज्ञात होता है? तीनो के अर्थ इस प्रकार होते हैं—(क) सभी 'वि' 'उ' हैं; (ख) कुछ 'वि' 'उ' है; तथा कुछ 'वि' 'उ' नही है, (ग) कोई 'वि' 'उ' नही है। इन अर्थों मे बडी असगति मालूम होती है। तब, 'वि' के साथ सत्य होने वाली किसी बात का पता नही लगता।

(४) अनन्तरानुमान के दूसरे मिश्र रूपो को भी समझने मे चित्रो का उपयोग है। उदाहरणार्थ, सभी 'उ' 'वि' है, इस वाक्य को ले कर पूछ सकते है कि इसके आधार पर 'नही-उ' या 'नही-वि' के विषय में क्या जान सकते है? इस वाक्य के यही दो चित्र हो सकते है—
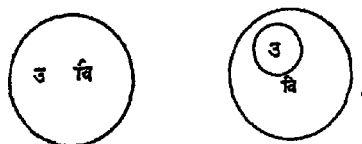
इन चित्रो से 'नही-वि' के विषय मे ज्ञात होता है कि—(क) कोई 'नही-वि' 'उ' नही है, (ख) कोई 'नही-वि' 'उ' नहीं है।

और, 'नही-उ' के विषय मे ज्ञात होता है कि—(क) कोई 'नही-उ' 'वि' नही हैं, (ख) कुछ 'नही-उ' 'वि' नही है। इस तरह, किसी भी अवस्था मे निष्कर्ष निकल सकता है कि—कुछ 'नही-उ' 'वि' नहीं है।

'ए', 'ई', 'ओ' वाक्यो के विषय मे भी चित्रीकरण का यही उपयोग किया जा सकता है।

(५) न्यायवाक्य की सिद्धि या असिद्धि समझने में भी इन चित्रो का उपयोग होता है। 'वार्बारा' के सिद्ध रूप का चित्रीकरण करके देखें। उसका रूप है—

सभी 'हे' 'वि' है,

सभी 'उ' 'हे' है,

∴ सभी 'उ' 'वि' है।

इसके आधारवाक्यो के चित्र इस प्रकार होंगे—
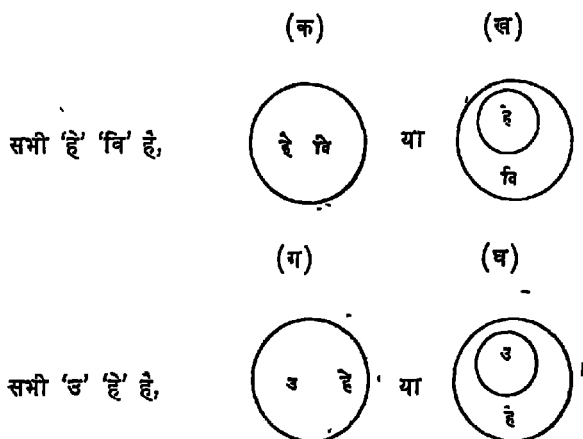
इनके आधार पर निष्कर्ष निकालने के लिए इन चित्रो को परस्पर मिला कर देखना होगा कि सभी अवस्थाओ में 'उ' और 'वि' का क्या सम्बन्ध ठीक ठहरता है। जो होगा वही निष्कर्ष है। इनके चार सयोग होंगे—
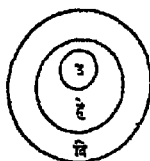
इन अवस्थाओं में 'उ' या तो 'वि' को पूरा-पूरा छाप लेता है, या उसके अन्तर्गत होता है। अतः इनके आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि —सभी 'उ' 'वि' है।

फिर, एक दूसरा उदाहरण सिद्ध न्यायवाक्य 'बोकार्डो' का लें, जो बड़ा जटिल प्रतीत होगा। इसके आधारवाक्य है—

कुछ 'हे' 'वि' नहीं है,

सभी 'हे' 'उ' है,

यहा, विधेयवाक्य के निम्न तीन चित्र होगे—

(क) (ख) (ग)

हे वि

और, उद्देशवाक्य के निम्न दो चित्र होंगे—

(घ) (च)

हे उ

इनको परस्पर मिलने मे छ सयोग होंगे—

क+घ=

क+च=

ख+घ=
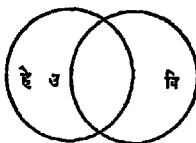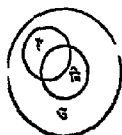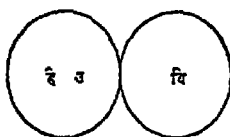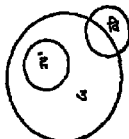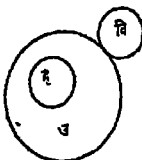
यदि 'हे' का विचार छोड़ दें, तो ऊपर के नव चित्रों में से 'उ' और 'वि' के सम्बन्ध के सूचक केवल तीन ही रह जाते हैं—
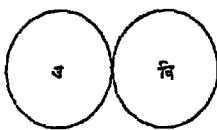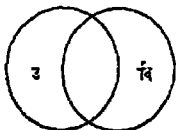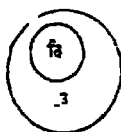
इनके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि—कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

यह तो ठीक है कि चित्रीकरण की यह विधि अत्यन्त जटिल हो जाती है। प्रारम्भ मे ही यदि न्यायवाक्य के सभी रूपो के चित्रीकरण का प्रयास करते तो यह, विद्यार्थी को और भी उलझन में डाल देता। किंतु, इस विधि से पदो तथा वाक्यो के परस्पर सम्बन्ध एक बार समझ लेने से जो स्पष्टता हो जाती है उसका भी अपना विशेष प्रयोजन है।

६—परिशिष्ट

अनन्तरानुमान

§ १—अरस्तू द्वारा प्रामाणिकता का प्रतिपादन

अरस्तू 'ए' वाक्य के व्यत्यय की प्रामाणिकता प्रतिलोम विधि से सिद्ध करता है। कोई 'क' 'ख' नहीं है   कोई 'ख' 'क' नहीं है, क्योंकि यदि यह नहीं होता तो कोई 'ख'—मान लें 'ग'—'क' होता। तब 'ग' 'क' भी होता और 'ख' भी। किन्तु यह मूल वाक्य के प्रतिकूल हो जाता है।

इसी तरह वह 'आ' वाक्य का व्यत्यय भी प्रामाणिक सिद्ध करता है। सभी 'क' 'ख' हैं . कुछ 'ख' 'क' हैं। यदि यह निष्कर्ष ठीक नहीं है, तो इसका विरुद्ध रूप—कोई 'ख' 'क' नहीं है—ठीक होगा। इसका व्यत्यय होगा—कोई 'क' 'ख' नहीं है। किन्तु यह मूल आधारवाक्य के प्रतिकूल है, अतः ठीक नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि वह निष्कर्ष ठीक था। इसी तरह, 'ई' वाक्य के व्यत्यय की भी प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है।

अरस्तू के इस प्रयास में कोई बल नहीं है। विरोध और सव्ययोग परिहार के सिद्धान्तों को छोड़ इस साधन में और कुछ नहीं है। इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि अनन्तरानुमान की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वह उसी का आधार ग्रहण करता है।

§ २—अनन्तरानुमान का परंपरानुमान में रूपान्तर

केवल एक आधारवाक्य से निष्कर्ष निकालने की विधि को अनन्तरानुमान, और अनेक आधारवाक्यों से निष्कर्ष निकालने की विधि को

परपरानुमान कहते हैं। यहा यह विचार करे कि अनन्तरानुमान की प्रामाणिकता परपरानुमान के सहारे कहा तक करना सम्भव है।

(१) एक प्राचीन युनानी तर्कशास्त्री, अफ्रोडिसियस का अलक्जेण्डर, 'ए' वाक्य के व्यत्यस्त को सिद्ध न्यायवाक्य 'फेरीओ' के रूप में ला कर इस तरह सिद्ध करता है—

व्यत्येय 'ए' वाक्य—कोई 'क' 'ख' नही है,

∴ कोई 'ख' 'क' नही है।

यदि यह निष्कर्ष ठीक नही है तो इसका विरुद्ध रूप—कुछ 'ख' 'क' है—ठीक होगा, और तब यह न्यायवाक्य उपस्थित होता है—

कोई 'क' 'ख' नही है,
कुछ 'ख' 'क' है,
∴ कुछ 'ख' 'ख' नही है।

यह असम्भव है। अत. ऊपर का निष्कर्ष ठीक था।

(२) अरस्तू ने जो 'ए' वाक्य के व्यत्यय को सिद्ध करने की कोशिश की है उसमे भी एक न्यायवाक्य बन जाता है—

'ग' 'ख' है,
'ग' 'क' है,
∴ कुछ 'क' 'ख' है।

(३) 'आ' वाक्य के परिवर्तित-व्यत्यय को 'कामेनेस्' न्यायवाक्य के रूप मे इस तरह ला कर सिद्ध कर सकते है—

सभी 'क' 'ख' है,
कोई 'नही-ख' 'ख' नही है,
∴ कोई 'नही-ख' 'क' नही है।

अथवा

प्रतिलोम विधि से—

सभी 'क' 'ख' है,

∴ कोई 'नहीं-ख' 'क' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष ठीक नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप—कुछ 'नहीं-ख' 'क' है—अवश्य ठीक होगा। तब, यह न्यायवाक्य बनता है—

सभी 'क' 'ख' है,   दारीई

कुछ 'नहीं-ख' 'क' है,

∴ कुछ 'नहीं-ख' 'ख' है।

जो असम्भव है।

§ ३—इन विधियों मे अनुमान की मात्रा कहां तक ?

प्रसिद्ध तर्कशास्त्री जे० एस० मिल अनन्तरानुमान पर आक्षेप करते हुए कहता है कि इन विधियों को अनुमान मानना ही गलत है, क्योंकि इनमें वाक्य के अर्थ को केवल दूसरे पर्याय-वाक्य से सूचित करने के अलावा कुछ नहीं होता। ज्ञात के आधार पर अज्ञात के विषय में निष्कर्ष निकालना अनुमान का अपना प्रयोजन है। अनन्तरानुमान में कोई ऐसा निष्कर्ष नहीं निकलता; इसका निष्कर्ष तो आधार का वाक्यान्तर-मात्र है। इस कारण, इन विधियों का अध्ययन भाषा का विषय होना चाहिए, तर्कशास्त्र का नहीं।

अनुमान इस बात का व्यञ्जक है कि यहा विचार मे कोई गति हुई है। और, विचार में गति तभी होती है जब विचार के विषयो में किसी सम्बन्ध की अनुभूति हो। विचारक के अपने मन की ही बातो से विचार की कोई गति उत्पन्न नहीं होती। विचार की गति का अर्थ है किसी नये विषय का परामर्श प्राप्त होना। यदि अपने ही विषय पर विचार चेष्टित होता रहा तो उसमें गति कैसी !!

यदि महात्मा गाधी के चित्र को देख कर हमारे मन में हो कि चर्खा

का प्रचार अवश्य होना चाहिए तो यह कोई अनुमान नही कहा जा सकता। मेरा मित्र मेरे साथ है, इसलिए मैं अपने मित्र के साथ हूं—यह भी अनुमान का उदाहरण नही हो सकता। गाधी जी के चित्र से जो चर्खे का विचार हुआ वह किसी नये विषय का परामर्श नही है; वह तो केवल साहचर्य-जनित उद्‌बुद्ध स्मृति मात्र है। दूसरे उदाहरण मे भी विचार की गति हुई नही कही जा सकती, क्योंकि विचार की चेष्टा का विषय वही रहा है—हम दोनो का साथ।

समावेश

सामान्य वाक्य से समाविष्ट का निष्कर्ष भी अनुमान नही कहा जाना चाहिए; क्योंकि जब समाविष्ट वाक्य अपने सामान्य में सन्निहित ही है तो इसे ज्ञान के प्रसार का कोई उदाहरण नही कह सकते। किंतु, यह ध्यान में रखना चाहिए कि निष्कर्ष की अत्यन्त स्पष्टता अनुमान के निषेध की आधार नही हो सकती। निष्कर्ष अपने आधार में अनुगत रहता है यह बात भी अनुमान के निषेध का आधार नही हो सकती, क्योंकि सभी आधार वाक्य अपने निष्कर्ष के व्यञ्जक होते हैं।

संकेतों के उपयोग से समस्या

अनन्तरानुमान की विधियो को समझने के लिए सकेतो का उपयोग किया जाता है। किंतु अमुक दृष्टान्त में अनुमान है या नही यह जानने के लिये पहले यह जानना आवश्यक है कि उन सकेतों का अर्थ क्या है। व्यत्यय-परिवर्तन-व्यत्यय की संयुक्त विधि से साकेतिक निष्कर्ष इस प्रकार निकाल सकते हैं—कोई 'क' 'ख' नही है, ∴ कोई 'ख' 'क' नही है, ∴ सभी 'ख' 'नही-क' हैं, ∴ कुछ 'नही-क' 'ख' है। यदि इसका मूल वाक्य हो—कोई गाय मांसाहारी नही है, तो इसका अन्तिम निष्कर्ष होगा—कुछ गाय से इतर प्राणी मांसाहारी हैं। इससे इस निष्कर्ष के रूप की प्रामाणिकता पर कोई आशंका नही होती। किंतु, यदि मूल वाक्य हो—कोई

मनुष्य दो बार नहीं मरता, तो इसका अन्तिम निष्कर्ष होगा—कुछ मनुष्येतर दो बार मरते हैं। इसका मूलवाक्य बड़ा ठीक है, क्योंकि यह साफ है कि मनुष्य एक ही बार मरते हैं। उससे यह निष्कर्ष भी शास्त्रीय विधियों के अनुकूल ही निकाला गया है। तब, इस असम्भव परिणाम पर कैसे पहुंचे ? भला, किसी प्राणी के दो बार मरने की कल्पना भी कैसे कर सकते हैं ! यह कठिनाई इसी लिए उपस्थित हो गई कि हम यह धारणा लिए थे कि वाक्य उद्देश और विधेय पदों से सूचित होने वाले व्यक्तियों की इसी रूप में वास्तविक स्थिति भी बताते हैं। किंतु, ऐसा न मान कर सांकेतिक वाक्य को केवल उद्देश और विधेय के परस्पर सम्बन्ध का सूचक मानें तो कोई समस्या नहीं उठती। और तब, वाक्य हेतुफलाश्रित रूप में समझा जाता कि—यदि मनुष्य हैं, और दो बार मरने वाले भी है तो उनमें कोई सम्बन्ध नहीं है।

दो दृष्टियाँ

विधानात्मक वाक्य में साधारणतः उद्देश और विधेय दोनों से सूचित होने वाले व्यक्तियों की विद्यमानता स्वीकार करके चलते हैं, चाहे वैसे खास व्यक्तियों का हमारे मन में कोई ख्याल हो या न हो। सभी 'क' 'ख' है, इस वाक्य से 'क' जाति के सभी व्यक्तियों के विषय में कहना भी अभिप्रेत हो सकता है, और यह भी कि 'क' के होने और 'ख' के होने में सम्बन्ध है। पहले को ऐतिहासिक दृष्टि और दूसरे को वैज्ञानिक दृष्टि कह सकते हैं। यदि वाक्य वैज्ञानिक दृष्टि से कहा गया हो, तो यह आवश्यक नहीं होता कि वह वैसे व्यक्तियों की विद्यमानता की भी सूचना करे। सभी नदियां ऊंची से नीची ओर बहती है, इसे वैज्ञानिक दृष्टि से कहा गया वाक्य कह सकते हैं : क्योंकि इसे कहते समय यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तिगत नदियों का ख्याल हो। ऊंची से नीची ओर बहना पानी का स्वभाव है। अत, नदी के अपने स्वभाव में यह बात निहित है कि वह

नीचे की ओर बहेगी । सभी नदियां ऊची से नीची ओर बहती है, यह कोई ऐतिहासिक सूचना नही है, किंतु वैज्ञानिक सत्य की अभिव्यक्ति है । ऐसे वाक्य को हेतुफलाश्रित रूप मे रखने से इसकी वैज्ञानिकता साफ मालूम पड़ती है : जैसे, यदि कोई नदी है तो नीचे की ओर बहेगी । किसी ऐतिहासिक दृष्टि से कहे गये सामान्य वाक्य को इस प्रकार हेतुफलाश्रित रूप नही दे सकते । भारतवर्ष के सभी बड़े लाट अगरेज है, इसे यह रूप नही दे सकते कि—यदि कोई भारतवर्ष का बडा लाट है तो अगरेज है । क्योकि बडा लाट कोई दूसरी जाति का भी हो सकता था । वैज्ञानिक दृष्टि से कहे गए विशेष वाक्य का रूप होना चाहिए, 'क' 'ख' हो सकता है । कुछ 'क' 'ख' है, इस विशेष वाक्य के कहने के समय यह प्रकट होता है कि 'क' जाति के कुछ खास व्यक्ति ख्याल मे रख कर कहा गया है । वैज्ञानिक दृष्टि से कहे गए एक सामान्य वाक्य का उदाहरण ले—सर्वज्ञ पशु-पक्षी की भाषा भी समझते है । यहा, यह शका करने की आवश्यकता नही है कि क्या कोई सर्वज्ञ हो सकता है, अथवा क्या पशु-पक्षी की भी भाषा होती है ! हो सकता है कि दोनो न होते हो । तो भी, उक्त वाक्य का अभिप्राय तुच्छ नही समझा जायगा । इस वाक्य की सार्थकता यह व्यक्त करने मे है कि यदि कोई सर्वज्ञ हो, और यदि पशु-पक्षी की भाषा हो तो वह उसे अवश्य समझ लेगा ।

उसी तरह, कोई मनुष्य दो बार नही मरता, इस वाक्य को वैज्ञानिक दृष्टि से लें तो हमें इसकी खोज करने की आवश्यकता नही है कि क्या कोई दो बार भी मर सकता है अथवा नही । और तब, वह समस्या नही खड़ी होती जो ऊपर हुई है ।

व्यत्यय में अनुमान की मात्रा कहां तक ?

इतनी बात सामने रख कर, विचार करें कि वाक्य के चार रूपो के व्यत्यय में कहां तक अनुमान की मात्रा प्राप्त होती है । 'इ'—कुछ भार-

तीय नेता समाजवादी है, यह एक विशेष-विधानात्मक 'ई' वाक्य है। इसका व्यत्यस्त होगा, कुछ समाजवादी भारतीय नेता है। यह अत्यन्त स्पष्ट है। बाबू जयप्रकाश नारायण आदि कुछ लोगों को मैं जानता हूं जो भारतीय नेता भी हैं और समाजवादी भी हैं। तब, चाहे वाक्य के उद्देश को 'कुछ भारतीय नेता' बनाऊं या 'कुछ समाजवादी' एक ही बात है। इस तरह, यहां व्यत्येय से व्यत्यस्त का लाभ करने में विचार में कोई गति नहीं हुई। यदि उन खास व्यक्तियों के साथ उक्त वाक्य के उद्देश तथा विधेय को अलग-अलग रख कर विचार करें तो अलबत्ता अनुमान का कुछ रूप बन सकता है।

बाबू जयप्रकाश नारायण आदि व्यक्ति भारतीय नेता हैं,
बाबू जयप्रकाश नारायण आदि व्यक्ति समाजवादी हैं,
∴ कुछ समाजवादी भारतीय नेता हैं।

किन्तु, यह न्यायवाक्य का उदाहरण हुआ, अनन्तरानुमान का नहीं।

'आ'—सभी घोड़े पशु हैं, यह एक सामान्य-विधानात्मक 'आ' वाक्य है। इसका व्यत्यस्त होगा—कुछ पशु घोड़े हैं। यों तो देखने से मालूम होता है कि इसमें नई बात का पता चला है, यह कि सभी घोड़ों के विषय में जान कर कुछ पशुओं के विषय में अनुमान किया गया है। किंतु तनिक विचार कर देखने से पता चलेगा कि इसमें भी यथार्थतः विचार में कोई गति नहीं हुई है। सभी घोड़े पशु हैं, यह कहने के समय ही हमने यह अनुभव किया था कि 'पशु' का विस्तार घोड़े तक ही सीमित नहीं है, और यह कि गाय बकरी आदि दूसरे पशु हैं जो घोड़े नहीं हैं, और, पशु होने का अर्थ नहीं है कि यह घोड़ा ही होगा। अतः, 'आ' वाक्य के उद्देश और विधेय से यदि उन व्यक्तियों का बोध होता हो तो इसके व्यत्यस्त में किसी अनुमान की बात दिखाई नहीं देती।

'आ' वाक्य जब वैज्ञानिक दृष्टि से कहा गया हो जिसके उद्देश और विधेय से उन व्यक्तियों का न बोध हो कर उनके स्वभाव का बोध होता

हो, तो उसके व्यत्यस्त मे अनुमान की मात्रा प्राप्त होगी। सर्वज्ञ पशु-पक्षी की भाषा को समझते है, इस वाक्य का व्यत्यस्त हुआ—कुछ 'पशु-पक्षी की भाषा समझने वाले' 'सर्वज्ञ' है। इससे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि कुछ ऐसे लोग है जिनमे सर्वज्ञता और पशु-पक्षी की भाषा समझ सकना दोनो गुण पाये जाते है।

किंतु, यह अनुमान व्यत्यय-विधि के कारण न प्राप्त होकर हेतुफलाश्रित न्याय से प्राप्त हुआ है, क्योकि इसमे हेतु और फल के रूप में आने वाले दो स्वभावो के सम्बन्ध के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया है। ऊपर देख चुके है कि उक्त वाक्य का यथार्थ भाव हेतुफलाश्रित रूप मे इस तरह प्रकट होता है—यदि कोई सर्वज्ञ है, तो वह पशु-पक्षी की भाषा समझता है। मिश्र न्यायवाक्य के नियमके अनुसार फल का विधान करके हेतु का विधान नही कर सकते। फल का विधान करके केवल इतना कह सकते है कि हेतु हो सकता है। अत, यहा यही कह सकते है कि—पशु-पक्षी की भाषा समझने वाला सर्वज्ञ हो सकता है। ऊपर देख चुके है कि इसका अर्थ हुआ कि कुछ 'पशु-पक्षी की भाषा समझने वाले' 'सर्वज्ञ' है।

'ए'—सामान्य-निषेध 'ए' वाक्य यदि शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि मे कहा गया हो तो उसके व्यत्यय मे विचार की कोई गति नही होती। कोई घोड़ा गाय नही है, या कोई गाय घोडा नही है, दोनो एक ही बात है। घोडा और गाय का सर्वथा पार्थक्य दोनो मे समान है। यह कोई अनुमान नही कहा जा सकता। बल्कि इस तरह व्यत्यय करने में वाक्य के तात्पर्य मे अन्तर पडने का भय रहता है। सामान्य-निषेध वाक्य अपने उद्देश के व्यक्तियो की विद्यमानता का आश्वासन देता है, विधेय के व्यक्तियो की विद्यमानता का नही। कोई मनुष्य दो बार नही मरता है, या कोई पशु आख से नही सुनता है—इन वाक्यो मे 'मनुष्य' या 'पशु' के व्यक्तियों की विद्यमानता का आश्वासन तो प्राप्त है, किंतु ये यह नही सूचित करते

५—परिशिष्ट

न्यायवाक्य की उपयोगिता तथा प्रामाणिकता पर दार्शनिक मिल् की आपत्ति

(१) दार्शनिक मिल का कहना है कि तीन अवयवों वाले न्याय-वाक्य के जिन संयोगो का अध्ययन तर्कशास्त्र बड़े महत्व से करता है वैसे बने बनाए रूप यथार्थतः हमारे विचार करने की प्रक्रिया में कभी नहीं आते। वह इस अध्ययन को एकदम निरर्थक नही बताता। उसके अनुसार इसकी उपयोगिता केवल इस बात में कही जा सकती है कि हम अपने किसी विचार को, यदि उसकी प्रामाणिकताके विषयमें संदेह हो, इन रूपो में ला कर परीक्षा कर सकते है कि यह संगत है या असंगत। इस प्रकार, न्यायवाक्य का उपयोग विचार की कसौटी के रूप में भले ही हो, किंतु विचार के दिग्दर्शक के रूप में कभी नही है।

मिल के अपने शब्दो में—"न्यायवाक्य की उपयोगिता इस बात मे नही है कि उसी के अनुसार हमारे तर्क नित्य, या प्रायः, हुआ करते है; किंतु वह इस बात में है कि उससे हमें उन रूपों का ज्ञान हो जाता है जिनमें हम अपने तर्कों को ढाल सकते है, और, यदि उसमें कोई असंगति हो तो उसे स्पष्ट कर सकते है।" हेर्संचेल्, वेवेल, बेन आदि तर्कशास्त्रियो ने मिल की इस आपत्ति को स्वीकार किया है।

समीक्षा

इसके विरुद्ध मैन्सल, डे मोर्गन, मार्टिनिउ, डा० राय, सर हैमिल्टन

आदि कुछ दूसरे तर्कशास्त्रियों ने मिलकी उक्त आपत्ति का विरोध किया है। उनका कहना है कि—

यह ठीक है कि हमारे दैनिक विचार न्यायवाक्यके बने-बनाए रूपो मे नहीं आते, किंतु इससे न्यायवाक्य की उपयोगिता को कोई आँच नहीं पहुँचती। जब न्यायवाक्यों के सयोग विचार-सगति के प्रतीक है तब उनके महत्व को स्वीकार करना ही होगा। तर्कशास्त्र का कर्तव्य यह बताना नही है कि हमारे विचार की प्रक्रिया क्या है। यह तो मानसशास्त्र का विषय है। तर्कशास्त्र तो विधायक शास्त्र है : वह यह अध्ययन करता है कि हमारे विचार के रूप कैसे होने चाहिए, यदि हम ठीक विचार करना चाहते है। इन दो शास्त्रो के क्षेत्र अलग न समझ कर ही मिल महोदय ने उक्त आपत्ति की है।

*   *   *

(२) मिल् महोदय की दूसरी आपत्ति यह है कि—

"सारे अनुमान विशेष से विशेष के होते है। सामान्य वाक्य तो ऐसे ही पूर्व-प्राप्त अनुमानों के योग है, जिनमें और भी नये अनुमानो का समावेश कर सकते है। फलतः, न्यायवाक्य का विधेयवाक्य ऐसे ही योग का एक सूत्र है। और, निष्कर्ष-वाक्य की निष्पत्ति उस सूत्र से नहीं, किंतु उस सूत्रके अनुसार होती है।" इस तरह मिल ने न्यायवाक्य के सामान्य-वाक्य वाले अवयव की सामान्यता के आधार का अपलाप किया है।

समीक्षा

यह ठीक है कि कुछ अवस्थाओं में हमारे अनुमान विशेष से विशेष के होते है; किंतु यह मानना भारी भूल होगा कि सारे अनुमान ऐसे ही होते है, और यह कि अनुमान में सामान्यता के आधार का कोई स्थान ही

नहीं है। इसके विपरीत, विशेष से विशेष के अनुमान मे भारी खतरा है; और यह तभी दूर हो सकता है जब उसका आधार कोई सामान्य हो।

एक आदमी का बुखार अमुक दवा से अच्छा होता देखकर दूसरे किसी को भी बुखार आने पर वह दवा भले ही दे दें, किंतु यह खतरे से खाली नही है। यह खतरा तभी दूर हो सकता है जब हमे उस खास बुखार की जाति का ज्ञान हो जाय, और इसका कि इस जाति के बुखार को हटाने की ताकत इस दवा मे कैसे है। इस तरह कार्य-कारण के सम्बन्ध पर आश्रित जो व्याप्ति (=सामान्य) बनी है वही न्यायवाक्य मे आधार का काम करती है।

मिल का यह कहना ठीक नही कि न्यायवाक्य मे जिस सामान्य का प्रयोग होता है वह पूर्व-प्राप्त विशेष अनुमानो का योग मात्र है। यदि सामान्य ऐसा हो तो यथार्थ मे तर्कशास्त्र की दृष्टि से उसका महत्त्व अत्यन्त अल्प हो। किंतु, यथार्थ मे न्यायवाक्य का आदर्श सामान्य तो वह व्याप्ति है जो कार्य-कारण के सम्बन्ध पर स्थापित की गई है। यह सामान्य न्याय-वाक्य मे आधार का काम करता है। तर्कशास्त्री वेल्टन लिखता है—"ऐसी अवस्था मे भी जब हम प्रत्यक्षत. एक या दो विशेष के आधार पर ही निष्कर्ष निकाल लेते है सचमुच मे हमारे अनुमान का आधार वह सामान्य धर्म होता है जो सभी में समान रूप से प्राप्त है। और, यही न्यायवाक्य में सामान्य विधेयवाक्य के रूप मे व्यक्त हो सकता है।"

(३) मिल महोदय की तीसरी आपत्ति यह है कि न्यायवाक्य का निष्कर्ष तो अपने सामान्य आधार-वाक्य मे अवगत ही रहता है। जब हम न्यायवाक्य उपस्थित करते है कि—

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
मुकरात मनुष्य है,
∴ मुकरात मरणशील है;

तो कोई नई बात सिद्ध नहीं करते : क्योंकि, "सुकरात मरणशील है" यह निष्कर्ष तो "सभी मनुष्य मरणशील हैं" इसी आधारवाक्य में सिद्ध था। तब, न्यायवाक्य में एक तरह सिद्ध-साधन[1] भर है।

समीक्षा

ऊपर देख चुके हैं कि न्यायवाक्य में जो सामान्य आधारवाक्य है वह विशेषों का योग मात्र नहीं है, किंतु वह कारण-कार्य के सम्बन्ध पर स्थापित व्याप्ति है। यही व्याप्ति निष्कर्ष का आधार होता है। इसे विशेषोंका योग मात्र समझना भारी भूल है। जब विज्ञानवेत्ता विशेष में पैठ कर उसके 'स्वरूप' को पकड़ लेता है तब पूरे विश्वास के साथ किसी व्याप्ति की स्थापना करता है। न्युटन ने वृक्ष से एक फल गिरते देखा, इतने में उसने सभी भौतिक पदार्थों में जो आकर्षण-शक्ति काम कर रही है उसे समझ लिया। न्युटन ने एक विशेष फल गिरने की घटना में उस सामान्य धर्म का दर्शन कर लिया जिसके बल पर उसने घोषणा की कि 'सभी भौतिक पदार्थ में आकर्षण शक्ति है'। इस व्याप्ति को प्राप्त करने के लिए क्या न्युटन ने हजारों फल गिरा कर देखा था !! बागीचे के माली तो सदैव वृक्ष से फल गिरते देखते हैं, किंतु उन्हें इस व्याप्ति का दर्शन नहीं होता। प्रस्तुत ग्रन्थ के दूसरे भाग में हम 'व्याप्ति-विधि' का अध्ययन करेंगे, कि विशेषों की परीक्षा से सामान्य पर कैसे पहुँचते हैं।

---

[1] Petitio Principii.

इस प्रकार से स्थापित सामान्य वाक्य ही न्यायवाक्य मे ऐसा आधार बनता है जिससे निष्पन्न हुआ निष्कर्ष पूरा भरोसा वाला होता है। यहाँ तक कि, 'युरेनस' ग्रह की गति में कुछ परिवर्तन देख कर ज्योतिषशास्त्री ने घोषणा की कि अमुक दिशा में अमुक प्रकार का एक दूसरा ग्रह होना चाहिए जिसके प्रभाव से इसकी गति में यह परिवर्तन होता है। और, बाद में सचमुच 'नेपचुन' ग्रह वहाँ पाया गया।

"सभी मनुष्य मरणशील हैं, सुकरात मनुष्य है. ∴ सुकरात मरणशील है" इस साधारण न्यायवाक्य में भी जो विधेयवाक्य है वह क्या विशेष-घटनाओं का योग मात्र है? नही, वह उस सामान्य सत्य का कथन करता है, जो अन्यथा हो ही नही सकता। इस सामान्य सत्य को समझने के लिए हजारो मरते लोगो को देखने की जरूरत नही है। यहाँ जो 'सुकरात का मरणशील होना' निष्कर्ष निकाला गया है वह इस आधार पर कि 'सुकरात' में भी वही मनुष्य-साधारण अपूर्णता थी जिस कारण वह मरणशील होता है। यहाँ, निष्कर्ष-वाक्य एक घटना मात्र नही है, किंतु यह एक सत्य की सिद्धि है जो 'सुकरात' के साथ लागू है।

मिल जो कहता है कि निष्कर्ष-वाक्य विधेयवाक्य मे अवगत है उससे तो उद्देशवाक्य निरर्थक ठहरता है। किंतु, हम देख चुके है कि न्यायवाक्य में उद्देशवाक्य एक अनिवार्य अवयव है।

फिर, यदि प्रत्येक न्यायवाक्य 'सिद्ध-साधन' मात्र होता तो उसकी प्रक्रिया से कोई नई जानकारी प्राप्त करना सम्भव न होता; विधेयवाक्य के सुनते ही साथ साथ निष्कर्ष का भी ज्ञान हो जाता। तब, अनुमान एकदम निष्प्रयोजन हो जाता। किंतु, हम सभी जानते है कि ज्ञान के विकास मे अनुमान बडा भारी साधन है। यह ठीक है कि निष्कर्षवाक्य की सत्यता आधारवाक्यों की सत्यता मे निहित है, क्योंकि यदि वह ऐसी न होती तो हम उसे जान भी नही सकते। इतने से यदि कोई यह समझ

ले कि आधारवाक्य की जानकारी मे निष्कर्षवाक्य की भी जानकारी निहित है तो यह उसकी भूल होगी। न्यायवाक्य को 'सिद्ध-साधन' मात्र बता कर मिल ने यही भूल की है। बात यह है कि आधारवाक्य की सत्यता की जानकारी से निष्कर्ष वाक्य की सत्यता की जानकारी प्राप्त होती है। इसी से अनुमान हमारे ज्ञान के विकाश का आवश्यक मार्ग है।

६—परिशिष्ट

निगमन-विधि में होने वाले दोष[1]

तर्कशास्त्र उन नियमो का अध्ययन करता है, जिनका पालन करना प्रामाणिक विचार के लिए आवश्यक है। इन नियमो का जहाँ उल्लघन हुआ वहाँ विचार सदोष हो जाता है। अत, दोषों की भी सख्या उतनी ही होगी जितनी संख्या तर्कशास्त्र के सिद्धान्तो तथा नियमो की है। दोषो के कितने प्रकार हो सकते हैं यह निम्न तालिका से प्रकट होगा—
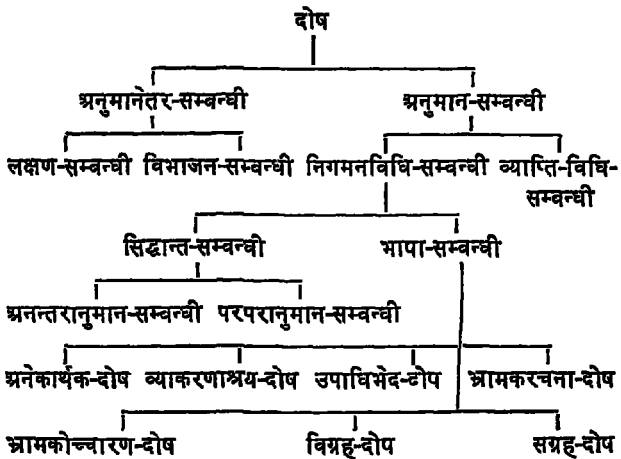
[1] Fallacies in Deductive Reasoning.

'लक्षण' तथा 'विभाजन' के प्रकरणो मे देख चुके है कि उनके क्या क्या नियम है, और उनके उल्लघन से क्या क्या दोष उपस्थित होते है [पृ० ६२–७५] । उन्हे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही है ।

अनुमान के व्याप्ति-विधि-सम्बन्धी दोषो का अध्ययन ग्रन्थके दूसरे भाग में करेंगे ।

निगमन-विधि सम्बन्धी दोष दो प्रकार के होते है—सिद्धान्त-सम्बन्धी और भाषा-सम्बन्धी । अनन्तरानुमान और परपरानुमान के प्रकरणो में उनके भेद-प्रभेदो के जो नियम देख चुके है उनके उल्लघन से जितने दोष उपस्थित होते है, सभी सिद्धान्त-सम्बन्धी दोष है । उनका निरूपण भी उनके अपने अपने स्थानो मे हो ही गया है ।

भाषा-सम्बन्धी दोष सात प्रकार के होते है—

(१) भिन्नार्थक दोष[1]—न्यायवाक्य का पहला साधारण नियम है कि उसमे केवल तीन ही पद होंगे । प्रत्येक पद दो दो बार प्रयुक्त होता है । अब, यदि उनमें कोई—विधेय पद, या हेतुपद, या उद्देश्यपद—दो जगहो पर दो अर्थों मे प्रयुक्त हो तो 'चतुष्पाद दोष' हो जाता है [देखिए पृ० १६१] । इसी दोष को 'भिन्नार्थक दोष' कहते है ।

(२) व्याकरणाश्रय-दोष[2]—समान प्रकृति से सिद्ध शब्दो मे भी बहुधा घोर अर्थवैषम्य हो जाता है, और उससे बडा ऊटपटाग निष्कर्ष निकल जाता है । जैसे—

दाता होना बडा अच्छा है,
वह इञ्जन में कोयला देता है
∴ वह बडा अच्छा है ।

---

[1] Fallacy of Equivocation.
[2] Fallacy of Paronymous Terms.

यहाँ हेतुपद मे समान 'देना' धातु का प्रयोग हुआ है किंतु दोनो के अर्थ में बड़ी विषमता है।

(३) उपाधि-भेद दोष[1]—न्यायवाक्यका हेतुपद यदि आधारवाक्यो मे समान उपाधि के प्रसंग मे न लिया गया हो तो बड़ा अनर्थ हो सकता है। इसे 'उपाधि-भेद दोष' कहते हैं। जैसे—

मनुष्य-वध करने वाला मृत्युदण्ड का भागी है,
सिपाही मनुष्य-वध करने वाला है
∴ सिपाही मृत्युदण्ड का भागी है।

इस युक्ति मे 'उपाधि-भेद दोष' है, क्योकि यहाँ विधेयवाक्य मे "मनुष्य-वध करना" साधारण शान्ति-काल की उपाधि मे समझा गया है, और उद्देशवाक्य मे वही रण-क्षेत्र की उपाधि में समझा गया है।

(४) भ्रामक रचना दोष[2]—कभी कभी वाक्य-रचना ऐसी भ्रामक होती है कि उसका ठीक अर्थ क्या है यह पता नही चलता। जैसे—

नेवला साँप नही खाता,

इस वाक्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'नेवला साँप को नही खाता', और यह भी कि 'नेवला को साँप नही खाता'। इसे 'भ्रामक रचना दोष' कहते हैं।

इस दोष का उदाहरण ज्योतिषी की उस प्रसिद्ध भविष्यद्वाणी में है जिसे वह किसी गर्भिणी स्त्री की संतान के विषय मे करता है। वह एक कागज पर लिख कर रख छोडता है कि—"लड़का न लड़की"। स्त्री को यदि लड़का पैदा हुआ तो उसे खोल कर पढ़ देता है—लड़का, न लडकी और यदि लडकी पैदा हुई तो उसे पढ़ देता है—लडका न, लड़की।

---

[1] Fallacy of Accident.

[2] Fallacy of Amphibology.

(५) भ्रामकोच्चारण दोष[1]—वाक्य के किसी खास शब्द पर जोर दे कर उच्चारण करने से भी कभी कभी अर्थका अनर्थ हो जाता है। "आपस मे मत लड़ो" यह एक साधारण शिक्षा है। अब, यदि कोई इसे 'आपस' शब्द पर खूब जोर दे कर पढ़े तो इसका यह अर्थ हो जायगा कि—आपस में तो मत लड़ो, किंतु दूसरे से लडने मे कोई हानि नहीं। इस दोष को 'भ्रामकोच्चारण दोष' कहते है।

(६) विग्रह दोष[2]—जो वाक्य सग्रहार्थक है उसे विग्रह के अर्थ मे ले ले तो यह दोष उपस्थित होता है। जैसे—

सभी लडके इस शहतीर को उठा सकते हैं,

मै लडका हूँ।

∴ मै इस शहतीर को उठा सकता हूँ।

यहाँ विधेयवाक्य सग्रहार्थ है। "सभी लडके" का अर्थ है—सभी लडके मिल कर। इसे विग्रह के अर्थ मे समझ लिया गया है, यह कि—सभी लड़के अलग अलग। इस दोष को 'विग्रह दोष' कहते हैं।

(७) संग्रह-दोष[3]—जो वाक्य विग्रहार्थक है उसे सग्रह के अर्थ में ले ले तो यह दोष उपस्थित होता है। जैसे—

यहाँ के सभी पहलवान एक सेर से कम ही खाते हैं,

राम, हरि, गौरी और मोहन यहाँ के पहलवान है,

∴ वे एक सेर से कम ही खायेंगे।

यहाँ विधेयवाक्य विग्रहार्थक है। "सभी पहलवान" का अर्थ है—सभी पहलवान अलग अलग। इसे सग्रह के अर्थ मे समझ लिया है, यह कि—सभी एक साथ। इस दोष को 'सग्रह-दोष' कहते है।

---

[1] Fallacy of Accent. [2] Fallacy of Division.

[3] Fallacy of Composition.

७—परिशिष्ट

(प्रश्नावली[1])

१—तर्कशास्त्र का विषय

(१) तर्कशास्त्र का क्षेत्र क्या है ? इसका अध्ययन किस प्रकार उपयोगी है ? क्या यह हमारे तर्क को निर्दोष बना देता है ?

(२) जब वह भी, जिसने तर्कशास्त्र का अध्ययन कभी नही किया है, ठीक-ठीक तर्क कर लेता है, तब तर्कशास्त्र की क्या आवश्यकता ? समझाइए।

(३) "तर्कशास्त्र अध्ययन करने के पूर्व भी हम काफी सप्रमाण विचार कर सकते है, अत विचार मे प्रमाणता लाने के लिए इस शास्त्र के अध्ययन का कोई मूल्य नही"—इस कथन की परीक्षा कीजिए।

(४) 'ज्ञान' के स्वरूप का निरूपण कीजिए। इसके भिन्न-भिन्न 'रूप' और 'मार्ग' क्या है ? क्या सभी ज्ञान तर्कशास्त्र के अध्येय विषय है ?

(५) प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान मे क्या भेद है ? इनमे तर्कशास्त्र का अपना अध्येय विषय कौन है ?

(६) तर्कशास्त्र किसकी परीक्षा करता है—विचार की, या विषय की, या भाषा की ? पूर्ण रूप से प्रकाश डालिए।

(७) वस्तुवाद, प्रत्ययवाद और भाषावाद—तर्कशास्त्र मे जो ये तीन मत है उनकी व्याख्या कीजिए।

२—तर्कशास्त्र, रूप-विषयक और विषय-विषयक

(८) 'सत्य' क्या है ? रूपविषयक और विषय-विषयक सत्य के भेद को समझाइए ? तर्कशास्त्र दोनो मे किसका अध्ययन करता है ?

---

[1] प्राय: परीक्षा के प्रश्नपत्रों से संगृहीत।

1. THE PROBLEM OF LOGIC

(1) Determine the scope of Logic, and indicate the uses of its study. Does it render a man free from error?

(2) Can you say that the study of Logic is useful when persons who have never studied it reason accurately? Give reasons for your answer.

(3) Discuss the statement that much valid thought precedes the study of Logic, hence the study of Logic is valueless for the purpose of valid thought.

(4) Determine the character of knowledge, indicating its different forms and sources. Does all knowledge comes within the province of Logic?

(5) Distinguish between Immediate and Mediate Knowledge. Which of them constitutes the proper subject-matter of Logic?

(6) What does Logic deal with, with thought, thing or language? Discuss fully.

(7) Explain Realism, Conceptualism and Nominalism as schools of Logic.

2. LOGIC AS FORMAL AND MATERIAL

(8) What do you understand by truth? Distinguish between Formal and Material Truth. Which of them constitutes the proper subject-matter of Logic?

(६) तर्कशास्त्र क्या विचार की 'अन्त सगति' का ही अध्ययन करता है, या विचार से वस्तु के सवाद का भी ?

(१०) रूपविषयक और विषयविषयक तर्कशास्त्र मे क्या अन्तर है ? हमारे प्रतिदिन के जीवन में उनका क्या उपयोग है ?

(११) यह कहने का क्या अर्थ है कि, 'तर्कशास्त्र को केवल विचार के रूपो से मतलव है' ?

३—शास्त्र या विद्या

(१२) तर्कशास्त्र क्या है, शास्त्र या विद्या, या दोनो ? विचार कीजिए।

(१३) शास्त्र और विद्या में क्या अन्तर है ? और, समझाइए कि तर्कशास्त्र को 'शास्त्रो का शास्त्र' क्यो कहते है।

४—तर्कशास्त्र का दूसरे शास्त्रों से सम्बन्ध

(१४) "तर्कशास्त्र सादर्श अथवा विधायक शास्त्र है।" स्पष्ट समझाइए।

(१५) क्षेत्र और विधि में, तर्कशास्त्र मानसशास्त्र से किस प्रकार भिन्न है ? समझाइए।

(१६) तर्कशास्त्र से तत्वशास्त्र का क्या सम्वन्ध है, समझाइए ?

५—विचार

(१७) 'विचार' क्या है; और 'विचार' का भाषा से क्या सम्वन्ध है ?

(१८) 'प्रत्यय' का स्वरूप क्या है ? स्पष्ट समझाइए कि प्रत्यय कैसे वनते है, वे मन में कैसे वने रहते है, और दूसरो पर उन्हे किस प्रकार प्रकट कर सकते है।

(9) Fully discuss the question whether Logic deals only with the consistency of thought or with truth of thought as well.

(10) Distinguish between Formal and Material Logic and indicate their uses in the practical affairs of life.

(11) What do you understand by saying that 'Logic is concerned with the forms of thinking?

3. LOGIC AS SCIENCE AND ART

(12) What is Logic? Is it a science or an art, or both? Discuss.

(13) Distinguish between a Science and an Art, and explain why Logic has been called the Science of Sciences.

4. RELATION OF LOGIC TO OTHER SCIENCES

(14) 'Logic is a normative or regulative science.' Fully explain.

(15) Contrast the Province and Method of Logic with those of Psychology.

(16) Explain the relation of Logic to Metaphysics.

5. THOUGHT

(17) Explain what is meant by thought, and what is the relation of Thought to Language.

(18) Explain the nature of the Logical concepts. Explain how concepts are formed, and by what means they are retained in the mind and communicated to others.

(१९) विचार के रूप और विषय मे क्या अन्तर है ? विचार की रूपविषयक और विषयविषयक प्रामाणिकता मे क्या अन्तर है ? समझाइए ।

(२०) तर्कशास्त्र का व्याकरण से क्या सम्बन्ध है ? समझाइए ।

६—पद-विचार

(२१) 'शब्द' और 'पद' मे क्या अन्तर है ? क्या वे तर्कशास्त्र के अध्येय है ? यदि हाँ तो कैसे ?

(२२) 'पद' और 'नाम' मे क्या सम्बन्ध है ? 'पद' की पहचान क्या है ?

(२३) पद का 'विस्तार' उसकी 'गहनता' से किस प्रकार भिन्न है ? यह कहने का क्या अर्थ है कि जब एक मे वृद्धि होती है तो दूसरे मे ह्रास होता है, और यह कहाँ तक ठीक है ?

(२४) 'व्यक्तिबोध' मे किन व्यक्तियो का, और 'स्वभावबोध' में किन धर्मो का बोध होता है ?

(२५) "'व्यक्तिबोध' की दृष्टि से 'जाति' मे 'उपजातियाँ' अन्तर्गत होती है; किंतु 'स्वभावबोध' की दृष्टि से उलटे 'उपजाति' मे 'जाति' चली आती है।" यह कैसे ?

(२६) निम्न पदो का तर्कशास्त्रीय परिचय दीजिए—महाविद्यालय, काशी-विश्वविद्यालय; ससार का सर्वोच्च शिखर, पूरा अन्धापना; अन्धा आदमी, सद्गुण, राममोहन, विद्यार्थी; निस्तेज ।

(२७) पद के 'सग्राहक' और 'विग्राहक' प्रयोग में क्या अन्तर है ? इस मे कैसे भ्रम उत्पन्न होता है, दो उदाहरण दे कर समझाइए ।

(19) Distinguish between (*a*) the form and matter of thought; and (*b*) between formal and material validity of thought.

(20) Explain the relation of Logic to Grammar.

6. TERMS

(21) Distinguish between Words and Terms. Do they come within the province of Logic? If so, how?

(22) Exhibit the relation between Terms and Names, and sum up the characteristics of a Term.

(23) Explain the distinction between the intension and the extension of Terms. What is the meaning of the statement that as the one increases the other decreases, and what are the limits to the accuracy of the statement.

(24) What individuals are contained in the denotation and what attributes are contained in the connotation of a Term.

(25) "From the denotative point of view the species is contained in the Genus, but from the connotative point of view the genus is contained in the species." Explain.

(26) Describe the Logical character of the following terms—(1) College, (2) Benares Hindu University; (3) the Highest Mountain in the World; (4) Perfect Blindness; (5) Blind Person; (6) Virtue (7) Ram Mohan. (8) Student, (9) Spiritless

(27) Explain and distinguish between collective and distributive uses of Terms. Give two examples to illustrate the errors which arise from their confusion.

(२८) इन प्रश्नो पर विचार कीजिए—

(क) व्यक्तिवाचक सज्ञा क्या स्वभावबोधक पद है ?

(ख) क्या भाववाचक पदो के भी स्वभावबोधक और नि.स्वभावबोधक दो विभाग होगे ? वे व्यक्तिवाचक होते है या जातिवाचक ?

(ग) विशेषण द्रव्यवाचक पद है या भाववाचक ?

(२९) ऐसा कहने मे क्या दोष है कि—यह जरूर कलम है, क्योकि यह पेन्सिल नही है ? तर्कशास्त्र की दृष्टि से इस उदाहरण में क्या अभिव्यक्त होता है ?

७—लक्षण

(३०) 'शास्त्रीय लक्षण' के रूप मे किन बातो का होना आवश्यक है ? उसकी सीमाये क्या है ?

(३१) 'सदोष लक्षण' के कितने प्रकार है ? उदाहरण दे कर समझाइए ।

(३२) 'लक्षण' का लक्षण क्या है ? सविस्तार व्याख्या कीजिए।

(३३) पद के व्यक्तिबोध और स्वभावबोध से उसके 'लक्षण' का क्या सम्बन्ध है ?

(३४) इन लक्षणो की परीक्षा कीजिए—

(क) मनुष्य बिना पाख वाला प्राणी है

(ख) मनुष्य खाना पकाने वाला प्राणी है

(ग) मनुष्य हँसने वाला प्राणी है

(घ) चावल एक चीज है जो भारतवर्ष में खाई जाती है

(ङ) विनोद का ख्याल करे और दिखावे गम्भीरता, यही हास्य है

(च) न्यूनकोण-त्रिभुज वह है जिसका एक कोण न्यून हो

(छ) मनुष्य एक बहुश्रुत प्राणी है

(ज) समकोण-त्रिभुज वह है जिसमे एक कोण सम हो, और दो कोण न्यून हो

(28) Discuss the following:—

(*a*) Are proper names connotative?

(*b*) Are abstract terms divisible into connotative and non-connotative? Are they singular or general?

(*c*) Are adjectives concrete or abstract?

(29) What is the fallacy in the statement—it must be a pen, because it is not a pencil? Fully explain the Logical significance underlying this example.

7. DEFINITION

(30) What are the formal conditions and limits of a Logical Definition?

(31) State and exemplify the various kinds of faulty definitions.

(32) Define 'Definition', and explain the same fully.

(33) What has the definition of a term to do with the connotation and denotation of the same?

(34) Test the following definitions—

1. Man is a featherless animal.
2. Man is a cooking animal.
3. Man is a laughing animal.
4. Rice is an article which is used as food in India.
5. Humour is thinking in jest while feeling in earnest.
6. An acute-angled triangle is that which has an acute angle.
7. Man is a learned animal.
8. A right-angled triangle is that which has a right angle and two acute angles.

(झ) ऑक्सीजन एक गैस है

(ञ) शक्ति वह है जो गति उत्पन्न करे

(ट) समबाहु-त्रिभुज वह त्रिभुज है जिसके तीनो कोण बराबर हो

(ठ) सुख का न होना दुख है

(ड) तावा गुलाबी रग का एक धातु है, जिसमें औरो की अपेक्षा अधिक आवाज होती है, और जो लोहा को छोड सभी से अधिक चीमड़ है

(ढ) प्राणभूत व्यापारो का योग ही जीवन है

(ण) एक अजीब मिजाज का होना ही झक्कीपना है

(त) त्रिभुज एक समक्षेत्र है जो तीन बराबर सीधी रेखाओ से घिरा होता है

८—विभाग

(३५) 'शास्त्रीय विभाजन' के नियमो को लिखिए और उनकी व्याख्या कीजिए। उन नियमो के उल्लघन से जो दोष उत्पन्न होते हैं उन्हे भी समझाइए।

(३६) 'लक्षण' और 'विभाजन' की प्रक्रियाओ में क्या सम्बन्ध है ? शास्त्रीय विभाजन के उपयोग और सीमायें क्या हैं ?

(३७) इन विभाजनो की परीक्षा कीजिए—

(क) 'कलम' के दो विभाग—लोहे की और पाँख की।

(ख) 'प्राणी' के दो विभाग—रीढ वाले और बेरीढ वाले।

(ग) 'भौतिक पदार्थ' के इतने विभाग—घन, तरल, भारी और हलका।

(घ) 'रंग' के इतने विभाग—सफेद, काला और हरा।

(ङ) 'भारतीय' के इतने विभाग—धनी, गरीब, मलेरिया-रोग-ग्रस्त और क्षय-रोग-ग्रस्त।

(च) 'प्रकाश' के इतने विभाग—कृत्रिम, लाल, और चाँदनी।

9. Oxygen is a gas.

10. Force is that which produces motion.

11. An equilateral triangle is a triangle with three equal angles.

12. Pain is the absence of pleasure.

13. Copper is an orange-coloured metal, more sonorous than any other, and the most elastic of any, except iron.

14. Life is the sum of vital functions.

15. Eccentricity is a peculiar idiosyncrasy.

16. A triangle is a plane figure enclosed by three equal straight lines.

8. DIVISION

(35) State and explain the rules of Logical Division, and point out the faults that arise from their violation.

(36) Explain the relation between Definition and Division, and point out the uses and limits of the later?

(37) Test the following divisions :—

(*a*) Pens into Steel pens and Quill pens.
(*b*) Animals into vertibrate and invertibrate.
(*c*) Material bodies into solids, liquids, heavy and light.
(*d*) Colour into whiteness, blackness and greenness
(*e*) Indians into rich, poor, malarious, consumptive.
(*f*) Lights into artificial light, red light and moon light.

(छ) 'मद' के इतने विभाग—व्यक्तिवाचक, भाववाचक, और स्वभाववाचक।

(ज) 'मनुष्य' के इतने विभाग—सभ्य, लम्बे, ईमानदार और पादरी।

(झ) 'मनुष्य' के इतने विभाग—पुरुष, स्त्री और बच्चे।

(ञ) 'कुर्सी' के इतने विभाग—पैर, पीठ और आसन।

(ट) 'मनुष्यता' के इतने विभाग—शरीर, मन और आत्मा।

(ठ) 'व्याकरण' के इतने विभाग—वाक्य विचार और पद विचार।

(ड) 'किताब' के इतने विभाग—सदाचारी, दुराचारी और पटु।

(ढ) 'ट्रेन' के इतने विभाग—लोकल और बिजली से चलने वाली।

(ण) 'ग्रेट ब्रीटेन' के इतने विभाग—इङ्गलैण्ड, स्काटलैण्ड और वेल्स।

(त) 'साँप' के इतने विभाग—जहरीले और अहिंसक।

(थ) 'कालेज' के इतने विभाग—साइन्स, आर्ट और कानून के।

(द) 'किताब' के इतने विभाग—अच्छी, कीमती और बेकार।

(ध) 'मनुष्य' के इतने विभाग—दुष्ट और मूर्ख।

९—वाक्य

(३८) 'अध्यवसाय', 'शास्त्रीय वाक्य' और 'लौकिक वाक्य' में क्या अन्तर है, समझाइए। इनमें तर्कशास्त्र किसका अध्ययन करता है ?

(३९) तर्कशास्त्र में वाक्य का क्या अभिप्राय है ? वाक्य के अङ्ग कौन हैं; और इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

(४०) वाक्य में विधेय कितने प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं, तथा विधेय-पद का उद्देश-पद के साथ कितने प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं ?

(*g*) Terms into Singular, Abstract and connotative.
(*h*) Men into civilised, tall, honest and clergyman.
(*i*) Human beings into men, women and children.
(*j*) Chair into legs, back and seat.
(*k*) Human nature into body, mind and spirit.
(*l*) Grammar into Syntax and Prosody.
(*m*) Books into moral, immoral and clever.
(*n*) Trains into local and electric.
(*o*) Great Britain into England, Scotland and Wales.
(*p*) Snakes into poisonous and harmless.
(*q*) Colleges into Science, Arts and Law Colleges.
(*r*) Books into good, expensive and worthless.
(*s*) Men into knaves and fools.

9. PROPOSITION

(38) Distinguish carefully between a Judgment, a Proposition and a Sentence; and explain what does Logic deal with.

(39) What is meant by a Proposition in Logic? What are its parts, and how are the parts related to each other?

(40) What do you mean Categories and Predicables; how can they be studied in relation to Proposition?

(४१) सविस्तार समझाइए कि 'वाक्य के अभिप्राय' का क्या अर्थ है।

(४२) विधान के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त क्या है ? किस सिद्धान्त को आप ठीक समझते है ?

(४३) अरस्तू ने विधेय के पदार्थों की, तथा उसके सम्बन्धो की जो अलग-अलग सूची बनाई है वे एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न है ? उदाहरण दे कर सम्बन्धो के शास्त्रीय महत्व को समझाइए।

(४४) वाक्य के 'यथार्थ' और 'शाब्दिक' अन्तर के विचार में विधेय पद के सम्बन्धो का विचार किस प्रकार अन्तर्गत होता है ?

(४५) वाक्य कितने प्रकार के है ? उनमे परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

(४६) एक वचनात्मक वाक्य का 'अश' क्या है ? इन शब्दो के प्रयोग मे जो भ्रामकता है उसे साफ समझाइए—'कुछ', 'कोई', 'सभी', 'विरले', 'बहुतेरे', और 'अधिकाश।'

(४७) 'बलाबल' की दृष्टि से हेतुफलाश्रित वाक्य का क्या स्थान है ?

(४८) क्या यह कहना ठीक है कि सभी वाक्य विधानात्मक और निरपेक्ष ही होने चाहिए ?

(४९) वाक्यो मे विधेय पद के 'अश' का निश्चय कहाँ तक हो सकता है ? इसके सिद्धान्त की परीक्षा कीजिए।

(५०) 'वाक्य मे पदो के विस्तार' से क्या समझते है ? सिद्ध कीजिए कि विधेयपद का विस्तार वाक्य के 'गुण' पर निर्भर करता है।

(५१) 'भेद-सूचक वर्ग' बनाइए, और उसे स्पष्ट समझाइए।

(41) Fully explain what do you mean by the Import of Proposition.

(42) What are the theories of Predication? Which theory do you think to be right?

(43) What distinguishes Aristotle's list of Predicables from his list of Categories? Explain, with illustrations, the scientifically important implications of the former.

(44) Have the Predicables anything to do with the distinction between Real and Verbal Proposition?

(45) How many kinds of Propositions are there? What is the mutual relation amongst them?

(46) What is the Quantity of the Singular Propositions? Bring out clearly the ambiguities attaching to the words "Some", "Any", "All", "Few", "Many" and "Most".

(47) What is the modality of a hypothetical proposition?

(48) Is it correct to say that all propositions must be affirmative and categorical?

(49) Discuss briefly the theory of the Quantification of the Predicate.

(50) What is meant by Distribution of Terms in a Proposition? Show that the distribution of the predicate depends upon the quality of the proposition.

(51) Draw the Square of Opposition and explain it.

१०—अनुमान

(५२) अनुमान क्या है ? अनन्तरानुमान और परपरानुमान मे क्या भिन्नता है ? सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

(५३) (क) 'विरुद्ध वाक्यों' के सहारे सिद्ध कीजिए कि दोनो के दोनो 'उपभेदक वाक्य' एक साथ असत्य नही हो सकते।

(ख) 'उपभेदक वाक्यों' के सहारे सिद्ध कीजिए कि दोनो के दोनो 'भेदक वाक्य' मिथ्या हो सकते हैं।

(५४) क्या एक ही वाक्य के आधार पर निष्कर्ष निकालना सम्भव है ? यदि हाँ, तो कितने प्रकार से ? उन विधियो के नाम और सक्षिप्त परिचय लिखिए।

(५५) अनन्तरानुमान के स्वरूप का निरूपण कीजिए। क्या यह सचमुच अनुमान की कोटि में आता है ?

(५६) 'सम व्यत्यय' और 'विषम व्यत्यय' मे क्या अन्तर है ? 'निषेध-मुख से व्यत्यय' क्या है ?

(५७) 'परिवर्तित-व्यत्यय' और 'विपर्यय' मे क्या अन्तर है ? ये परपरानुमान के रूप है, या अनन्तरानुमान के ? क्या सभी वाक्यो के परिवर्तित-व्यत्यय और विपर्यय होगे ? उदारहण दे कर समझाइए।

(५८) 'विपर्यय' क्या है ? इसके कितने रूप है ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए।

(५९) 'ओ' वाक्य का व्यत्यय करना, और 'इ' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यय करना क्यो सम्भव नही है ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए।

(६०) "सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है", इस वाक्य से जितने अनन्तरानुमान के निष्कर्ष निकल सकते है निकालिए।

10. INFERENCE

(52) What is meant by Inference? Explain, illustrate and examine the distinction between Immediate and Mediate Inference.

(53) (*a*) Prove by means of the contradictory propositions that the sub-contrary propositions both cannot be false

(*b*) Show by means of the sub-contrary propositions that the contrary propositions may both be false.

(54) Is it ever possible to derive a conclusion from a single premise? If it is, name and define the different ways of doing it.

(55) Indicate the character of Immediate Inference. Can it properly be regarded as an inference?

(56) Distinguish between Simple Conversion and Conversion by limitation What is conversion by Negation?

(57) Distinguish between Contraposition and Inversion. Are they forms of mediate or immediate inference? Can every proposition be contraposed or inverted? Illustrate your answer by examples

(58) What is Inversion, and what are its different forms? Illustrate with an example.

(59) Explain why the proposition 'O' cannot be converted, and the proposition 'I' cannot be contraposed.

(60) Draw all the conclusions you can by immediate inference from 'All men are mortal'.

(६१) न्यायवाक्य क्या है स्पष्ट समझाइए। न्यायवाक्य की रचना क्या है ? इसके कितने प्रभेद है ?

(६२) अरस्तू के मत से न्यायवाक्य की तर्कप्रणाली का मूलभूत सिद्धान्त क्या है ? समझाइए।

(६३) न्यायवाक्य के कितने अवयव होते है ? उनके क्या नाम है, और क्यो ?

(६४) न्यायवाक्य मे कितने पदो का प्रयोग होता है ? यदि उनकी सख्या मे न्यूनाधिक हो तो क्या हानि ? न्यायवाक्य के अवयवो मे उनके स्थान की क्या व्यवस्था है ?

(६५) न्यायवाक्य मे हेतुपद क्या काम करता है ? यह समझाइए कि हेतुपद को कम से कम एक बार सर्वाशी होना क्यों आवश्यक है।

(६६) "न्यायवाक्य हेतुफलाश्रित-स्वरूप का होता है"—इसका क्या माने साफ-साफ लिखिए। सिद्ध कीजिए कि असत्य वाक्यों के आधार पर भी सत्य निष्कर्ष निकल सकता है। सत्य वाक्यों के आधार पर क्या असत्य निष्कर्ष निकल सकता है ?

(६७) न्यायवाक्य के 'क्रम' का क्या अर्थ है ? 'क्रमों' की सख्या क्या है। उनकी अपनी-अपनी विशेषताये और प्रयोग क्या है ?

(६८) न्यायवाक्य का 'सयोग' क्या है ? सभव 'सयोग' कितने है ? 'सभव' और 'सिद्ध' सयोगो मे क्या अन्तर है ?

(६९) किन-किन विधि से 'सिद्ध सयोग' निश्चय किए जा सकते हैं ? समझाइए।

(७०) क्या दो विशेष वाक्यों के आधार पर निष्कर्ष निकल सकता है ? यदि हाँ, तो कैसे ? सोदाहरण लिखिए।

(७१) न्यायवाक्य मे पदो के विस्तार के सम्बन्ध मे जो साधारण नियम है उनका उल्लेख करके उन्हे सिद्ध कीजिए।

(61) Fully explain what is Syllogism, and how it is constructed. How many kinds of Syllogism are there?

(62) What, according to Aristotle, is the basic principle of Syllogistic reasoning? Fully explain.

(63) How many propositions are there in a Syllogism? What are their names, and why?

(64) How many terms are there in a Syllogism? What is the harm if they are more or less? Is there any definite arrangement of their locations in the Syllogism?

(65) What is the function of the "middle term" in a Syllogism? Explain why the middle term should be distributed at least once.

(66) Clearly explain what do you mean by the 'hypothetical character of syllogism'. Show that false premises of a syllogism may lead to a true conclusion. Can a false conclusion be derived from true premises?

(67) What do you mean by a Figure? How many Figures are there? Indicate the peculiarities and uses of the different Figures.

(68) What is a Mood? How many possible Moods are there? Distinguish between 'possible' and 'valid' moods.

(69) In what different ways can the valid Moods be determined? Explain

(70) Can a conclusion be drawn from two particular propositions? If so, how? Give concrete example to prove your answer.

(71) State and prove the General Rules that relate to the distribution of terms in a Syllogism.

(७२) कुछ तर्कशास्त्रियो ने विचार किया है कि प्रत्येक न्यायवाक्य-'क्रम' अपने-अपने खास लक्ष्य की सिद्धि करते है—यह कहाँ तक ठीक है।

निम्न बातो के लिए कौन 'क्रम' अधिक उपयोगी है—(क) प्रतिवादी के निष्कर्ष का खण्डन करने के लिए, (ख) किसी निषेधात्मक निष्कर्ष की स्थापना के लिए, (ग) सामान्य निष्कर्ष सिद्ध करने के लिए ?

(७३) पहले 'क्रम' मे 'ओ'-'ओ'-'आ', तीसरे 'क्रम' मे 'आ'-'ए'-'ई', और चौथे 'क्रम' मे 'आ'-'ई'-'ई' सयोग क्यो असिद्ध होते है ?

(७४) निम्न अवस्थाओ मे किसी न्यायवाक्य के विषय मे क्या निश्चय किया जा सकता है—(क) यदि एक ही पद एक ही बार सर्वांशी हो, (ख) यदि एक ही पद दो बार सर्वांशी हो, (ग) यदि केवल दो पद, एक-एक बार, सर्वांशी हो ?

(७५) 'शुद्ध-हेतुफलाश्रित न्यायवाक्य' से क्या समझते है ? उसकी शुद्धि-अशुद्धि की परीक्षा कैसे की जाती है ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए, और उसे 'निरपेक्ष' रूप मे ले आवे।

(७६) न्यायवाक्य की परीक्षा करने की कौन-कौन सी विधियाँ हैं ? 'रूपान्तर-करण' की विधि क्या है ? उदाहरण दे कर समझाइए।

(७७) 'ए'-'आ'-'ओ', 'ए'-'आ-'ए', 'ओ'-'आ'-'ओ', और 'आ' 'ए'-'ए'—इन न्यायवाक्यो के वास्तविक उदाहरण उन क्रमो मे दीजिए जिनमे ये सिद्ध होते है, और उन्हे पहले क्रम मे ले आइए।

(७८) न्यायवाक्य के साधारण नियमो से इनकी सिद्धि कीजिए—

(i) यदि 'उद्देशवाक्य' निषेधात्मक हो, तो हेतुपद केवल एक बार सर्वांशी होता है।

(ii) चौथे 'क्रम' मे कोई आधारवाक्य विशेष-निषेधात्मक नही हो सकता है, और न निष्कर्ष सामान्य विधानात्मक हो सकता है।

(72) Explain—'Logicians have thought that each figure was best suited for certain special purposes.' Which figure is most convenient (*a*) for overthrowing an adversary's conclusion; (*b*) for establishing a negative conclusion, (*c*) for proving a universal conclusion ?

(73) Wherefore is OAO invalid in Fig. I, AEI in Fig. III and AII in Fig. IV ?

(74) What can be determined respecting a Syllogism under each of the conditions—

(*a*) When only one term is distributed, and that only once;

(*b*) When only one term is distributed, and that twice;

(*c*) When two terms only are distributed, each only once ?

(75) What is a Pure Hypothetical Syllogism ? How do you test it ? Give concrete examples, and reduce it to the Categorical form.

(76) What are the different methods of testing Syllogisms ? Explain and illustrate the method of testing Syllogism by Reduction

(77) Give concrete examples of EAO, EAE, OAO and AEE in the Figures in which they are valid, and reduce them to the First Figure.

(78) Prove the following by the general syllogistic rules—

(*i*) If the minor premise be negative, the middle term is but once distributed.

(*ii*) In the Fourth Figure neither of the premises can be particular negative, nor the conclusion universal affirmative.

(iii) यदि आधारवाक्य मे 'वि' विधेय हो, तो उद्देशवाक्य विधानात्मक ही होगा। और यदि आधारवाक्य मे 'उ' विधेय हो तो निष्कर्ष सामान्य विधानात्मक नही हो सकता।

(iv) सिद्ध न्यायवाक्य-सयोग मे यदि 'हे' दो बार सर्वांगी हो, तो उसके दोनो आधारवाक्य सामान्य होगे, और निष्कर्ष विशेष होगा।

(v) निषेधात्मक 'सयोग' मे, विधेयवाक्य विशेष-विधि नही हो सकता।

(vi) जिस न्यायवाक्य का उद्देशवाक्य सामान्य-निषेधात्मक है उसका निष्कर्ष भी (यदि 'सयोग' 'मद' न हो) वैसा ही होगा।

(vii) यदि उद्देशवाक्य मे 'उ' विधेय हो, और विधेयवाक्य मे 'वि' उद्देश हो, तो निष्कर्ष सामान्य-विधि नही हो सकता।

(viii) पहले 'क्रम' मे, निष्कर्ष का 'गुण' विधेयवाक्य के अनुकूल होगा, और 'अश' उद्देशवाक्य के।

(ix) यदि एक भी आधारवाक्य विशेष हो, तो 'हे' दो बार सर्वांशी नही हो सकता।

(x) केवल तीसरे क्रम मे ही, 'ओ' विधेयवाक्य हो सकता है, और, केवल दूसरे 'क्रम' मे ही वह उद्देशवाक्य हो सकता है।

(xi) निष्कर्ष से कम से कम एक 'पद' अधिक आधारवाक्यो मे अवश्य सर्वांशी होता है।

(xii) निष्कर्ष मे जितने पद सर्वांशी हो उससे दो से अधिक पद आधारवाक्यो मे सर्वांगी नही हो सकते।

(xiii) आधारवाक्यो मे 'सर्वांशी' पदो की सख्या निष्कर्ष मे वैसे पदो की संख्या से एक से अधिक नही हो सकती।

(*iii*) When the major term is predicate in its premise, the minor premise must be affirmative, also when the minor term is predicate in its premise, the conclusion cannot be universal affirmative.

(*iv*) If the middle term be twice distributed in useful Moods, the syllogism has universal premises and particular conclusion.

(*v*) In a negative Mood, the major premise cannot be particular affirmative.

(*vi*) In a syllogism with the minor premise universal negative, the conclusion (unless weakened) must also be the same.

(*vii*) The conclusion cannot be universal affirmative, when the minor term is predicate in the minor premise and the major term subject in the major.

(*viii*) In the First Figure the conclusion must have the quality of the major and the quantity of the minor premise.

(*ix*) The middle term cannot be distributed twice when a premise is particular

(*x*) An O proposition can be the major premise only in the Third Figure, and the minor premise only in the Second.

(*xi*) There must be at least one more term distributed in the premises than in the conclusion.

(*xii*) The number of distributed terms in the premises cannot exceed those in the conclusion by more than two.

(*xiii*) The number of undistributed terms in the premises cannot exceed those in the conclusion by more than one.

(xiv) यदि उद्देशवाक्य निषेधात्मक हो, तो विधेयवाक्य अवश्यमेव सामान्य होगा, और यदि विधेयवाक्य विशेष हो तो उद्देशवाक्य अवश्यमेव निषेधात्मक होगा।

(७९) हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य के मूल नियम क्या है ? उन्हे प्रमाणित कीजिए। उनके उल्लघन से क्या दोष उत्पन्न होते है ? वे दोष निरपेक्ष-न्यायवाक्य के किन दोषो के समकक्ष है ? उदाहरण दे कर समझाइए।

(८०) 'विधायक' और 'विघातक' हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य क्या है ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए।

(८१) वैकल्पिक-निरपेक्ष न्यायवाक्य के स्वरूप की व्याख्या कीजिए। उसके भिन्न रूपो को दिखाइए, तथा उनके नियमो को सकारण समझाइए।

(८२) 'मेण्डक-प्रयोग' क्या है ? इसके कितने रूप होते है ? उदाहरण दे कर स्पष्ट समझाइए।

(८३) 'मेण्डक-प्रयोग' की शुद्धि के लिए रूप-विषयक और विषय-विषयक किन-किन बातो की पूर्ति होनी चाहिए, उल्लेख कर के समझाइए।

(८४) गलत 'मेण्डक-प्रयोग' को किन विधियो से परास्त कर सकते है ? इसी सिलसिले मे बताइए कि 'प्रत्याख्यानविधि' क्या है। एक वास्तविक उदाहरण ले कर उसका प्रात्याख्यान कीजिए।

(८५) क्या मिश्र-न्यायवाक्य अनन्तरानुमान के रूप कहे जा सकते है ? पूर्ण विवेचन कीजिए।

(८६) 'सक्षिप्त-न्यायवाक्य' क्या है ? 'सक्षिप्त-न्यायवाक्य के रूप' से आप क्या समझते है ? उन रूपो को स्पष्ट दिखाइए।

(८७) 'युक्ति-माला' क्या है ? 'उपकारक' और 'उपकृत' न्यायवाक्य मे क्या अन्तर है ? 'उपकारक-गामी' और 'उपकृत-गामी' युक्ति-मालाओ के अन्तर को समझाइए ?

(*xiv*) A negative minor premise necessitates a universal major, and a particular major premise precludes a negative minor.

(79) Prove the rules of inference applicable to Hypothetical Categorical Syllogisms. What fallacies arise from this violation? To what Categorical fallacies do they correspond? Illustrate your answers.

(80) Explain and illustrate the Modus Ponens and Modus Tollens of Hypothetical Categorical Syllogism.

(81) Explain the nature of Disjuctive Categorical Syllogisms. Exhibit their different forms, giving their rules, and the reason for them.

(82) Explain and illustrate the nature of Dilemmatic argument, what are its various forms?

(83) State and explain the formal and material conditions of a valid Dilemma.

(84) What are the different ways of refuting a faulty Dilemma? Fully explain in this connection what do you mean by 'Rebutting a Dilemma'. Take a concrete example of the Dilemma and rebut it.

(85) Are mixed syllogism forms of Immediate Inference? Discuss.

(86) What is an Enthymeme? What do you mean by the Order of an Enthymeme? What are the different orders?

(87) What is meant by a Train of Syllogistic Reasoning? Distinguish between a Prosyllogism and an Episyllogism, and between a Prosyllogistic Train and an Episyllogistic Train.

(८८) 'अनुलोम-युक्तिमाला' क्या है ? यह कितनी तरह की होती है ? प्रत्येक के वास्तविक उदाहरण दीजिए।

(८९) 'प्रतिलोम-युक्तिमाला' क्या है ? यह कितने प्रकार की होती है ? उदाहरण दे कर समझाइए।

(९०) शास्त्रीय अनुमान में किस बात की पूर्ति होनी चाहिए ? 'न्यायवाक्य' क्या शास्त्रीय अनुमान का रूप है ?

(९१) "न्यायवाक्य के विरुद्ध जो यह आक्षेप लगाया जाता है कि इसमें स्वाश्रय-दोष है, उसका कारण बात को ठीक न समझ सकना है"—विवेचन कीजिए।

(९२) "सभी अनुमान विशेष से विशेष का होता है", इस कथन की परीक्षा कीजिए।

(88) What is a Sorites? Exhibit the different kinds of Sorites, and give a concrete example of each.

(89) What is an Epicheirema? Explain the different forms of Epicheirema, illustrating your answer by examples.

(90) In what does Logical Inference consist? Is the syllogism a form of Logical Inference?

(91) "The charge against the Syllogism that it involves the 'petitio principii' is founded on a misunderstanding" Discuss.

(92) 'All inference is from particulars to particulars.' Test this statement.

अनुक्रमणी

(काले अक्षरों में छपे शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञायें है)

गुरुवर डा० दीनदयालु गुप्त, एम० ए०, डी० लिट०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

को सादर समर्पित

दो शब्द

'हिन्दी साहित्य परिचय' साहित्य विषयक उपलब्ध सामग्री के आधार पर लिखित सक्षिप्त इतिहास एव विवेचन मात्र है। इसके लिखने मे छात्रोपयोगिता पर विशेष ध्यान दिया गया है। सरल-सुबोध ढंग से साहित्य के विभिन्न कालो, उनकी मुख्य प्रवृत्तियो, विशेषताओ, महत्त्वपूर्ण रचनाकारो और उनकी कृतियो का यथासभव आलोचनात्मक परिचय देने की चेष्टा की गई है। सर्वश्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नगेन्द्र प्रभृति सर्वमान्य इतिहासकारो एव साहित्यालोचको के ग्रथो से जो आधारभूत सहायता मिली है उसके लिये लेखक ऋणी है।

पुस्तक की पाडुलिपि तैयार करने में अपने शिष्य प्रो० भोलाराम एम० ए० एवं प्रूफ सशोधन व सपादन मे भाई कृष्णाचार्य से जो सहयोग मिला है उसके लिये लेखक कृतज्ञ रहेगा।

राबर्टसन कालेज
जबलपूर

'अचल'

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य के आरंभिक विद्यार्थियो को सुलभ रूप मे हिन्दी साहित्य का ज्ञान और परिचय देने वाली पुस्तको का हिन्दी मे अभाव नही है। किन्तु ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी जो सरल भाषा मे अनावश्यक विस्तार को छोड़ कर आचार्य पडित रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पुस्तक के ढग पर साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करने वाले विद्यार्थियो की मनस्तुष्टि निर्भ्रान्त और प्रामाणिक रूप से कर सके। हमे यह लिखते हुए प्रसन्नता होती है कि श्री अचल जी ने इस कमी को भली भाँति पूरा किया है। यह पुस्तक प्रथमा परीक्षा के लिये तैयार की गई है और हमें विश्वास है कि इटर मीडियेट परीक्षा के विद्यार्थियो के लिये भी यह उपयोगी सिद्ध होगी। आशा है कि हिन्दी जगत् इस पुस्तक का उचित समादर करेगा।

भवदीय
दयाशकर दुबे
साहित्य मंत्री

विषय सूची

हिन्दी साहित्य परिचय

विषय-प्रवेश

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। इस परिभाषा का इसके अतिरिक्त और क्या आशय हो सकता है कि मानव हृदय की सतामत् वृत्तियो का जो उतार-चढाव समाज-व्यवस्था के माध्यम से अभिव्यक्त होता रहता है उसकी छाप उस काल के रचे हुए साहित्य पर पूर्ण रूप से पड़ती है। साहित्य शब्द को उसके व्यापक अर्थ में लेने का यह स्थल नही है। साहित्य से मेरा तात्पर्य उन लिखित अलिखित पुस्तकों से है जिनकी एक निश्चित शैली और स्वरूप होता है, जिनका विषय मानव-स्वभाव के मूल तत्वो से सबंधित है और जो इस कारण सब समय के पाठको को प्रभावित करती रहती है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते है कि किसी जाति के साहित्य का इतिहास उसकी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास-स्तर तथा विशेष परिस्थितियो की मानव पर प्रतिक्रिया का सांगोपाग विवेचन है। यही कारण है साहित्य का इतिहास लिखते समय लेखक को सदैव तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक पृष्ठभूमि से आरंभ करना पडता है।

हिन्दी भाषा और साहित्य का जो स्वरूप हमारे सामने आज है उसके पीछे विकास की एक लंबी परपरा लगभग एक हजार वर्ष के समय के दोनों छोरो को अपने में समेटे हुए है। विद्वानो ने इस समय को चार कालों में विभक्त किया है जो इस प्रकार है .

(१) वीरगाथा काल या आदि काल —सवत् १०५० से १३७५ विक्रमी
(२) भक्तिकाल या पूर्वमध्य काल — ,, १३७५ ,, १७०० ,,
(३) रीतिकाल या उत्तरमध्य काल — ,, १७०० ,, १९०० ,,
(४) खड़ी बोली का गद्यपद्य काल
या आधुनिक काल — ,, १९०० ,, आज तक

यह काल-विभाग काल विशेष की प्रधान प्रवृत्तियो को ध्यान में रख कर किया गया है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी एक काल मे कोई प्रवृत्ति विशेष अपनी पूर्ण शुद्धता मे नही मिल सकती। दूसरी प्रवृत्तियों का कुछ न कुछ आभास मिलना आवश्यक है। उदाहरण के लिये वीरगाथा काल में शृङ्गार रस की रचनायें होती रही हैं। उसी प्रकार भक्ति काल या रीति काल में भी वीर रस के अनेक काव्य मिल जायंगे, जिनमे वीर राजाओ की प्रशसा वीरगाथा कालीन पद्धति से की गई है। भारत जैसे विराट देश मे प्रवृत्तियो का ऐसा नपा तुला एकीकरण हो सकना सभव भी नही है।

अब विकास की इस लबी परंपरा मे हमें यह देखना चाहिए कि हिन्दी भाषा का प्राथमिक स्वरूप क्या था और वहाँ से उसने कितनी विकास की सीढियाँ चढ़ कर अपना वर्तमान रूप ग्रहण किया।

विशुद्ध अथवा वैदिक सस्कृत तो विशुद्ध आर्यो की भाषा थी। जब वे भारतवर्ष के विभिन्न भागो में आकर बसे तो यह स्वाभाविक था कि जन साधारण के उपयोग की भाषा उनकी सस्कृति से भिन्न होती। सस्कृति की प्राचीन शुद्धता अक्षुण्य न रखी जा सकी और शिक्षित समाज की तत्कालीन प्रचलित भाषा प्राकृत कहलाई। अशिक्षित जन साधारण के उपयोग से यह प्राकृत भी दूषित हुई और जैसा कि पडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" में लिखा है, "प्राकृत

की अंतिम* अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है।" पुराने ग्रंथो से चार प्रकार की प्राकृतो का पता लगता है—प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। अपभ्रंश किसी एक देश की भाषा नही किन्तु मागधी आदि भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओं के बिगड़े हुए रूप वाली मिश्रित भाषा का नाम है। भारत के दूर दूर के विद्वान इसका प्रयोग करते थे। राजपूताना की डिंगल भाषा के गीत इसी भाषा के विकृत रूप में है। उस समय के प्राप्त ग्रथों से जान पडता है कि अपभ्रंश साहित्य बहुत विस्तृत और उन्नत था। इस भाषा के साहित्य में जैनियो ने बहुत परिश्रम किया है। पडितो के मतानुसार अपभ्रंश भाषा ईसवी सन के प्रथम शतक में आभीरी भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। छठी शताब्दी में इस भाषा में साहित्य बन चुका था। नवी शताब्दी में यह जन साधारण की भाषा समझी जाने लगी। ११ वी शताब्दी में अपभ्रंश का व्यवहार लोकभाषा के अर्थ में होने लगा। अपभ्रंश कविता के विषय अधिकतर नीति सबधी और धार्मिक उपदेश, शृगार रस की रचनायें और लोक प्रचलित कथानक थे। इस प्रकार मुसलमानी शासन के बहुत पूर्व से ही लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था।

ब्रजभाषा पिंगल के नाम से चली और इसकी उत्पत्ति भी अपभ्रंश से ही हुई। इसी प्रकार अवधी, बुदेलखडी और मैथिली

---

* इस भाषा का नाम अपभ्रंश इसीलिए पड़ा कि इसमें संस्कृत शब्दों के अपभ्रष्ट (बहुत ही भ्रष्ट) रूप ग्रहण किये गये थे। सस्कृत के पंडितों ने इसे तिरस्कार के भाव से यह नाम दिया था। आगे चलकर यह अपभ्रष्ट रूप ही भाषा का शृगार बन गया। उच्चारण की मृदुता और अर्थ की मार्मिकता इसी रूप-भ्रष्टता के कारण भाषा में आई।

भाषाएँ क्रमशः अवध, बुंदेलखंड और मिथिला (मगध) के प्रांतों में विकसित हुई।

आधुनिक युग के पहले हिन्दी कविता की छः धाराएँ स्पष्ट लक्षित होती है—डिंगल, निर्गुण, कृष्ण भक्ति, राम भक्ति, सूफी मत और रीति-काव्य। ये छहो धाराये अपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास है।

२

अपभ्रंश काल

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है अपभ्रंश या लोकभाषा प्राकृत का ही विकसित रूप है। हिन्दी-साहित्य का आदि काल संवत १०५० से १३७५ तक है। यह महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर-देव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है। इस काल के प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर जो साहित्य रचा गया उसमे कोई विशुद्ध प्रवृत्ति नहीं मिलती। मुसलमान-आक्रमण के आरंभ होने के पश्चात् रचनाओं में कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ लक्षित होने लगी*। राजाश्रित कवि और चारण नीति, श्रृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे और अपने आश्रय देने वाले राजाओं के पराक्रम के वर्णन भी करते थे। यह प्रबन्ध-परंपरा रासो के नाम से पाई जाती है।

इस समय की प्राप्त होने वाली अधिकांश सामग्री संदिग्ध है। यह अपभ्रंश प्राकृताभास हिन्दी है। इसका मतलब यह है कि इस समय के काव्यो में प्रयुक्त होने वाली हिंदी उस समय के बोलचाल की भाषा

---

*इस देश में मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व ही निश्चित रूप से अपभ्रंश को राजकीय सम्मान प्राप्त होना कारण हो गया था। कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता कि कोई कवि लोक भाषा में लिखने के कारण अपने को छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द्र अपभ्रंश का अंतिम कवि अधिक है, हिन्दी का आदि कवि कम।

नही है वरन परंपरा से चली आती हुई काव्य की भाषा है। अपभ्रंश की यह परपरा विक्रम की १७हवी शताब्दी तक चलती रही।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि जब से प्राकृत बोल-चाल की भाषा न रह गई तभी से अपभ्रश साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए। पुरानी काव्य-भाषा में नीति, शृगार और वीर रस की कविताओं के अतिरिक्त जैन और बौद्ध धर्म के पंडितों ने अपने उपदेश और मत प्रतिपादन भी किये है। बोलचाल में प्रयुक्त होने वाला प्राकृत का अपभ्रंश स्वरूप देश भाषा कहलाता था। जब वह साहित्य में प्रयुक्त होने लगा तो अपभ्रश कहलाया।

इस काल में बौद्ध धर्म विकृत हो गया था और वज्रयान संप्रदाय के रूप में अपने तंत्र मत्र द्वारा जनता पर प्रभाव जमा रहा था। इस धर्म के सिद्ध अपभ्रश मिश्रित देश भाषा मे अपना उपदेश सुनाते थे। इन तांत्रिकों ने धर्म के नाम पर बहुत भ्रष्टाचार फैलाया। इनके मतानुसार सिद्धि के लिए मदिरा और स्त्री-सेवन अनिवार्य था। बौद्ध धर्म इस समय शनैः शनैः लोक धर्म की ओर झुक रहा था। गोरख के नाथपंथ की उत्पत्ति भी वज्रयान शाखा से ही है*। इस पथ की साधना हठ-योग से ईश्वर प्राप्त करने का मार्ग बताती थी। इस पंथ में ईश्वर के बाह्य उपादानो की ओर उपेक्षा प्रकट की गई है। अपनी आत्मा के भीतर ही ईश्वर-प्राप्ति पर जोर दिया गया है। ये नाथपथी योगी

---

* सिद्ध पंथ के वामाचारों की प्रतिक्रिया के रूप में नाथ वर्ग उठा था। पर लगता है अपने सुधारों की चेष्टा में यह वर्ग सफल नहीं हुआ। नाथ पंथ १० वीं, ११ वीं शताब्दी से लेकर १४ वीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी के पश्चिमी क्षेत्र में प्रमुख रहा और आज भी सारे भारत के दन्तकथाओं, लोकगीतों, मठों और टीलों के रूप में उनके अवशेष चिन्ह मिलते हैं।

कनफटे कहलाते है। इन्होने एक अलग सधुक्कडी भाषा का उपयोग किया जिसमें राजस्थानी मिश्रित खडी वोली का उपयोग हुआ है। इस पंथ की शिक्षा का प्रभाव मुसलमानो पर भी पडा क्योकि इस पथ की साधना से मूर्त्ति पूजा वहिष्कृत थी। इनके ग्रथ गद्य-पद्य दोनो में पाये गये है तथा साम्प्रदायिक शिक्षा से ओत:प्रोत है। ये ग्रंथ विशुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नही आते क्योकि इनका मानव की मूल प्रवृत्तियो से किंचित भी संवंध नही है। यहाँ इनका जिक्र इसलिए करना पड़ा कि एक तो इनकी भाषा देश भाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्य-भाषा है जो उस समय व्यापक काव्य भाषा थी, दूसरे इन रचनाओ की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति से सस्कार की एक परपरा चल पडी। इस पथ ने वाह्य की उपेक्षा कर अतर पर जोर दिया और इस प्रकार अशिक्षितो में अपना प्रभाव फैलाया। आगे चल कर निर्गुण और सूफीधारा में हम इस प्रवृत्ति का विचित्र मिश्रण पाते है। इस प्रकार इन सिद्धों और योगियो के परिचय से तत्कालीन समाज के मनोविज्ञान को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इन साम्प्रदायिक शिक्षा की पुस्तकों के अतिरिक्त सामान्य साहित्य के जिन लेखको और उनकी रचनाओं का पता लगा है, अव हम उनका सक्षिप्त विवरण देते है जो इस प्रकार है —

हेमचन्द्र—ये १२वी सदी के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिह के यहाँ इनका वडा मान था। इनके प्रसिद्ध ग्रथ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' में सस्कृत प्राकृत और अपभ्रश तीनो का उपयोग हुआ है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'द्वयाश्रय काव्य' है जिसमें "कुमारपाल चरित" प्राकृत काव्य का भी समावेश है।

सोमप्रभ सूर—ये एक प्रसिद्ध जैन पडित थे। इन्होंने "कुमार-पाल प्रतिवोध" नामक एक संस्कृत-प्राकृत-काव्य सवत् १२४१ में लिखा।

जैनाचार्य्य मेरुतुंग—ने सवत् १३६१ मे 'प्रबंध चिंतामणि' नामक एक संस्कृत ग्रथ की रचना की। इसमें पुराने राजाओ के आख्यान संग्रहीत किये गये है। बीच-बीच मे अपभ्रश के पद्य भी उद्धृत है। कुछ दोहे राजा भोज के चाचा मुज के कहे हुए है जो अपभ्रश या पुरानी हिन्दी के पुराने नमूने है।

विद्याधर—ये सभवत. विक्रम की १३वी शताब्दी मे हुए थे और इन्होंने कन्नौज के किसी राठौर सम्राट् के पराक्रम का वर्णन किसी पुस्तक मे किया था। पुस्तक का पता नही मिलता।

शार्ङ्गधर—ये एक अच्छे आयुर्वेद शास्त्री, कवि और सूत्रकार थे। 'शार्ङ्गधर पद्धति' नामक सुभाषित-सग्रह मे इन्होने अपना परिचय भी दिया हैं। ये वीर हम्मीर के प्रसिद्ध सभासद राघवदेव के नाती थे। इनका समय विक्रम की १४वी शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है।

परंपरा के अनुसार शार्ङ्गधर ने "हम्मीर रासो" नामक एक वीरगाथा काव्य की भाषा मे लिखा था। किन्तु वह आज कल नही मिलता। उसके अनुकरण पर वहुत पीछे रचा गया ग्रन्थ हम्मीर रासो मिलता हैं।

यहाँ पर अपभ्रश की रचनाओ की परंपरा खत्म होती है। अपभ्रश कविता के प्राप्त नमूनो की जाँच से यह पता लगता है कि काव्य-भाषा प्राकृत की रूढ़ियो से बँधी चलती रही। ज्यो ज्यो काव्य-भाषा देश भाषा की ओर अधिकाधिक झुकती गई त्यो त्यो तत्सम सस्कृत शब्द भी उसमे वढते गये। शार्ङ्गधर के पद्यो मे इसका प्रमाण मिलता है। इसका एक दूसरा ऐतिहासिक कारण भी प्रतीत होता है। जब यवनों के प्रभुत्व का प्रभाव प्रतिक्रिया के रूप में भाषा पर पड़ा तो भाषा मे नये आवेग की उत्तेजना आई। एक नये सामाजिक दृष्टिकोण का विकास हुआ। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के शब्दो में धर्म, राजनीति, और समाज तीनो के प्रति एक सतर्क जागरण की भावना फैली, उस समय भारतीयों

को अपने पुराने घिसे हुए तद्भव शब्द बड़े ही निर्बल और अर्थवहन शक्ति शून्य प्रतीत हुए। विदेशी शब्दो से प्रभावित नये शब्दो को अंगीकार करने की अपेक्षा लो

औचित्यपूर्ण समझा।

३

वीरगाथा काल

पहले ही कहा जा चुका है कि इस काल के प्राप्त बहुत कुछ ग्रंथ संदिग्ध है और हमें इन्ही पर विचार करके सतोष करना पडेगा।

इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि मान्यता प्राप्त कवियो के अतिरिक्त जन साधारण में से भी कुछ ऐसे लोग होगे जो जन साधारण की भाषा में ही गीत दोहे आदि बनाते रहे होगें। इनमें कुछ सुन्दर कविता भी होगी। राजसभाओ में कहे जाने वाले नीति, शृङ्गार आदि विषयो में प्राय. दोहो का प्रयोग होता था और वीर रस मे छप्पय का। राजाश्रित कवि या तो अपने आश्रयदाता की वीरता का पद्यमय तथा अतिरंजना युक्त बखान करते रहते थे अथवा अपनी वीर दर्पपूर्ण कविताओ से वीरो के हृदय मे युद्ध का उत्साह भरा करते थे। ऐसे कवियो की रचनाएँ या तो राजपुस्तकालय में सुरक्षित रहती थी अथवा ये कवि उन्हे अपने उत्तराधिकारियो को सौंप जाते थे। अतः इन रचनाओ में कुछ हेरफेर होना अनिवार्य था। हमारे साहित्य के आरभ काल मे हमें इसी रक्षित परंपरा की सामग्री मिलती है और इसीलिए 'वीरगाथा-काल' इस युग के लिए उपयुक्त संज्ञा प्रतीत होती है।*

---

* कुछ इतिहासकार वीर-गाथा साहित्य के स्थान पर चारण साहित्य नाम अधिक संगत मानते हैं। कारण, जिस वातावरण में इस साहित्य की रचना हुई वह शृंगार प्रधान था और जिन लोगों के लिये यह साहित्य रचा जा रहा था वे शृंगार प्रिय ऐश्वर्यशाली व्यक्ति थे—लोक नायक नहीं।

यहाँ तत्कालीन ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियो पर थोड़ा सा प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि साहित्य मानव-मन और वाह्य परिस्थितियो की पारस्परिक प्रतिक्रिया मात्र ही तो है। देश के इतिहास में यह वह समय था जब कि मुसलमान-आक्रमण की चट्टान ने भारतीय जीवन और सस्कृति की मुक्त धारा को रोकने का प्रयत्न आरभ कर दिया था। पश्चिमी भारत में स्थित बड़े बडे हिन्दू राज्यों को ही सब से पहले इन हमलो के धक्को को सहना पड़ा। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् (सवत ७०४) भारतवर्ष के बल-वैभव का मार्तण्ड् वह प्रकाश-पुज न रहा। प्रकाश-पुज टूट कर छोटे छोटे राज्यो रूपी क्षीण तारो में परिणत हो गया। इनमे कन्नौज दिल्ली, अन्हलवाड़ा और अजमेर् मुख्य थे और ये ही भारतीय बल-वैभव और सभ्यता के केन्द्र हो गये थे। उधर की भाषा ही आदर्श भाषा मानी जाती थी और कवि-चारण उसी का प्रयोग करते थे। अत प्रारंभिक काल के साहित्य की उत्पत्ति इन्ही राज्यो में हुई और वहाँ की जनता की मनोदशा का प्रतिविव हमें उसमें मिलता है। गुप्त साम्राज्य और हर्ष के पश्चात् भारतवर्ष का साम्राज्य खण्ड खण्ड हो गया और चौहान, चदेल, परिहार, गहरवार आदि पश्चिम में स्थित राजपूत राज्य अपनी प्रभाव-वृद्धि के लिए परस्पर युद्ध-रत हो अपनी राजनीतिक अदूरदर्शिता और सकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय देने लगे। शायद यह उस समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति की आवश्यक देन थी। राष्ट्र निर्माण और केन्द्रीय शासन

१२०० ई० के बाद हिन्दू राजाओं का लगभग मूलोच्छेदन हो जाने के बाद जब कवियों को राजाश्रय का अभाव हो गया तब प्रजाश्रय में धार्मिक और लौकिक साहित्य की विशेष रचना होने लगी। चारण साहित्य चाटुकारिता और परम्परा परिपालन तक सीमित रह जाता है।

व्यवस्था और शक्ति-सचालन के लिये जिस मनोवल और राजनीतिक दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है उसका इन राजाओ मे बिलकुल अभाव था। वह वैयक्तिक वीरता और वंश-कुलीनता का युग था। देश मे एक प्रकार से अव्यवस्थित परिस्थितियो का दौरदौरा था। हमारे हिन्दी-साहित्य का उत्पत्ति-काल युद्ध के सघर्ष का काल था। भारतीय जनता घर की आपस की लडाई और विदेशी मुसलमानो के आक्रमण की चक्की में पिस रही थी। सामतकालीन वैभव और दुर्वलताएँ अपने विनाश के बीज को अपने हृदय मे छिपाये उन्नति के शिखर पर आसीन थी। लडाई के जोश के इस वातावरण मे भारती की वीणा मे सघर्ष का तार ही सब से अधिक झकृत हुआ और दूसरे कोमल तारो की ध्वनि को उसने कुछ समय के लिए डुबो दिया।

महमूद गजनवी (मृत्यु सवत् १०८७) के भारत पर लूट-पाट के हमले और पृथ्वीराज चौहान के साथ उसके युद्धो के वर्णन किसी भी इतिहास की पुस्तक में मिल सकते है। पृथ्वीराज के मरने के पश्चात् भी राजपूताने के स्वतन्त्रता-प्रेमी नरेशो ने मुसलमानो से सघर्ष जारी रखा। इनमें सब से प्रसिद्ध पृथ्वीराज के वशज हम्मीरदेव थे।

यह कवियों के लिए राजा की दानशीलता का अतिरजित वर्णन कर इनाम पाने का समय नही था। शास्त्रार्थो की धूम और विद्वत्ता के चमत्कार के दिन भी ढल गए थे। इस समय तो वही भाट, चारण या कवि राज दरबार मे आदर का पात्र था जो अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा में शत्रु राजा की कन्या-हरण का वर्णन कर सके या जो युद्ध क्षेत्र में जाकर वीरों को जूझने के लिए प्रोत्साहित करे अथवा अपने आश्रयदाता राजा के पराक्रम का आलाप करे।

ऐसी दशा में साहित्य के विभिन्न अगो की पूर्ति करने के लिए रचना करना असभव था। उस समय तो केवल वीरगाथाओ की रचना

ही सभव थी। ये वीरगाथायें दो रूप में मिलती हैं—एक मुक्तक और दूसरे प्रवन्ध के रूप में। योरप में भी उस समय इसी प्रकार का साहित्य-रचा जा रहा था। वहाँ वह एपिक (Epic) कहलाता है। दोनों देशो के तत्कालीन साहित्य एक विशेष सामाजिक और ऐतिहासिक परि-स्थिति की उपज हैं। अत. दोनो में विषय-साम्य होना स्वाभाविक है। इन वीरगाथाओ अथवा एपिक का विषय युद्ध तथा प्रेम रहा है। सयोगता और पृथ्वीराज की प्रेम कथा जन साधारण के ज्ञान का विषय है। इस समय के काव्यो मे प्रधान रस वीर है और श्रृङ्गार केवल गौण रूप मे ही आता है। इनके विषयो में कल्पना का भी काफी समावेश रहता था।

ये.वीरगाथाये प्रवन्ध काव्य और वीर गीतो के रूप मे मिलती है। साहित्यिक प्रवन्ध का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रथ "पृथ्वीराजरासो"* है। वीर गीत (अग्रेजी के वेलड्स Ballads) की सव से पुरानी पुस्तक "वीसलदेवरासो" मिलती है। ये वीर गीत जनता द्वारा बरावर गाये जाते रहे अत. उनकी मूल भाषा में क्रमश. परिवर्तन होता रहा जो स्वाभा-विक था। इसका सव से अच्छा उदाहरण "आल्हा" है।

अव हम वीरकाल के कुछ मुख्य ग्रथो का सक्षिप्त विवरण देते है। ये रासो कहलाते हैं और समवत 'रसायण' शब्द से ही रासो शब्द बना है। रसायण का अर्थ काव्य है।

खुमानरासो—सवत् ८१० और १००० के बीच चित्तौड मे खुमान नाम के तीन राजा हुए। वर्तमान रासो मे सभवत द्वितीय खुमान

---

* रासो शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक मत हैं। कुछ लोग इसकी उत्पत्ति रहस्य से मानते है। जैन साहित्य में रास-छंद का प्रयोग हुआ है और चरित्र ग्रन्थो को रासो कहा गया है। यह भी कल्पना की जा सकती है कि चारण रासा का संबंध जैन रासो से हो। रासा भी चरित्र ग्रन्थ है।

का वर्णन है जो बगदाद के खलीफा अलमानूं की सेना से लड़ा था। वर्त-मान रासो में महाराणा प्रताप तक के युद्धो का वर्णन है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह रासो जिस रूप मे अब मिलता है वह उसे विक्रम की १७वी शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। यह रचना अपूर्ण है और यह नही कहा जा सकता कि उसमें कितना अंश पुराना है।

बीसलदेवरासो—नरपति नाल्ह कवि बीसलदेव का समकालीन और संभवतः दरबार का कवि था। इसका ग्रंथ "बीसलदेवरासो" १०० पृष्ठों का एक छोटा सा ग्रथ है जो वीर गीतो के रूप में है। इसकी रचना विक्रम सवत् १२१२ में हुई। स्वयं ग्रन्थ में निर्माण-काल का उल्लेख इस प्रकार है—

बारह से बहोत्तराँ मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि।
'नाल्ह' रसायण आरंभइ। सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि॥

इसकी कथा संक्षेप मे इस प्रकार है। बीसलदेव का विवाह मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से हुआ। बीसलदेव अपनी पत्नी से रूठ कर एक वर्ष तक उड़ीसा में रहता है। राजमती वियोग में कातर होती है और उसका पति वापस आ जाता है। भोज अपनी पुत्री को घर ले जाता है और बीसलदेव उसे मनाकर चित्तौड लाता है।

यह काव्य वर्णन-प्रधान है। इसकी अधिकाश बातें इतिहास-सम्मत नही है और मनमानी कल्पना का योग पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। अजमेर का चौहान राजा बीसलदेव बडा प्रतापी था और उसने भारतवर्ष के अनेक प्रदेशो से मुसलमानो को निकाल बाहर किया था। पर उक्त रासो में इस राजा की ऐतिहासिक चढाइयों का वर्णन नही है। अतः रासो इस पुस्तक के लिए उपयुक्त शब्द नही जान पडता। पर इस दृष्टि से कि इस पुस्तक की रचना गीतो में हुई है, बहुत कुछ समाधान

हो जाता है। इसे प्रबन्धात्मक गीति काव्य कहा जा सकता है। भाषा असंस्कृत है और रचना में साहित्यक सौन्दर्य कम है। केवल इस ग्रन्थ की प्राचीनता इसे वह महत्व दे देती है जो अन्य दशा में इसे प्राप्त नही हो सकता था। जिस रूप में भी यह आज है वह भाषा विज्ञान के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करता है। इसकी भाषा राजस्थानी है। वस्तु और भाषा दोनो के विचार से यह पुस्तक अपने मूल रूप मे नही कही जा सकती। पंडित गौरीशकर हीराचद ओझा के मतानुसार यह रासो हम्मीर के समय की रचना है। इस पुस्तक की भाषा की जाँच करने पर हम एक दो भाषा सबधी तथ्य निकाल सकते है। हमे राजस्थानी में हिन्दी का मेल मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रादेशिक बोलियो के साथ साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो पिंगल भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश और राजस्थानी का योग डिंगल कहलाता था। दूसरे, इस ग्रंथ में शृंगार और वीर का योग हमें मिलता है। इसमं शृंगार ही प्रधान है। गीति काव्य का रूप होते हुए भी इसमें एक प्रबन्ध चलता है।

चंदबरदाई भाट—(संवत १२२५-४९)—ये हिन्दी के पहले महाकवि माने जाते है और इनका रचित 'पृथ्वीराजरासो' प्रथम महाकाव्य के ऐतिहासिक आसन पर प्रतिष्ठित किया जाता है। ये महाराज पृथ्वीराज के सामन्त और राजकवि थे। इनके नाम मात्र से भावुक हिन्दू के हृदय की तंत्री झकृत हो उठती है। इन्होंने अपने स्वामी तथा प्रिय मित्र पृथ्वीराज का मृत्युपर्यन्त साथ दिया और उन्ही के साथ चिन्ता से मुक्ति दिलाने वाली मृत्यु की प्रशस्त गोद में विश्राम किया। चंद अनक विद्याओं में प्रवीण थे और पृथ्वीराज के अन्तरग सखा थे। कहा जाता है कि इन्हें जालन्धरी देवी का इष्ट था जिससे ये अदृष्ट काव्य भी कर सकते थे।

पृथ्वीराजरासो ढाई हजार पृष्ठो का वृहत् काव्य ग्रंथ है। इसमें ६९ सर्ग हैं। प्राचीन काल के प्राय. सभी छन्दो का उसमे व्यवहार हुआ है जिनमें मुख्य कवित्त, त्रोटक, दूहा, तोमर और आर्या है। ऐसी किंवदन्ती है कि रासो का उत्तर भाग चद के पुत्र जल्हण ने लिखा था। जब पृथ्वीराज कैद हो गये और गजनी ले जाये जाने लगे तब चद—

'पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज'

पृथ्वीराजरासो मे आबू के यज्ञकुड से चार क्षत्रिय कुलो की उत्पत्ति तथा चौहानो का अजमेर में जमने और पृथ्वीराज के कैद होने तक का वर्णन है। सयोगिता स्वयम्वर की घटना के वाद किस प्रकार पृथ्वीराज और जयचन्द मे परस्पर शत्रुता हो गई और किस प्रकार परस्पर के इस युद्ध से भारतीय शक्ति का नाश होता रहा, यह परपरागत कहानियो से प्रत्येक व्यक्ति जानता है। किस प्रकार चंद के संकेत से चक्षु-विहीन चौहान ने शहावुद्दीन को गजनी दरवार में शब्द-भेधी वाण मारा और किस प्रकार चद और चौहान मरे, यह भी परंपरागत कथाओ मे चला आता है। ऐतिहासिक तथ्यो तथा रासो के वृत्तान्त मे सामजस्य न होने के कारण विद्वानो ने इसे १६वी शताब्दी में रचित एक जाली ग्रन्थ ठहराया है। रासो मे चगेज और तैमूर का उल्लेख भी पाया जाता है जिससे यह सदेह पुष्ट होता है। प्रसिद्ध विद्वान् ओझा जी इसे भाटो की कल्पना मात्र मानते है। इसके विपरीत काश्मीरी कवि जयानक के 'पृथ्वीराज-विजय' अधूरे काव्य मे दिये हुए सवत् तथा वृत्तान्त ऐतिहासिक तथ्यो तथा सवतों से पूरा मेल खाते है। इससे यह ग्रंथ प्रामाणिक और समसामयिक रचना सिद्ध होती है।

विद्वानो ने चद और उनके रासो के सम्बन्ध मे जो मत स्थिर किया है वह इस प्रकार है। यह विल्कुल जाली ग्रथ है क्योकि इसमे वर्णित

घटनाओं और संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों और संवतों से बिल्कुल मेल नहीं बैठता। माना कि काव्य-ग्रंथ इतिहास नहीं होता और न उससे इतिहास के कार्य की आशा ही की जाती है। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि बिना प्रयोजन ही काव्य-ग्रन्थ सूक्ष्म घटनाओं का उलटफेर कर ऐतिहासिक सत्य का गला घोट दे। हो सकता है कि चंद के कुछ छंद रासो में इधर उधर फैले हो किन्तु उनका पता लगना प्राय: असभव सा ही है।*

अब रही चंद की बात। जयानक के प्रामाणिक ग्रन्थ पृथ्वीराज-विजय में चंद का कोई सीधा उल्लेख नहीं है। सभव है कि पृथ्वीराज के किसी वंशज के यहाँ कोई इस नाम का कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता के कुछ वर्णन किये हो और उन वर्णनो तथा पीछे की कल्पित सामग्री से 'पृथ्वीराजरासो' बना दिया गया हो।

रासो की भाषा और व्याकरण में भी व्यवस्था का सर्वथा अभाव दिखता है। कहीं आधुनिक भाषा है तो कही सस्कृत-प्राकृत का बाहुल्य है। इस बुद्धि भ्रामक वाग्जाल में असली अंश का पता लगाना असंभव है। रासो की भाषा न मूल अपभ्रंश है न मूल राजस्थानी। अत: यह इतिहास और साहित्य दोनो के काम की नही है।

---

* इतिहास लेखक गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और हीरालाल शास्त्री इसकी घटनाओं को इतिहास की परख से इसे बहुत बाद की रचना सिद्ध करते हैं। श्री विष्णुलाल पंड्या, श्यामसुन्दर दास और हरिप्रसाद शास्त्री पुस्तक को पूर्णतया संदिग्ध नहीं मानते। आचार्य शुक्ल और आचार्य धीरेन्द्र वर्मा इन दोनो मतावलंबियों के बीच का मार्ग ग्रहण करते हैं। जिन आधारों पर रासो को संदिग्ध कहा जाता है वे रासो से अधिक प्रामाणिक हैं।

भट्ट केदार और मधुकर कवि.—भट्ट केदार जयचन्द के दरबारी कवि थे और जो काम चन्द ने पृथ्वीराज के लिए किया वही भट्ट ने जयचन्द के लिए किया। इन्होने 'जयचन्द-प्रकाश' नामक एक महाकाव्य लिखा जिसमें जयचन्द के शौर्य का अतिरजित वर्णन है। इसी प्रकार एक 'जयमयंक जसचंद्रिका' नामक ग्रन्थ भी रचा गया जो आजकल नही मिलता।

जगनिक—(स० १२३०) इनका महोवे के प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल के चरित्र का वीर गीतो के रूप मे वर्णन प्रसिद्ध है। ये कालिंजर के राजा परमाल के भाट थे। इनका काव्य बड़ा ही लोकप्रिय हुआ और समस्त उत्तर भारत मे आज भी जन साधारण द्वारा वर्षा-काल में गाया जाता है। जगनिक का मूल काव्य तो आजकल नही मिलता पर उसके आधार पर रचित गीतो का 'आल्हा' के नाम से आज भी प्रचलन है। बरसात मे किसी गाँव मे चले जाइये तो ढोलो की गभीर ध्वनि के साथ आपको इन पंक्तियो से वीरदर्प साकार हुआ सा मिलेगा—

> बारह बरिस लै कूकर जीएँ, औ तेरह लै जिऐं सियार।
> बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन के धिक्कार॥

या शृङ्गार की मार्मिकता से भरी ये मनभावनी पक्तियाँ —

> कारी बदरिया बहिन हमारी कौंधा बीरन लगँ हमार
> आज बरसजा मोरी कनवज में कन्ता एक रैन रहि जाँय

आल्हा की पक्ति पक्ति मे वीरोल्लास और गर्जना है। यह सच्चे अर्थ मे जनकाव्य और लोक गीत है। प्रबन्धत्व होते हुए भी इसकी ओजमयी गति और गेयता ने इसे कठ कठ के वालो में उतारा। प्रामाणिकता की दृष्टि से इसकी दशा रासो से भी बुरी है।

इस प्रकार साहित्यक रूपके अभाव में भी जनता के कठ में जीवन-दान पाकर संगीत की यह वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि आज तक चली आ रही है। समय इसके कलेवर को क्रमशः वदलता रहा और भाषा में भी रद्दोवदल होता रहा। यह ग्रथ गाने के लिए ही लिखा गया था और जनता ही इसकी सच्ची धात्री रही। पर आज हमारे पास प्रतिध्वनि मात्र वची है, मूल ध्वनि काल के गर्त्त मे विलीन हो गई। बुदेलखंड में आल्हा का वहुत रिवाज है।

आल्हा और ऊदल परमाल के दरबारी थे और वनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। इन गीतो का सग्रह आल्हा खड के नाम से छपा है।

श्रीधर—संवत् १४५४ मे इन्होने 'रणमल्ल छंद' नामक एक काव्य रचा जिसमें राठौर राजा रणमल्ल की पाटन के सूबेदार जफर खाँ पर प्राप्त विजय का वर्णन है।

: ४ :

वीरगाथा की फुटकल रचनाएँ

वीरकाल के खतम होते होते हमें जनता की बोलचाल की असली भाषा के रूप और भावनाओ की अभिव्यक्ति का बहुत कुछ पता चलता है। यह पता हमे खुसरो मियाँ और विद्यापति की कविताओं से लगता है। पहले समय में जन साधारण की भाषा में रचित पद्यो को सँभाल कर रखने की किसी ने चेष्टा नही की। परपरा से चली आती हुई रूढ भाषा ही कविता का उपयुक्त माध्यम समझी जाती रही। जिस प्रकार पश्चिम की बोलचाल और गीत का नमूना हमें खुसरो की पहेलियो में मिलता है उसी प्रकार पूर्व की बोलचाल का अदाज हमें विद्यापति के पदो से होता है। इसके बाद भक्तिधारा के कवियो ने प्रचलित बोलचाल की भाषा और साहित्य के बीच पूरा पूरा सामजस्य पैदा कर दिया।

खुसरो—इनकी रचना का समय सवत् १३४० के आस पास है। ये फारसी के अच्छे लेखक और अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। ये बड़े ही भावुक और मिलनसार थे। जनता के जीवन से एकाकार होने की इच्छा से इन्होने जनता मे प्रचलित दोहे और पहेलियो के ढग पर ही अपनी रचना की जो अभी तक प्रसिद्ध है। इनमें उक्ति-वैचित्र भी पाया जाता है और कुछ रसीले गीतो की रचना भी इन्होंने की है।

इनका समय मुसलमानी शासन का प्रारभ काल था। अतः दिल्ली और मेरठ के पास बोली जाने वाली भाषा मे कुछ परिवर्तन अवश्यभावी था। यही भाषा वर्तमान खडी बोली का आदि स्वरूप है। यह ध्यान में रखने की बात है कि पश्चिमी प्रदेशो की बोलचाल की

भाषा का झुकाव व्रजभाषा की तरफ था। अत. खुसरो की पहेलियो, मुकरियो और दो सखुनो में ठेठ खडी बोलचाल की भाषा मिलती है पर उनके गीतो की भाषा व्रजभाषा ही है।

खुसरो की पहेलियो की भाषा का चिकनापन देख कर कभी कभी आश्चर्य होने लगता है। यह ठीक है कि इस कवि ने प्राकृत की रूढियो से ग्रस्त काव्य भाषा का व्यवहार नही किया। यह भी माना जा सकता है कि पहेलियो की भाषा में आगे चल कर कुछ परिवर्त्तन हो गया होगा और कुछ चीजे दूसरो ने भी जोड दी होगी। किन्तु उस समय भाषा का इतना परिमार्जित स्वरूप होना फिर भी आश्चर्य का विषय है। संभव है कि बोलचाल की भाषा घिस कर इस रूप में आ गई हो। और फिर खुसरो का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक था। खुसरो की कविता के कुछ नमूने ये है—

एक नार ने अचरज किया। साँप मारि पिंजड़े में दिया॥
जों जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए॥

अथवा

मोरा जोवना नवेलरा भयो है गुलाल। कैसे गर दीनी बकस मोरी माल॥
सूनी सेज डरावन लागै, विरह अगि मोहि डस डस जाय।

विद्यापति—इनकी पदावली बड़ी प्रसिद्ध है और उसकी कोमलता व सरसता के कारण ये 'मैथिल-कोकिल' कहलाए। ८०० मैथिल गीतो के अतिरिक्त इनके रचे आठ सस्कृत ग्रन्थ भी है। इन्होने अपने समय की प्रचलित मैथिली भाषा का प्रयोग किया है। बँगला भाषा भाषियों ने विद्यापति को बँगला कवि सिद्ध करने के लिए बहुत सिर पीटा किन्तु यह अब निर्विवाद सिद्ध किया जा चुका है कि मैथिली भाषा मागधी से निकली है और यह हिन्दी भाषा के अन्तर्गत है।

इस कवि ने राधाकृष्ण को नायिका और नायक मान कर शृंगार के पद्य ही अधिकतर लिखे हैं। संभवतः जयदेव इनके आदर्श रहे हो। इनके पदो में अनुपम माधुर्य है। ये शृंगार परंपरा के कवियो में आते हैं। पर ये भक्त कवि है या शृंगारी यह विवाद चला करता है।

इनकी सीधी सादी हृदयहारी शृंगारी कविता में भी आध्यात्मिक अर्थ निकालने के प्रयत्न किये गये है। पर यह तो आजकल का फैशन हो गया है। हमें इन पचडो में पड़ने की आवश्यकता नही। हमारे लिए इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि उनके पद शृंगार रस की बड़ी हृदयहारी अभिव्यक्ति है। उदाहरण लीजिये :—

सखि की पुछसि अनुभव मोय
सोइ पीरिति अनुराग बखानित नित नित नूतन होय
जनम अवधि हम रूप निहारल जनम न तिरपित भेल
से हो मधुर बोल श्रवणहि सुनल श्रुतिपथे परश न गेल
कत मधु-भामिनी रभ से गमाउल न बुझल कैसन केल
लाख लाख युग हिय हिय राखल तइयो हिया जुड़ल न गेल
कत विदग्ध जन रस अनुगमन अनुभव काहु न पेख
विद्यापति कह प्राण जुडाइत लाखे न मिलल एक

भाषा, अलकार, योजना, शब्द चयन और कल्पना की उडान में ये अद्वितीय है। वीरगाथा काल का समय हम्मीर तक ही माना गया है। इसके बाद भारत पर मुसलमान शासन क्रमश. बढ चला। यह एक क्राति और परिवर्तन का समय था। निराला जी के 'तुलसीदास' के पहले पद्य मे इस दशा का बड़ा ही सुन्दर और चित्रोपम वर्णन है।

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य

अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मंडल;
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान
है ऊर्मिल जल; निश्चलत्प्राण पर शतदल।

समय बदला, समय के साथ भारतीय जीवन और चिंता-धारा ने एक नई दिशा पकड़ी। साहित्य में इस सामाजिक विप्लव का प्रतिबिंबित होना अनिवार्य था। हिन्दी साहित्य ने अपने दूसरे युग में प्रवेश किया जो भक्ति काल कहलाया। हमारे अगले अध्याय का विषय यही भक्ति-युग होगा।

पर इससे यह न समझना चाहिये कि इसके बाद वीरकाव्य की रचना हुई ही नही। हिन्दी साहित्य मे यह धारा आज भी बह रही है—भले ही मद गति से हो। हमारे साहित्य की यह विशेषता कुछ मौलिक और कुछ संस्कृतिजन्य मानी जानी चाहिये। कोई भी काव्य-धारा कालान्तर में मद भले पड जाती हो पर उसका स्रोत सूखता नही। वीर-पचरत्न (दीन), हल्दीघाटी और जौहर (श्याम नारायण पाँडेय) आदि कृतियाँ मेरे कथन का प्रमाण है जो वीर काव्य का सजीव चित्र उपस्थित करती है। इसके बाद तो जो परिवर्तन का युग आया और १२०६ ई० से १५५६ ई० तक सुलतान वश का शासन और तदुपरान्त मुगल वंश का शासन; उसने देश की काव्य रचना का स्रोत ही बदल दिया। सुलतानो ने न तो भारतीय सस्कृति के समझने का यत्न किया था और न उसमें हस्तक्षेप किया था। मुगलो ने ईरानी-भारतीय सस्कृति की स्थापना की। ये सस्कृति की देशी और विजातीय शक्तियाँ एक दूसरे पर घात प्रतिघात करके उन्हे प्रभावित कर रही थी। इस सांस्कृतिक क्रान्ति और समन्वय के प्रयत्न का साहित्य मे प्रतिबिम्बित होना अनिवार्य था। भक्ति काल की यही भूमिका उसे उचित कोण से समझने-समझाने में हमें सहायक होगी।

भक्तिकाल सं० १३७५–१७००

(पूर्वमध्य काल)

आरभ में ही हम विद्यार्थियो का ध्यान एक महत्वपूर्ण बात की ओर आर्कषित करना चाहेगे । अभी तक अनेक विद्वानो में यह धारणा फैली हुई है कि भारतीय समाज की जिस मनोदशा ने हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल को जन्म दिया उसके उत्पन्न करने मे इस्लाम के आक्रमण और शासन का प्रधान हाथ रहा है। इस मत के अनुसार भक्तिकाल, भारतीय चिन्ताधारा के स्वाभाविक विकास के अन्तर्गत एक अग नही रह जाता, वरन् विदेशी शासन के भार से व्याकुल और परतत्र भारतीय मन की व्यावहारिक जीवन की यथार्थताओ से पलायनवृत्ति का द्योतक बन जाता है। जैसा कि प्रसिद्ध विद्वान और आलोचक प० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखा है, अगर भारत में इस्लाम नही आया होता तो भी भक्तिकालीन साहित्य का स्वरूप बारह आना वैसा ही होता जैसा कि इस्लाम के भारत मे प्रवेश करने के बाद हम उसे पाते है। निश्चित ही हम इस्लाम-शासन के प्रभाव की ओर से बिलकुल आँख मूँदना नही चाहते, किन्तु हम यह भी चाहते है कि उसको काल्पनिक महत्व नही दिया जाय। भक्तिकालीन साहित्य-धारा का विश्लेषण करने पर हमे जितने भी तत्व दृष्टिगोचर होते है उनके बारे में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनमें से अधिकांश तत्व भारतीय चिन्ताधारा के स्वाभाविक विकसित रूप है। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी जातीय जीवन और संस्कृति का आलब विदेशी तत्व नही हो सकता। यदि हिन्दू जाति और

साहित्य आज जीवित है तो वह अपनी जीवन शक्ति पर ही जीवित है, किसी विदेशी तत्व की दया पर निर्भर नही है। भक्तिकालीन काव्य धारा इस बात का प्रमाण है कि काव्य कला द्वारा, सगीतमयी स्वर-लहरी की उच्छ्‌वासित अनात्म की समर्पण भरी तरगो द्वारा आत्माभि-व्यक्ति भी सार्वजनिक तथा लोकोपयोगी हो सक्ती है। दूसरी ओर तुलसी जसे रामभक्त ने लोककला की परिणति भी आत्म प्रकटीकरण अथवा आत्म प्रकाशन मे की है। स्वान्त सुखाय और बहुजन हिताय के आदर्शों मे कोई मौलिक या अन्तर्गत विरोध नही है। हमारी प्राणवान् सस्कृति के इसी तत्व को भक्तिकालीन कवियो ने पहचाना और उसे युगानुरूप वाणी में प्रकट किया है।

यह सच है कि मुसलमानों की सत्ता स्थापित होने के बाद हिन्दू जनता का हृदय पहले के समान उल्लसित न रह सका। उनके देव मदिर और मूर्तियाँ उन्ही के सामने विदेशियो द्वारा अपमानित की जाती थी और वे असहाय होकर यह दृश्य देखते रहते थे। विदेशी शासन की नीव जमने के बाद छोटे मोटे राजाओं के पारस्परिक युद्धो का भी अंत हो गया। इस राजनीतिक विप्लव के परिणाम स्वरूप जनता के जीवनाकाश में विषाद के काले बादल छा गये। फिर भी इस राज-नीतिक अवस्था और सन्त-साहित्य में कार्य-कारण के सिद्धान्त का लगाना उचित न होगा। सन्त-साहित्य भारत के अतीत की परपरा-गत चिंता-धारा का स्वाभाविक विकास ही है। बाह्य परिस्थितियाँ तो केवल आत्मा के सनातन रहस्य को पहचानने में सहायक हुई थी। बाहरी परिस्थितियों के अनुपात में जन साधारण की भीतरी मनोदशायें और जीवन स्थितियां प्रबुद्ध और विकसित हो रही थी। भक्त कवियो ने यही चेतना जगाने और पनपाने मे योग दिया। उनका काव्य इसी व्यापक और गभीर साम्य और एकता उत्पन्न करने के मार्ग पर आगे

बढा। उनकी रचनाये जीवन की इन्ही स्वस्थ प्रणालियो, क्रिया-कलापों तथा अनुभूतियो का क्रमवद्ध, सुसगठित स्वरूप है।

इधर धार्मिक अवस्था पर दृष्टिपात करने से जान पडता है कि वह भी अस्थिर और असंतोषजनक थी। सच्चे धर्मभाव का ह्रास हो चुका था। कर्म, ज्ञान और भक्ति के योग और सामजस्य में ही धर्म अपने पूर्ण और आदर्श स्वरूप में प्रकट होता है। ज्ञान तो जन साधारण की वस्तु होती नही, ससार का कार्य प्राय. कर्म और भक्ति से ही चलता है। अपने साहित्य के आदिकाल मे कर्म कुछ वाहरी विधि-विधानों मे ही सिकुड़ कर रह गया था। वज्रयानी सिद्धो और नाथ-पंथियों ने कर्म के स्वरूप को ही विगाड दिया था। उनकी साधना में प्रेम तथा उससे सबंधित अन्य सरस भावो के लिए कोई स्थान नही था। भोली जनता सच्चे कर्म और प्रेम के प्रशस्त मार्ग को छोड़कर इन सिद्धो और योगियो के तंत्र-मन्त्रो में जा फँसी। इसी दशा का वर्णन तुलसी-दास ने इस पंक्ति मे किया है—

'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

ऊपर वर्णित दशा सामान्य जनता की थी। अत इस काल मे होने वाले भक्त कवियो ने मानव-हृदय के उन सरस भावो का जागृत करने का प्रयत्न किया जिनसे लोग धर्म के सच्चे स्वरूप को पहचान सके और अपने सूखे हृदय-उद्यान को भगवत्प्रेम के शीतल और जीवनदायी जल से सींच कर फिर से हराभरा वना सके। कुछ ही काल में देखते-देखते भक्ति की एक प्रवल वाढ ने भारत भूमि के समस्त निवासियो के हृदय-मरु को आप्लावित कर दिया। जैसा कि पडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, जो लोग इस युग के वास्तविक विकास को नही सोचते उन्हे आश्चर्य होता है कि ऐसा अचानक कैसे हो गया। स्वयं डाक्टर ग्रिय-

सॅन लिखते है कि "विजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतो के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नही जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नही कर सकता।" पर जैसा कि हम पहले कई बार कह चुके है, भारतीय चिन्ताधारा स्वभावत. ही इस ओर अग्रसर होती गई। राम और कृष्ण के रूप में एक युग की सस्कृति मूर्तिमान हो उठी। इन दोनों व्यक्तियो में युग का वैयक्तिक तथा सामूहिक आदर्श चरितार्थ हो उठा। यह विराट समन्वय की क्रिया थी जिसके मूल मे जातिगत और समाजगत प्रगति की प्रवहमान धारा की प्रेरणा थी। जब जब सक्रान्ति काल का उदय होता है तब तब इस प्रकार के देशव्यापी समन्वय की भावना मानवता की चेतना के गहन प्रच्छन्न स्तरो में जन्म लेती है।

भक्ति का यह स्रोत दक्षिण से क्रमश. उत्तर भारत में आया। सुदूर दक्षिण के आल्वार भक्तों की परपरा मे प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य श्री रामानुज (स० १०७३) उत्पन्न हुए। इन्होने सगुण भक्ति का शास्त्रीय पद्धति से निरूपण किया और धर्म की दृष्टि को, मानव मात्र की समता को उच्च स्वर से घोषित किया। दक्षिण का यह वैष्णव मतवाद ही भक्ति आन्दोलन का मूल प्रेरक है।

गुजरात मे स्वामी मध्वाचार्य (सवत् १२५४-१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया। पूर्व भाग मे जयदेव जी के कृष्ण-प्रेम के सरस गीतों की धूम मची थी। ईसा की १५वी शताब्दी में रामानुज की शिष्य-परपरा में रामानन्द जी हुए, जिन्होनें विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया। यह प्रसिद्ध है कि भक्ति द्रविड देश में उत्पन्न हुई थी। उसे उत्तर भारत मे रामानन्द ले आये, और कबीर ने उसे सप्तद्वीप और नवखण्ड में प्रकट कर दिया। दूसरी ओर

वल्लभाचार्य हुए जिन्होने प्रेम मूर्ति कृष्ण को लेकर भग्नहृदया जनता को प्रेम और आशा का सदेश सुनाया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तो की परपराएँ चली जिनकी रचनाओ ने हिन्दी के सन्तकालीन साहित्य को अमर और अद्वितीय बनाया।

दूसरी ओर मुसलमानो के देश में बस जाने से एक नई परिस्थिति ही पैदा हो गई थी। एक ऐसे सामान्य भक्ति मार्ग की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी जिसमे हिन्दू और मुसलमान समान रूप से भाग ले सके। वैसे नाथ पथी योगी और वज्रयानी सिद्ध पहले ही जाति-पाँति के विरुद्ध अपनी आवाज बुलद कर चुके थे क्योंकि वे स्वयं अधिकतर समाज के निम्न वर्ग के ही लोग थे। अतः एक सामान्य भक्ति-मार्ग कुछ कुछ सिलसिला पहले ही से डाल चुका था। इन जोगियो के पथ मे कुछ मुसलमान भी शामिल हो गये थे। प० रामचन्द्र शुक्ल अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे लिखते है कि "भक्ति आन्दोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिये एक सामान्य भक्ति मार्ग की भी भावना कुछ लोगों मे जगाई। हृदयपक्ष-शून्य सामान्य अत.साधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथ-पथी कर चुके थे। पर रागात्मक तत्व से रहित साधना से ही मनुष्य की आत्मा तृप्त नही हो सकती। भक्त नामदेव (सं० १३२८-१४०८) ने पहले पहल इस सामान्य भक्ति-मार्ग का कुछ कुछ आभास दिया। "उनके पीछे कबीरदास ने उस मार्ग को सुव्यवस्थित कर निर्गुण पथ के नाम से चलाया। नाथ-पथियों की अत. साधना प्रेम तत्व से विहीन थी। कबीर ने इस कमी को महसूस किया और उन्होंने अपने निर्गुण-पथ में भारतीय वेदात के निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियो का प्रेम तत्व लिया। कबीर ने यह काम बिलकुल ठीक मौके पर करके भारतीय जनता के हृदय को

नीरस और शुष्क होने से बचा लिया। उन्होंने मनुष्यत्व की सामान्य भावना पर जोर देकर निम्न वर्ग की जनता में आत्मगौरव जगाया और उसे भक्ति की ओर प्रेरित किया। कबीर के पंथ मे ज्ञान और भक्ति का तो योग हुआ पर कर्म को अपना उचित स्थान न मिला। राम-भक्ति शाखा में ईश्वर के लोक रक्षक स्वरूप की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई। कृष्ण भक्ति ने केवल प्रेम-रूप अर्थात् लोक रजनकारी स्वरूप ही अपनाया।

. यहाँ एक दो बातें ध्यान में रखने की आवश्यकता है। कबीर का ज्ञान पक्ष तो गुहय की भावना से विकृत है किन्तु उनका सूफी प्रेम तत्त्व शुद्ध रहा, उसने विलासिता का रूप ग्रहण नही किया। कृष्णभक्ति की शाखा में प्रेम तत्त्व कही कही विलासिता और कामुकता के रोग से ग्रस्त हो गया है। केवल रामशाखा में ही भक्ति अपने पूर्ण रूप में विकसित हुई। इस शाखा मे कर्म, ज्ञान और भक्ति अर्थात् धर्म का पूर्ण स्वरूप अपनी पूर्णता पर पहुँचा।

इस निर्गुण पंथ की पहली प्रवृत्ति थी मनुष्य मात्र को समान मानना और ईश्वर की भक्ति का सबके लिए समानाधिकार स्वीकार करना। इस प्रवृत्ति की झलक हम सर्व प्रथम महाराष्ट्र भक्त नामदेव (श० स० ११९२-१२७२) और रामानन्द में पाते है।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'निर्गुण पथ' निकालने का श्रेय नाग पंथ के योगी और भक्त नामदेव को ही है। पर उसके निर्दिष्ट प्रवर्तक कबीरदास ही थे। इनके पथ का विश्लेषण करने पर हमें मालूम पड़ेगा कि एक ओर तो रामानन्द के शिष्य होने से कबीर ने भारतीय अद्वैतवाद से कुछ बातें ली और दूसरी ओर योगियो और सूफी फकीरो के संस्कार भी लिए। वैष्णवो से उन्होने अहिंसावाद लिया। अतः तात्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते है और न

एकेश्वरवादी। इनका लक्ष्य था तत्कालीन समाजगत विषमताओ और भेदभावों का परिहार करना। वे शुद्ध सात्त्विक जीवन और ईश्वर प्रेम का परिहार और शुद्ध सात्त्विक जीवन और ईश्वर प्रेम का प्रचार करना चाहते थे। साथ ही अपने क्रान्तिकारी व्यक्तित्व द्वारा उन्होंने भारतीय मानवता के भीतर घर करती हुई पाखड और रूढि पूजा की परपरा पर भी तीव्र प्रहार किये। सच्चे मानवीय मूल्यो की स्थापना उनके काव्य में हुई और मानव के बाहरी एवं भीतरी जीवन मे सतुलन पैदा करने का लक्ष्य भी उन्होंने सामने रक्खा। व्यक्ति और समाज, श्रेय और प्रेय धर्म और जीवन एक दूसरे के पूरक बने। इस दृष्टि से कबीर ने समझौते का नीति दर्शन नहीं वरन विद्रोह का जीवन दर्शन अपनाया।

इस प्रकार पद्रहवी से सत्रहवी शताब्दी तक निर्गुण और सगुण के नाम से भक्ति-काव्य की दो धाराएँ बहती रही। निर्गुणधारा के दो भाग हुए—एक ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी सूफियों की शुद्ध प्रेम मार्गी शाखा।

पहली शाखा भारतीय वेदात और सूफी प्रेम तत्त्व को लेकर उपासना क्षेत्र मे आई। इस शाखा के सन्तो द्वारा रचित ग्रन्थ साहित्यिक नही है, फुटकल पदो या दोहो के रूप मे है जिनकी भाषा भी ऊबड-खाबड है। कबीरादि अपवाद है। यह पथ शिक्षित समाज को प्रभावित न कर सका। हाँ भारत की तत्कालीन अशिक्षित निम्न श्रेणी इन सतो के ऋण से कभी मुक्त नही हो सकती। क्योकि नीच-ऊँच के भावो के भार से जर्जरीभूत समाज में दलित जनता को इन्ही सन्तो की वाणी ने मुक्ति का सदेश सुना कर आचरण और भाव की दृष्टि से ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। शायद इसी बात को ध्यान में रख कर पश्चिमी विद्वानो ने इन सतों को धर्म सुधारक के नाम से गौरवान्वित किया है।

दूसरी शाखा की—प्रेममार्गी सूफी—रचनाएँ उत्तम कोटि के साहित्य

के अन्तर्गत आती है। इन कवियो ने लौकिक कथाओ द्वारा ईश्वर-प्रेम की अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न किया है। इन कथाओ मे ससारी प्रेम की आड मे भगवत्प्रेम के मर्म को समझाया गया है।

जैसा कि शुक्लजी ने अपने इतिहास मे लिखा है इन सूफी कवियो का मार्मिक आधार हिन्दू है। "मनुष्य के साथ पशु-पक्षी और पेड़-पौधो को भी सहानुभूति-सूत्र मे बद्ध दिखा कर एक अखड जीवन समष्टि का आभास देना हिंदू प्रेम कहानियो की विशेषता है।" यही बात हम इन सूफियो की रचना में पातें है।

इन सूफियो ने अपनी रचनाएँ प्राय प्रवन्ध काव्य के रूप में ही की हैं। इनमे जो चौपाई और दोहे का प्रयोग मिलता है वह वहुत पुराने समय से आख्यान-काव्यो में प्रयुक्त होता आता है। इन कथाओ में वुद्धि की उछल-कूद को दूर रख कर हृदय को सीधा स्पर्श करने का प्रयत्न किया गया है। इस कारण हिंदू-मुसलमान सब पर इनका एक सा प्रभाव पडता है। इन कवियो ने अपने ग्रथो में अवधी भाषा का प्रयोग किया है।

भक्ति काल के आरभ में सब से पहले कवीर की रचना ही कुछ अधिक मिलती है अतः निर्गुण संप्रदाय की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिष्ठाता कवीर ही हमारे अगले अध्याय के विषय होगे। कवीर जैसे बहुमुखी प्रतिभा वाले कवि के लिए वैयक्तिक तथा सामाजिक सचरणो के बीच चलने वाले विरोध को मिटा कर मन के अन्तर्नियमों, विचारो तथा आस्थाओ के बीच एक सुखद समत्व का भाव स्थापित करने का कार्य उस समय की विचलित सामाजिकता ने दिया। कहना न होगा कि कवीर ने उसे आजीवन पूर्ण किया। लोक मुक्ति की ओरउन्होंने वरावर आग्रह किया।

निर्गुणधारा

ज्ञानाश्रयी शाखा

इस शाखा की उत्पत्ति और इसके तत्त्वो के विषय में हम पीछे लिख आए है। जैसा कि कहा जा चुका है अनेक देशी विदेशी तत्वो के सम्मिश्रण से इस धारा का प्रादुर्भाव हुआ है। इसके कवियो का सब से बडा उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानो में सामान्य मनुष्यत्व की भावना जागृत कर एकता स्थापित करना था। इसके प्रवर्त्तक और अनुवर्त्तक ज्ञान अनुभव और सत्संग मे ही सीमित होने के कारण इस धारा का कोई स्थिर और निर्दिष्ट रूप प्रतिष्ठापित नही कर पाये। इस शाखा में ईश्वर संबंधी विरोधी धारणाएँ भी मिलती है। पर कबीर निर्गुण सगुण दोनो की एक व्यापक सत्ता में विश्वास करते थे जो निखिल विश्व में व्याप्त है और जो केवल अनुभूति गम्य ही है। इस मत में गुरु को ईश्वर से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। कबीर के सामने गुरु और गोविंद दोनो खड़े है। उनकी समझ मे नही आता कि पहले किसके पाँव पड़ूं। निर्गुण ब्रह्म को बिना प्रतीक के समझाना असभव है। अतः स्त्री आत्मा और पुरुष परमात्मा का प्रतीक माना गया है। इन संतों का विश्वास था कि माया आत्मा को भुलावे में डाल कर कुमार्ग पर ले जाती है अतः माया की निन्दा की गई है। प्रेम मार्ग से परमात्मा के मिलन में जिन कठिनाइयो का वर्णन इन्होने किया उसमें स्पष्ट सूफी प्रभाव लक्षित होता है। हिन्दू मुसलमानो के साथ साथ रहने से जो नये प्रगतिशील प्रभाव उत्पन्न हो गये थे उनकी छाप भी इन संतों के वचनो में मिलती है। साम्प्र-दायिकता और सामाजिक रूढियो पर निर्मम प्रहार किए गए हैं। कबीर ने

बनारस की विद्वन्मंडली से बिना किसी संकोच और भय के यह प्रश्न पूछा कि यदि तुम ब्राह्मण हो—ब्राह्मण से उत्पन्न हो तो दूसरे मार्ग से तुम्हारा जन्म क्यों न हुआ। इस मत में हठयोग पर भी काफी जोर दिया है और यत्र तत्र इड़ा, पिंगला आदि का नाम आता है। इसके अतिरिक्त इन संतों की वाणी रहस्यवादी भावना से रंजित है। जो बुद्धि के तर्क जाल में नही बँध पाता, जिसे चर्म-चक्षुओ से नही देखा जा सकता, जिसकी सत्ता सम्पूर्ण विश्व के कण कण में व्याप्त है और जिसके कारण विश्व में जीवन स्पंदित हो रहा है, उसकी विशुद्ध चित्त से अनुभूति करके उसे सांसारिक रूपकों द्वारा व्यक्त करना अथवा उसके प्रति संकेत करने का प्रयत्न ही रहस्य भावना है। इस मत का अधिक प्रचार नहीं हो सका क्योंकि इसका प्रभाव समाज के दलित अशिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहा। समाज के ऊँचे स्तर का स्पर्शमात्र यह कर पाया। दूसरे इन संतो द्वारा निर्देशित मार्ग जनसाधारण के लिए सहज न था। रामभक्ति और कृष्ण भक्ति की सशक्त वाणी ने जनता का हृदय अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अब हम इस धारा के कुछ मुख्य कवियों का संक्षिप्त परिचय देते हैं।

कबीर.—इनका जन्म विक्रम सवत् १४५६ कहा जाता है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित है। कहते है कि इनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी से हुआ जो लोकनिंदा के भय से इनको लहरतारा के तालाब के पास अकेला छोड़ गई। नीरू नामक एक जुलाहे की नजर इस त्यक्त और निरीह बालकपर पड़ी और दया-वश वह उसे अपने घर ले आया। यही बालक नीरू के घर पल कर बड़ा हुआ और कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बचपन से ही साधु-सत्संग में पड़ने के कारण रामनाम के प्रति इनमें प्रेम उत्पन्न हो गया। उन दिनो रामानन्द रामभक्ति का प्रचार कर रहे थे और उनका प्रभाव देख कर उन्ही से दीक्षित होने की इच्छा कबीर

के मन मे पैदा हुई। एक दिन रात के समय ये उसी घाट की सीढियों पर जाकर लेट रहे जहाँ से रामानन्द प्रतिदिन गगास्नान करने गुजरते थे। अँधेरे मे कबीर को उनके पैर की ठोकर लग गई और वे बोले—राम राम कह। इसी को गुरु मत्र समझ कर कबीर ने अपने को रामानंद का शिष्य कहना आरम्भ कर दिया। स्वय कबीर ने एक स्थान पर लिखा है—

"काशी में हम प्रकट भए, रामानन्द चेताये"

कबीर पथी मुसलमान भी है जिनके अनुसार कबीर के गुरु शेख तकी थे। किन्तु इस मत के समर्थन मे दी जाने वाली युक्तियाँ विशेष सबल नही जान पडती। हाँ यह ठीक बात है कि कबीर ने मुसलमान फकीरो का भी काफी सत्सग किया था।

उन दिनों रामानद भक्ति मार्ग को अधिक प्रशस्त बनाने के लिए जाति-पाँति और खानपान के आचार का भी विरोध कर रहे थे। कबीर ने राम नाम तो निश्चित ही रामानन्द से लिया किन्तु उसका अर्थ भिन्न कर दिया। अत. वे वैष्णव सम्प्रदाय मे नही गिने जा सकते। उन्होंने दूर दूर तक देशाटन भी किया और सूफियो के सम्पर्क मे आए। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर ही रही। कबीर के राम ब्रह्म के सूचक हो गए। इस प्रकार कबीर के पथ मे चार तत्त्वो का मिश्रण हुआ—भारतीय ब्रह्मवाद, सूफियो का भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों का साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णव मत का अहिसावाद। कबीर यद्यपि निर्गुण धारा के प्रवर्तक माने जाते है तथापि उपासना क्षेत्र मे शुद्ध निर्गुण असभव है। कही कही ब्रह्म मे गुणो का आरोप हो ही गया है। कबीर के पथ की अधिकाश बातें हिन्दू शास्त्रो की ही वस्तु है जो उन्होने रामानंद के सत्सग अथवा उपदेश से ग्रहण की। कबीर कुछ पढे लिखे नही थे अत. उनका ज्ञान अनुभव और सत्संग तक ही सीमित था।

उपासना के बाहरी ढकोसलो को व्यर्थ का महत्त्व देने वाले हिन्दू

पडितो और मुसलमान मुल्लाओ की उन्होंने कडी आलोचना की। मुसल-मानो की हिंसा की आलोचना करते हुए वे कहते हैं—

बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात है तिनका कौन हवाल॥

उन्होंने सदैव राम-रहीम की एकता का उपदेश देकर दो विरोधी धर्मों में ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, अपढ होने पर भी उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी और इनकी बाते चुटीली और व्यग्य से भरी रहती थीं। अनेक प्रकार के रूपको और अन्योक्तियो द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कही हैं। मगहर मे अभी भी कबीर की समाधि बनी है, जहाँ जाकर उन्होंने शरीर त्याग किया था। इनका मृत्यु स० १५७५ है।

कबीर की वाणी का संग्रह उनके शिष्य धर्मदास ने सवत् १५२१ में किया था जो 'बीजक' कहलाती है। इसे रमैनी, सबद और साखी इन तीन भागो में विभक्त किया गया है। साखी की भाषा राजस्थानी पजाबी बोली मिली खडी भाषा है जो सधुक्कडी भाषा भी कहलाती है। रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जो ब्रजभाषा मे हैं और उनमे कही कही अवधी के प्रयोग भी मिलते हैं। इनकी भाषा यद्यपि परिष्कृत और परिमार्जित तो नही है किन्तु उक्ति-वैचित्र्य उसमे खूब पाया जाता है।

कबीर हिंदी के एक श्रेष्ठ रहस्यवादी और समाज सुधारक कवि माने जाते हैं। विश्व-कवि टैगोर को अपनी अनेक रचनाओ के लिए इस मस्त फाकड कवि के पदो से प्रेरणा प्राप्त हुई। कई विद्वान 'गीताजलि' को कबीर की रहस्य-अनुभूति का आधुनिक स्वरूप मात्र मानते हैं। कबीर के पद देखिए—

सन्तो राह दोऊ हम दीठा।
हिन्दू तुरक हटा नहिं मानै, स्वाद सबन को मीठा।

हिन्दू बरत एकादसि साधै, दूध सिंघाड़ा सेती।
अन को त्यागैं मन नहिं हटकैं, पारन करैं सगोती।
रोजा तुरुक नमाज गुजारैं बिसमिल बांग पुकारैं।
उनकी भिस्त कहाँ ते होइहै, सांझ मुरगी मारैं।
हिन्दू दया मेहर को तुरकन, दोनों घट सों त्यागी।
वै हलाल वै झटका मारैं आगि दुनो घर लागी।
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
कहैं कबीर सुनो हो सन्तों, राम न कहेउ खोदाई।

अथवा

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ पुलझ मर जाना है।
यह संसार झाड़ औ झाँखर आग लगै बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो सतगुरु नाम ठिकाना है।

रैदास—ये रामानद के बारह शिष्यो में से एक और जाति के चमार थे। संभवतः कबीर के बहुत पीछे ये रामानंद के शिष्य हुए थे। ये भी काशी के रहने वाले कहे जाते हैं। इनकी भक्ति भी निर्गुण साँचे की जान पड़ती है। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नही मिलता; फुटकल पद ही 'बानी' के नाम से संग्रहीत है। इनका एक पद्य उद्धृत किया जाता है.—

माधव क्या कहिए प्रभु ऐसा। जैसा मानिए होइ न तैसा।
नरपति एक सिंहासन सोइया सपने भया भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुखु पाइया, सो गति भई हमारी॥

धर्मदास—ये कबीर के प्रमुख शिष्यों में से थे। जाति के बनिए और बाँधवगढ़ के रहने वाले थे। मथुरा से लौटते समय एक बार इनकी भेंट

कबीर से हो गई। उनका उपदेश सुनकर धर्मदास का झुकाव निर्गुण मत की ओर हुआ। अंत में ये कबीरदास के प्रधान शिष्यो में हो गए और उनकी मृत्यु के बाद गद्दी धर्मदास को ही मिली। कहा जाता है कि कबीर के शिष्य होने के बाद इन्होने अपना सब माल जायदाद पुन्य के कार्यो मे लगा दी। इनके वचनों का भी संतो मे बडा आदर है। उनमे सरल भाव है और कबीर के समान कठोरता और कर्कशता नही है। इन्होने घरबार त्याग कर खूब देशाटन किया और सत्सग से अनुभव और उपदेश एकत्रित किये। इनके ज्ञान का आधार अपने जीवन के अनुभव ही थे।

इन्होने पूरबी भाषा का ही व्यवहार किया है। इनकी अन्योक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक है क्योकि इन्होंने खण्डन-मडन को एक तरफ रख प्रेम-तत्त्व के उपदेश में ही अपनी वाणी का प्रसार किया है। एक उदाहरण दिया जाता है। 'अमर सुख निधान' ग्रन्थ मे इनकी और कबीर साहब की बात-चीत विस्तार से लिखी है।

मोरे पिया मिले सत ज्ञानी।
ऐसन पिय हम कबहुँ न देखा, देखत सुरत लुभानी।
आपन रूप जब चीन्हा बिरहिन, तब पिय के मन मानी।
कर्म जलाय के काजल कीन्हा, पढ़े प्रेम की बानी।
जब हंसा चले मानसरोवर, मुक्ति भरे जहँ पानी।
धर्मदास कबीर पिय पाये मिट गई आवाजानी।

गुरु नानक—इनका जन्म स० १५२६ पूर्णिमा के दिन तिलवडी ग्राम जिला लाहौर में माना जाता है। इनके पिता तिलवडी नगर के सूबा बुलार पठान के कारिंदे थे। ये जाति के खत्री थे। बाल्यावस्था से ही ये सरल प्रकृति के थे। इनका विवाह सं० १५४५ में हुआ। इनके दो पुत्र हुए—श्रीचंद और लक्ष्मीचंद। यही श्रीचद आगे चल कर उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हुए।

धर्म और वैराग्य की प्रवृत्ति आरभ से ही इनमें मौजूद थी। व्यावहारिक जीवन के जाल मे यह वँधे न रह सके। कहा जाता है कि एक बार इनके पिता ने व्यवसाय के लिए धन दिया जो इन्होने दरिद्रो में बाँट दिया। उस समय पजाव मे मुसलमान काफी सख्या में बस गए थे। उनके एकेश्वरवाद का प्रभाव धीरे धीरे जोर पकड़ता जा रहा था। मुसलमानी प्रभाव के कारण शास्त्रो का पठन-पाठन पूर्ववत् न था। इससे धर्म के मर्म को समझाने वालो की कमी थी। बलात् धर्म-परिवर्तन का भी लोगों के मन पर कुछ कम प्रभाव नही पड रहा था। ऐसी दशा में कबीर के निर्गुण-पथ ने ही वहाँ की जनता को मुक्ति का एकमात्र मार्ग दिखाया।

ये कबीर की भाँति ही त्यागी और भक्त थे और पजाव में निर्गुण उपासना का प्रचार करने मे इन्हें बहुत सफलता मिली। देशाटन और सत्सग से इन्होने खूब अनुभव प्राप्त किये। इन्होने सिख-संप्रदाय की स्थापना की और उसके आदि गुरु हुए। कबीर के समान ये भी विशेष शिक्षित नही थे। भक्ति के आवेश में आकर जो गीत ये गाते थे उनका संग्रह ग्रथ साहब में किया गया है। यह सिक्खो का धर्म-ग्रथ है। ये भजन कुछ तो पजाबी भाषा मे हैं और कुछ देश की सामान्य काव्य-भाषा हिंदी में हैं।

इनकी रचनाओ मे एकेश्वरवाद पर अधिक बल दिया गया है। अन्य सन्तों की तरह ये भी मूर्तिवाद का खडन करते थे। इन्होंने आरती को केवल रूपक के ढग पर ग्रहण किया है, व्यवहार मे नही। यह विराट् ब्रह्म और उसके अनेक उपादान ब्रह्म की आरती को सजाते है। इस निराकार अखड आरती का रूप नानक बताते हैं—

> गगन तल थाल रविचन्द्र दीपक बने तारका मंडल जनुक मोती।
> धूप मलआनिलो पवन चवरो करै सकल बनराय फूलंत जोती।
> कैसी आरती होय भव खंडना।

इनके भजनों मे व्रजभाषा और कही कही खड़ी बोली का उपयोग हुआ है जिसमें पंजावी के रूप भी कही कही आ गए हैं। सीधी भाषा में सीधे भावो को व्यक्त करना इनकी कविता की विशेषता हैं। कबीर के समान रूपकों और उलटवाँसियो का प्रयोग नानक ने नही किया। ये बडी ही सरल और अहकार शून्य प्रकृति के थे। इनका एक पद नीचे दिया जाता है—

इस दम दा मैनू कीवे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा, कहीं नाहि दिखाया॥
सोच विचार करे मत मन मैं, जिसने ढूंढ़ा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परसे, निस दिन राम चरन चित लाया॥

अपने सदुपदेश से हिन्दुओ मे सिख समुदाय पैदा कर नानक जी ने हिन्दुओं का भारी उपकार किया।

दादूदयाल—सैद्धांतिक दृष्टि से इनका पंथ कबीर पथ ही है परन्तु इन्होने 'दादू पंथ' के नाम से एक अलग पथ चलाया। इनका जन्म स० १६०१ मे गुजरात में अहमदाबाद शहर मे माना जाता है। कुछ इन्हे ब्राह्मण मानते है, दूसरे इतर जातीय। दादू पंथी लोगो के अनुसार दादू बच्चे के रूप मे साबरमती मे बहते हुए लोदीराम नामक ब्राह्मण को मिले थे। इनके गुरु का पता नही चलता।

इन्होंने भी काफी देशाटन किया और जयपुर के पास नराना में अपने अंतिम दिन विताये। इनकी मृत्यु स० १६६० में हुई। नराना दादू पथियों का प्रधान अड्डा है और वहाँ दादू दयाल के कपड़े और पुस्तकें अभी तक रखी हैं।

दादू ने अधिकतर दोहों में अपनी बानी कही है। कही कही गाने के पद भी है। भाषा राजस्थानी मिश्रित पश्चिमी हिन्दी है। अरबी फारसी के

शब्दों का काफी व्यवहार किया है और प्रेमतत्व की व्यजना वड़ी सुन्दर हुई है। कबीर का उक्ति-चमत्कार तो इनमें नही है किन्तु इनके प्रेम भाव का निरूपण अधिक सरस और गभीर है। गुरु की महिमा, आत्म-ज्ञान और जाति-पाँति का निराकरण ही इनका सदेश है।

दादू की रचनाओ में प्रसाद गुण की अधिकता है और मधुरता भी कबीर से अधिक है। वे सुधारक नही केवल साधक थे। उनके पदो में अभिमान नही झलकता। उनके पदो मे सगुण भक्त कवियो जैसी तन्मयता, सरलता और तीव्रासक्ति मिलती है। उनकी वाणी का स्वर शिष्ट, नम्र और विनयशील है। इनके पदो मे प्रेम, विरह, मिलन का सुन्दर मार्मिक चित्र उपस्थित हुआ है। अपने अनेक पदो मे वे निरजन, निराकार ब्रह्म के लिए वड़ी उत्कट व्याकुलता और आवेग भरा पूजाभाव लेकर तड़प उठे हैं।

एक उदाहरण दिया जाता है—

घीव दूध में रमि रसा व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ै ते और ॥
यह मसीत यह देहरा सतगुरु दिया दिखाइ।
भीतर सेवा बंदगी, बाहिर काहे जाइ ॥
दादू देख दयाल को सकल रहा भरपूर।
रोम रोम में रमि रह्या, तू जनि जाने दूर ॥
केते पारखि पचि मुए कीमति कही न जाइ।
दादू सब हैरान है गूंगे का गुड़ खाइ ॥
जब मन लागै राम सो तब अनत काहू को जाइ।
दादू पाणी लूण ज्यो ऐसे रहै समाइ ॥

सुन्दरदास—ये जाति के वनिए थे और जयपुर राज्य के धौसा

नामक ग्राम में सं० १६५३ में इनका जन्म हुआ था। ६ वर्ष की छोटी सी अवस्था में ही ये दादूदयाल के शिष्य हो गए थे। दादू की मृत्यु तक ये नराना में ही रहे, फिर चौसा लौट आये। इसके बाद काशी जाकर इन्होंने संस्कृत, वेद, पुराणादि का अध्ययन किया। लौट कर राजपूताने के शेखावाटी नामक स्थान में रहे। इनकी मृत्यु स० १७४६ मे सागानेर मे हुई।

ये बाल ब्रह्मचारी और बड़े सुन्दर व्यक्तित्व के थे। सत कवियो में शायद ये ही इतने अधिक शिक्षित थे और काव्य-कला के मर्म को पहचानते थे। इनकी रचना भी सरस साहित्य में आती है। इनकी भाषा परिमार्जित ब्रजभाषा है। ज्ञान, नीति, देशाचारादि पर इनके बडे सुन्दर पद है। अन्य कवियों ने तो केवल गाने के पद और दोहे ही लिखे है, सुन्दरदास ने एक कुशल मँजे हुए कवि की भाँति कवित्त और सवैयो मे भी रचना की है। इनका सब से अधिक प्रसिद्ध ग्रथ 'सुन्दर विलास' है जिसमें सवैये अधिक है। इस रचना में अर्थालंकारो का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग हुआ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सत होने के साथ साथ ये एक कुशल कवि भी थे। भिन्न भिन्न प्रदेशो के आचार पर इनकी बड़ी ही विनोद भरी उक्तियाँ है। इनका काव्य सर्वत्र परिमार्जित, सरस एव भावपूर्ण है। इनकी-सी भाव-विविधता अन्य सन्त कवियो मे कम ही मिलती है। एक उदाहरण देखिए—

देखौ भाइ आज भलौ दिन लागत।
वरिषा रितु को आगम आयौ बैठि मलारहिं रागत।
राम नाम के बादल उनये घोरि घोरि रस पागत।
तन मन माँहि भई शीतलता गये विकार जुदागत।
ज कारन हम फिरत वियोगी निशि दिन उठि उठि जागत।
सुंदरदास दयाल प्रभु सोइ दियौ जोइ माँगत।

शिक्षा से इनकी दृष्टि विस्तृत हो गई थी अत. लोकधर्म की ओर

इनका ध्यान होने का आभास इनकी रचना मे मिलता है। इनकी कविता का एक और उदाहरण दिया जाता है—

> गेह तज्यो अरु नेह तज्यो अति खेह लगाय के देह सँवारी ।
> मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप सहै जो पंचागिनि वारी ॥
> भूख सही रहि रूख तरे, पर "सुन्दरदास" सबै दुख भारी ।
> आस छाँड़ि के कासन ऊपर आसन मारयो, पै आस न मारी ॥

मलूकदास—इनका जन्म सवत् १६३१ कडा, जिला इलाहाबाद में हुआ और मृत्यु स० १७३९ मे हुई। ये जाति के खत्री थे। औरंगजेब के समय में अपने हृदय मे ब्रह्म ढूंढ़ने वाले नामी सन्तो मे इनका नाम आता है। आलसियो का यह मंत्र—

> अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम ।
> दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम ॥

इन्ही का है। इनकी दो प्रसिद्ध पुस्तके 'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध' है। इनकी भाषा में अरबी और फारसी के शब्दो का काफी प्रयोग हुआ है क्योकि ये अपनी कविता हिन्दू और मुसलमान दोनो को सुनाना चाहते थे। सुन्दरदास के समान बहुपठित न होने पर भी इनकी भाषा सुन्दर और सुव्यवस्थित है। आत्मबोध, वैराग्य, प्रेम आदि पर बड़ी ही सरस वाणी में इन्होने कविता की है। इनकी कई करामाते प्रसिद्ध है। कहते है कि एक बार इन्होने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठा कर बचा लिया था। इनका एक पद्य देखिये:—

> अब तो अजपा जपु मन मेरे ।
> सुर नर असुर टहलुआ जाके मुनि गंध्रव है जाके चेरे ।
> दस औतार देखि मत भूलो, ऐसे रूप घनेरे ॥
> अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तै नैननि हेरे ।

इनकी कविता ज्ञान से भरी है। उपदेश चेतावनी आदि निर्गुण संतों जैसे हैं। असल में मलूकदास तक पहुँचते पहुँचते निर्गुणधारा सगुणधारा की ओर झुकने लगी थी। कबीर की उच्च भाव भूमि तक सभी का उठना कठिन था। इस समय राम भक्ति पूर्ण रूप में विकसित हो गई थी। इनकी रामावतार लीला (रामायण) यही सिद्ध करती है। साखी का उदाहरण लीजिये.—

मलुका सोई वीर है जो जाने पर पीर
जो पर पीर न जानई सो काफिर बेपीर

सुथरादास—(स० १६४०) ये मलूकदास के शिष्य थे।

वीरभानु—(स० १६६०) ये ऊधोदास के शिष्य थे।

इनके अतिरिक्त जो सत कवि ज्ञानाश्रयी शाखा में हुए उनके नाम ये हैं—हरिदास (सं० १७००), लालदास (स० १७००), स्वामी प्राणनाथ (सं० १७०० बुंदेलखड के सब से प्रसिद्ध कवि) रज्जब (स० १७१०), दरिया साहब (स० १७३१), अक्षर अनन्य (सं० १७१० ये छत्रसाल के समकालीन ओर उनके गुरु थे), गरीबदास (सं० १७७४), रामचरण (स० १७७५), स्वामी नारायण सिह (१७८१), सहजानंद (१७३७) और गाजीदास (१७७७), ये जाति के चमार थे।

निर्गुण कवियो की सत परपरा में कुछ ही ऐसे सत हुए है जिनकी रचनाएँ विशुद्ध साहित्य की कोटि में आती है। कारण यह है कि सतो मे से अधिकांश अपने मत विशेष के प्रतिपादन मे रचना करते थे। उनका विषय मानव हृदय की सामान्य प्रवृत्तियो का दिग्दर्शक नही रहा जो मानव मात्र की हृदय तन्त्री में झकार उत्पन्न कर सके। अत कबीर ऐसे इने गिने प्रतिभाशाली संतों को छोड कर दूसरे सतों की रचनाओ का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर विशेष रूप से नही पड़ा।

जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है निर्गुण मत कोई एक विशुद्ध तत्त्व नही है, किन्तु अनेक देशी विदेशी तत्त्वों का एक रसायन है। उसमें किसी दार्शनिक व्यवस्था विशेष को दिखाने का प्रयत्न करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता प्रकट करना होगा। केवल सामाजिक आदर्शों की व्यवस्था उसमे स्पष्ट देखी जा सकती है। समदृष्टि, भेदभाव और जातिगत विषमता का नाश और एकता का प्रचार इस साधना के आवश्यक अग थे। पर उनके बोलो मे मानव जीवन और अन्य भावनाओं की व्यंजना कम है। वर्ण विभाजन की कट्टरता के विरुद्ध आन्दोलन उस युग की एक राष्ट्रीय आवश्यकता थी। मुसलमानी सामाजिक संगठन और एकता के सामने छिन्न भिन्न हिन्दू संगठन का टिकना कठिन था। अधिकांश संत कवि नीच वंशो मे उत्पन्न हुए थे इसलिए उनकी वाणियो में भुक्तभोगी की उग्रता और तीव्रता है। इस अकारण नीच बनाने वाली और मानने वाली सामाजिक दृष्टि के प्रति उनमे उच्च वशवालों की सी दार्शनिक तटस्थता नही है। इसलिए सच्चे मानवीय धर्म का समाज दर्शन हमे इन कवियों की वाणियो मे मिलता है, भले ही शास्त्रीय दर्शन उतने सुसवद्ध रूप मे न हो।

प्रेम मार्गी (सूफी) धारा

भक्तिकाल की भूमिका में हम लिख चुके है निर्गुणोपासक भक्तो की दूसरी शाखा उन प्रेममार्गी सूफी कवियो की है जिन्होने अपनी प्रेम गाथाओं में लौकिक प्रेम प्रबंधो के द्वारा उस प्रेम तत्त्व के रहस्य को समझाने का प्रयत्न किया जो आत्मा और परमात्मा का मिलन कराता है। ये प्रेमी संत जाति पाँति और सप्रदाय की दूषित प्रवृत्ति से ग्रस्त समाज को अपने अलौकिक प्रेम की अनुभूति से रूपको द्वारा व्यक्त करके शाति, प्रेम और ऐक्य का संदेश दे रहे थे। ऐतिहासिक दृष्टि से सूफी मार्ग का प्रारम वीरगाथा काल ही हो गया था। मुल्ला दाऊद लिखित नूरक और चदा की प्रेम कहानी को प्रेम मार्गी धारा की पहली रचना समझना चाहिए।

इस धारा का आधारभूत तत्त्व अलौकिक प्रेम का सदेश रहा है। आत्मा रूपी पुरुष ईश्वर रूपी स्त्री से मिलने का प्रयत्न करता है और प्रिय के वियोग में कातर रहता है। भारतीय सिद्धात ईश्वर को पुरुष और आत्मा को स्त्री मानता है। पहले ही लिखा जा चुका है कि इन प्रेम कथाओ का मर्म हिन्दू है। मुसलमान सूफी कवियों ने हिन्दू देवी देवताओं का नाम भी बड़े आदर से लिया है।

सूफी कवियो की रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अमर निधि है। ये ससार के उत्तम साहित्य के समक्ष रखी जा सकती है। कोई भी साहित्य इन्हें पाकर अपने को धन्य समझेगा। इन कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रबन्ध काव्य के रूप में ही की हैं। सभी ने अवधी भाषा और दोहे चौपाइयों का प्रयोग किया है। यही परंपरा गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में अपने पूर्ण विकसित रूप में दिखाई पड़ती है। गाँवो में इन प्रेम-काव्यों का अच्छा

प्रचार हुआ। ये प्रेम कथाएँ शृगार रस प्रधान है। वियोग शृगार के बड़े ही मार्मिक चित्र मिलते है। जो कथाये इन साघको ने काव्यवद्ध की वे मौलिक रूप से भारतीय थी और जनसाधारण में लोक कथाओ के रूप में चली आ रही थी। इन जनकथाओ के प्रभाव को समझ कर ही इन कवियो ने उन्हें अपने भावो के प्रचार का साधन बनाया। इन सूफियों के काव्य को हम हिन्दी का पहला रोमांस काव्य कह सकते है। मौलाना सुलेमान नदवी के अनुसार मुसलमान सूफियो पर भारत मे आने के बाद हिन्दू वेदान्तियो का प्रभाव पडा। पर उन्होने प्रेम के जिस ऐकान्तिक रूप का चित्रण किया है वह भारतीय साहित्य मे नई चीज है। प्रेम की पीर लोकाचार को दबा देती है। भारतीय काव्य साधना में प्रेम की ऐसी उत्कट तन्मयता अन्यत्र कठिन है। अब हम इस धारा के मुख्य मुख्य कवियों का सक्षिप्त विवरण देते है।

कुतबन—इनका समय सं० १५५० था। ये शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रय मे रहते थे। इन्होने 'मृगावती' नामक एक प्रेम-कथा दोहा और चोपाई मे स० १५५८ में लिखी। इस कथा के द्वारा कवि ने प्रेम मार्ग के त्याग और कप्ट का वर्णन करके साधक को अलौकिक प्रेम की झाँकी दिखाई है।

सक्षेप मे कथा इस प्रकार है। चद्रागिरि के राजा का पुत्र कंचन नगर की राजकुमारी मृगावती पर आसक्त हो गया। बडे कप्ट से राजकुमार ने उसे प्राप्त किया किंतु मृगावती राजकुमार को धोखा देकर छोड गई। राजकुमार योगी बन कर उसकी खोज मे निकला। एक स्थान पर रुक्मिनी नामक एक सुन्दरी को एक राक्षस से बचाने पर सुदरी के पिता ने उसे विवाह में दे दिया। अब राजकुमार उस नगर मे पहुँचा जहाँ मृगावती राज्य कर रही थी। अंत में राजकुमार को मृगावती भी प्राप्त हो जाती है। बहुत दिनो बाद हाथी से गिर कर राजकुमार की मृत्यु हो जाती है।

प्रिय के वियोग में दोनों रानियाँ सती हो जाती है। इन पक्तियो में सती होने का वर्णन देखिये :—

'रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥

मंझन—इनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नही है। इनके द्वारा रचित 'मधुमालती' की एक अपूर्ण प्रति मिली है। मृगावती के समान यह भी एक प्रेम कथा है जिसमे कनेसर के राजा के राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती की प्रेम-कथा बडे ही मर्मस्पर्शी ढग से वर्णित है। ग्रथ प्रबन्ध-काव्य है और दोहे चौपाइयो मे लिखा गया है।* इसके लेखक की कल्पना मृगावती के लेखक की अपेक्षा अधिक विशद है और काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से उपर्युक्त काव्य से अधिक ऊँची कोटि का ठहरता है। इसमें तिलस्म और जादू के दृश्यो का भी वर्णन है जिनसे जन साधारण काफी प्रभावित हुआ होगा।

कथानक मे उपनायक और उपनायिका की योजना की गई है जिससे कथा में विस्तार हो गया है। ताराचद और प्रेमा नायक-नायिका एक

---

* बहुत से विद्यार्थियों में भ्रम है कि इन सूफी प्रबंध काव्यों में दोहे चौपाई लिखने क' जो प्रथा है वह सूफी कवियो का अपना आविष्कार है। यह बात अम.य है। सहजयान के सिद्धो में से सरहपाद और कृष्णाचार्य के ग्रन्थों में दो-दो चार-चार अर्धाळियों (चौपाइयो) के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है। अपभ्रंश काव्यो में दस-बारह अर्धालियो के बाद घत्ता, उल्लाला आदि लिखकर प्रबन्ध लिखने का नियम पुराना है।

दूसरे से मिलने मे सहायता देते है और अपनी सहानुभूति, संयम और निस्वार्थ भाव का परिचय देते है जिनका कवि ने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। सूफी कवियों की सब से बड़ी सपत्ति उनकी विरह-भावना है। जिसके हृदय में विरह है उसके लिए यह संसार एक साफ दर्पण के समान है। इस दर्पण मे परमात्मा के अनेक रूप प्रतिफलित होते हैं। नीचे उद्धृत पंक्तियाँ देखिये:—

नैन विरह-अंजन जिन सारा। बिरह रूप दरपन संसारा ॥
कोटि माहि बिरला जग कोई। जाहि सरीरी बिरह-दुख होई ॥
रतन कि सागर सागरहि ? गजमोती गज कोइ।
चंदन कि बन बन उपजै, बिरह की तन तन होइ ॥

प्रस्तुत कथा के साथ साथ प्रस्तुत परोक्ष सत्ता की ओर भी संकेत किया गया है।

मलिक मोहम्मद जायसी—हिन्दी-साहित्य की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रेम मार्गी कवियो मे मलिक मोहम्मद जायसी का स्थान सब से ऊँचा है। ये अपने समय के प्रसिद्ध सूफी फकीर थे। ये शेख मोहिदी के शिष्य थे और जायस मे रहते थे। अमेठी के राजा के यहाँ इनकी बहुत इज्जत थी और वहाँ के किले मे उनकी समाधि अभी तक बनी है। इनका सब से प्रसिद्ध ग्रंथ 'पद्मावत' है जिसके कुछ अश सन् १५२० में लिखे गये थे।

ये काने और देखने में अत्यन्त कुरूप थे। प्रसिद्ध है कि जब शेरशाह इनकी कुरूपता पर हँसा तो इन्होंने यह कह कर उसे लज्जित किया कि 'मोहिका हँसेसि कि कोहरहि ?' इनकी अन्य दो प्रसिद्ध पुस्तकें 'अखरावट' और 'आखरी कलाम' है। 'अखरावट' में सिद्धात-सबधी चौपाइयाँ है। 'आखरी कलाम' में प्रलय का वर्णन है। किन्तु हिन्दी-साहित्य में जायसी की अमर कीर्ति का कारण उनका 'पद्मावत' है। उसको पढ़ने से मालूम होता है

कि जायसी का कोमल हृदय 'प्रेम की पीर' से भरा है। इस पीर की व्यापक सत्ता है और सम्पूर्ण विश्व उसी पीर से बिधा पड़ा है और इस पीर को धारण करता है केवल विरहिणी का हृदय —

मुहमद चिनगि परेम की सुनि थल गगन डराय।
धनि सो विरहिन धनि हिया जहँ यह आगि समाय॥

जायसी की साधना लोक और परलोक का समन्वय चाहती है। उनके विरह वर्णन मे सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह सामान्य मानव भूमि से उठता है और विश्व मे अपना रूप दिखाता जाता है।

इस काव्य के कथानक का आधार है तो ऐतिहासिक है किन्तु इसमे कवि की कल्पना भी मुक्त पंख से उड़ी है। जनसाधारण मे प्रचलित कथा ही इसका आधार है। काव्य का प्रथम अश कल्पित और अतिम अंश ऐतिहासिक है।

हिन्दू और मुसलमानो को जितना अधिक निकट ये प्रेम गाथाकार सहृदय और प्रेमी सूफी कवि ला सके उतना कबीर नही। कारण यह है कि कबीर की स्पष्ट और कटु आलोचना ने लोगों को अपनी भूल स्वीकार करने की अपेक्षा चिढाया अधिक। इन कवियो ने सामान्य मनुष्यत्व को जागृत करने के लिए दूसरा मार्ग अपनाया। इन्होने अपनी कथाओ मे जीवन की उन सामान्य परिस्थितियो का चित्र खीचा जो मनुष्यमात्र के हृदय को स्पर्श करती है और मनुष्य मनुष्य मे हृदय साम्य स्थापित करती है। हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्ही प्रेम-मूर्त्ति संतो का नाम लेना पडता ह। "कबीर ने केवल परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की

एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। वह जायसी द्वारा पूरी हुई।"

'पद्मावत' में प्रेमगाथा की परंपरा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त होती है। कथा में इतिहास और कल्पना का योग है। प्रत्येक हिंदू चित्तौर की महारानी पद्मिनी की मर्म स्पर्शिणी कथा जानता है।

अन्य काव्यो से इस काव्य में एक विशेषता है। इसके वर्णनो में साधना के मार्ग की कठिनाइयों की ओर संकेत किया गया है। पद्मावत की रचना फारसी की मसनवी शैली पर हुई है। अलकारो का सुन्दर प्रयोग है और ग्रन्थ की रचना दोहे चौपाइयों में हुई है। इसकी भाषा अवधी है; पूरी कथा एक रूपक मात्र है जिसमें कवि ने प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों और सिद्धि के स्वरूप का वर्णन किया है। ग्रंथ की समाप्ति पर कवि लिखता है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा । हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा । बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ?

जायसी को जहाँ कही जिस किसी का वियोग मिलता है वे उस पारस रूप की छटा का वर्णन करते है जिसकी झलक से अलाउद्दीन अंधा हो गया—जिसे पाने के वह भाँति भाँति के उपाय रचता रहा। इस प्रकार वे अपने कथानक मे यत्र तत्र अपनी रहस्य भावना का बोध भी करा देते हैं। जायसी विरह-विदग्ध है। उनको चारो ओर वही वह दिखाई देता है जिसको पाने के हेतु उनका जी तड़पता है और जिसकी प्राप्ति के निमित्त ही यह शरीर रूपी परिधान मिला है। जायसी का प्रियतम कोई पात्र नही प्रेमी का प्रिय है फिर चाहे वह जिस किसी का जो कोई हो। जायसी उसमें अपना प्रियतम ढूंढ निकालते है। रूप वर्णना और चित्र बनानें की शक्ति भी जायसी मे अपूर्व है। अतिशयोक्तियो में विचित्र रस है।

पद्मिनी का सौन्दर्य वर्णन पाठक को लोकोत्तर भावना में मग्न करने वाला है—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंप छोरि केस मुकलाई॥
ससिमुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँ पासा॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा।
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा॥

जायसी के महत्त्व और काव्य कला की ओर आचार्य शुक्ल जी ने सब से पहले ध्यान दिलाया। मिश्रबन्धुओ ने तो उन्हें नवरत्नो में भी नही गिना था। रामायण के बाद पद्मावत हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें स्तुति, नख-शिख, षट्ऋतु, बारहमासा, ज्योतिष, राग-रागिनी, प्रेम, युद्ध, दुःख, सुख, राजनीति, प्रेमालाप, साधना के मार्ग और सिद्ध के स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया गया है। अलकारो में उत्प्रेक्षा ही प्रधान है। रसो का निर्वाह सुन्दर है।

उसमान—ये जहाँगीर के समकालीन और गाजीपुर निवासी शेख हुसैन के लड़के थे। हाजीबाबा इनके गुरु थे। सन् १६२३ में इन्होंने 'चित्रावली' नाम की एक पुस्तक लिखी। इस प्रेम काव्य के लिखने में जायसी इनके आदर्श रहे। कही कही तो शब्द और वाक्य-विन्यास तक वही है। किन्तु कथा कवि की बिलकुल अपनी चीज है। इसमें नैपाल के राजकुमार सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रा-वली की प्रेमकथा का वर्णन है। जायसी ने सात चौपाई और एक दोहे का क्रम रखा था। चित्रावली में उसी का अनुकरण किया गया है।

विरह वर्णन के अन्तर्गत षट्ऋतु का सरस और हृदयग्राही वर्णन देखिये—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला। जहँ तहँ भौंर कुसुम-रंग भूला।
आहि कहाँ सो, भँवर हमारा। जहिं बिनु बसत बसंत उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई॥
रतिपति दुरद ऋतुपती बलो। कानन-देह आइ दलमली॥

सरोवर क्रीड़ा के वर्णन में एक नये ढंग से ईश्वर की प्राप्ति की साधना की ओर संकेत किया है।

नूर मुहम्मद—ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समय में थे। जौनपुर जिले मे आजमगढ़ की सरहद पर सबरहद नामक स्थान के रहने वाले थे। संवत् १८०१ में इन्होंने इन्द्रावती नामक एक प्रेम आख्यान काव्य लिखा। इसमे कालिंजर के राजकुमार राजकुँअर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम कहानी है। कवि ने जायसी के पहले के कवियों के अनुसार पाँच पाँच चौपाइयों के उपरान्त दोहे का क्रम रक्खा है। इस ग्रन्थ को सूफी पद्धति का अंतिम ग्रन्थ समझना चाहिये। अनुराग बाँसुरी नामक इनका एक ग्रन्थ और फारसी अक्षरों में मिला है जो सूफी रचनाओ से अधिक संस्कृत गर्भित है। इसका रचनाकाल संवत् १८२१ है। इसका विषय तत्वज्ञान संबंधी है। शरीर, जीवात्मा, मनोवृत्तियों आदि को लेकर पूरा अध्यवसित रूपक खड़ा करके कहानी बाँधी गई है।

शेख नबी—ये सं० १६७६ में जहाँगीर के समकालीन और जौनपुर जिले के मऊ नामक स्थान में रहते थे। इन्होंने 'ज्ञान-दीप' नामक आख्यान काव्य लिखा।

शेख नबी के बाद ही आख्यान काव्य के युग की समाप्ति समझना चाहिए। बीच बीच में इस परंपरा के काव्य लिखे जाते रहे किन्तु इन ग्रंथो की बहुलता का युग यही समाप्त हो गया। समय समय पर

कालांतर में प्रेम गाथा की परंपरा में लिखने वालो के नाम नीचे दिये जाते हैं।

कासिमशाह (सं० १७८८, हंस जवाहिर के रचयिता), फाजिल-शाल (प्रेम रतन के लेखक), हरराज (ढोला मारू चौपदी के लेखक). प्रेमचन्द (चद्रकला के लेखक), और मृगेन्द्र (प्रेम पयोनिधि लिखा)।

इन प्रेमगाथाकारों में अधिकांश मुसलमान ही हुए जो हिन्दू-मुसलिम ऐक्य के लिए साहित्य की इस धारा के सजीव प्रतीक है। मुसलमान होने के कारण इन कवियों ने पौराणिक प्रसगो के वर्णन में कही कही भूले भी की हैं। जैसे एक कवि ने इन्द्र को कैलाशवासी लिख दिया है। किन्तु यह स्वाभाविक था। इस मत मे लौकिक उपादानो द्वारा ईश्वर प्रेम की प्याली पी गई है। 'शेख तुझे जन्नत मुझे दीदार।'

इस कविता का अधिक प्रचार नही हो पाया। इसके कई कारण थे। जिस भाषा में ये प्रेमगाथायें लिखी गई है, वह उस समय अपनी परिपक्व अवस्था में नही पहुँची थी। सन्त मत की भाँति इस मत का भी कोई निर्दिष्ट दर्शन विशेष नहीं हैं। एक कारण यह भी है कि ये रचनाएँ फारसी लिपि में मिलती है इससे तत्कालीन जन साधारण स्वयं नही पढ सका होगा। पर इनके कम प्रचार होने का सब से प्रधान कारण था राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की प्रबल बाढ जिसने समस्त जन-मन को देखते देखते आप्लावित कर दिया। वैष्णव भक्तों ने जनता के हृदय पर इतना अधिकार कर लिया था कि उस पर दूसरा रंग चढ़ना कठिन था। संस्कृत के प्रेम काव्यों मे शुद्ध प्रेम का ही वर्णन है। इस-लिये वे शुद्ध साहित्य ग्रन्थ है। पर प्रेम मार्गी सन्तो के काव्य में रहस्य-वाद और साम्प्रदायिक पृथकता साफ दिखाई देती है। फारसी की मसनवी शैली पर ये काव्य लिखे गये है। इन काव्यो का ढाँचा भी प्रबन्ध काव्य की पद्धति पर नहीं है। इसी से ये कथायें सर्ग बद्ध नहीं हैं।

इनका वर्णन मसनवी पद्धति पर बीच बीच में प्रसंग के शीर्षक पर रख कर किया गया है। मसनवी की शैली पर ईश्वर वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, शाही वक्त की प्रशसा, गुरु परम्परा, अपने मित्रो आदि का वर्णन आरम्भ मे किया गया है । बाद में कथारंभ है। पर लौकिक कथा के साथ आत्मा और ब्रह्म के अलौकिक पक्ष की योजना में जो रस है और प्रेम की जो लोकव्यापी व्यंजना है वह साहित्य में बेजोड़ और अनुपम है ।

सगुणधारा

राम-भक्ति शाखा

वैदिक काल से ही विष्णु का बडा महत्व चला आ रहा है। काला-
तर में ब्रह्मा और महेश भी विष्णु के सृजन और संहार रूप माने गये।
इस प्रकार विष्णु की उपासना करने वाले वैष्णव मतावलवी कहलाये।
वैष्णव मत का मूल सिद्धान्त भक्ति है। यह भक्ति मार्ग नारायण को
प्रधान मान कर चलता है। वैष्णव मत मे विष्णु और उनके अवतार
महत्वपूर्ण हैं। विष्णु का निर्देश ऋग्वेद में ही मिलता है। ब्राह्मण
ग्रन्थों तक आते आते विष्णु का महत्व सूर्य, अग्नि और इन्द्र सभी से बढ़
गया है। धीरे धीरे विष्णु पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण और अन्त में भाग-
वत पुराण द्वारा विष्णु सर्वशक्तिमान मान लिये गये। उनके अवतारों
की संख्या निर्धारित कर दी गई जो धीरे धीरे बढती रही।

शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद की प्रतिष्ठापना की वह भक्ति के सम्यक्
प्रसार के लिए उपयुक्त न था। उसमें ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण
सत्ता पर उतना जोर नही दिया गया था जितना कि औसत आदमी को
इस ओर आकर्षित करने के लिए आवश्यक था। यह कार्य श्री रामा-
नुजाचार्य (सं० १०७३) ने किया। उनके विशिष्टाद्वैतवाद के
अनुसार समस्त (विश्व चित-अचित) ब्रह्म का ही अश है और उसी में
समा जाता है। इनकी शिष्य परपरा में, रामानन्द हुए। रामानन्द
के गुरु का नाम राघवानन्द था। गुरु से मत-भेद हो जाने के कारण
ये मठ छोड़ कर उत्तर भारत में आ गये। इससे सहज ही इनकी स्वतन्त्र
चिंता-शक्ति का पता लगता है। एक दृष्टि से मध्य युगीन समस्त

स्वाधीन चिंता के गुरु रामानन्द ही थे। कहा जाता है कि रामानन्द ने सारे भारतवर्ष मे घूम घूम कर अपने श्री संप्रदाय का प्रचार किया। इन्होने श्री संप्रदाय के रूप मे वैष्णव मत का प्रचार किया और जन-साधारण के लिए भक्ति मार्ग सुगम बनाया।

सोलहवी शताब्दी मे रामानन्द ने राम रूप मे और वल्लभाचार्य ने कृष्ण रूप मे विष्णु की उपासना का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। रामानन्द और वल्लभाचार्य के अतिरिक्त अन्य भक्तों ने भी सगुणोपासना का मार्ग प्रशस्त किया।

रामानन्द—इनके संबध में कही कुछ लिखा नही मिलता। पंद्रहवी शताब्दी मे इन्होने अपना प्रचार कार्य आरम्भ कर ही दिया था। थे तो ये रामानुजाचार्य के मतावलंबी किन्तु इन्होने राम के रूप में ही विष्णु की उपासना पर जोर दिया क्योकि लोक की दृष्टि से वे इस रूप को अधिक कल्याणकारी समझते थे। उन्होने मनुष्य मात्र को सगुण भक्ति का अधिकारी घोषित कर उपासना के द्वार सबके लिए खोल दिये।

इसका यह अर्थ नही है कि रामानन्द वर्णाश्रम के विरोधी थे। सामाजिक दृष्टि से वे इन भेदो को मानते थे, केवल उपासना क्षेत्र में वे इनकी आवश्यकता नही समझते थे। भगवद्भक्ति में भेदभाव को कैसा आश्रय? कर्म-क्षेत्र मे शास्त्र मर्यादा मान्य थी, पर उपासना क्षेत्र में लौकिक बंधन अमान्य थे। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ये दार्शनिक सम्प्रदाय उस रूप में सम्प्रदाय नही थे जिस रूप मे आगे चल कर सन्तों और भक्तो के सम्प्रदाय बने। शकराचार्य के अद्वैतवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई और चार दार्शनिक संप्रदायो का जन्म हुआ (श्री, ब्राह्म, रुद्र और सनकादि) इनमे परस्पर एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता थी। सब जीवात्मा परमात्मा की भिन्न सत्ता मानते थे। राम, कृष्ण मे से किसी

को इष्टदेव मान कर चलते थे। भेद केवल दार्शनिक अथवा आचार संबंधी था।

रामानन्द जी के जीवन के संबंध में प्रामाणिक रूप से कुछ भी नही मालूम। इस कारण इनके संबंध में अनेक प्रवाद प्रचलित है जिनमें पड़ने की हमें इस स्थान पर आवश्यकता नही है। रामानन्द जी के ये शिष्य प्रसिद्ध है—कबीर, रैदास, सेन और पीपा।

अब हम राम-भक्ति की शाखा मे होने वाले मुख्य भक्त कवियो का संक्षिप्त विवरण देते है।

गोस्वामी तुलसीदास—यों तो रामानन्द के विभिन्न शिष्यों द्वारा राम-भक्ति का प्रचार भारत के एक बड़े भाग में हो रहा था, किन्तु इस धारा का सब से अधिक सशक्त गायक १७ वी शताब्दी के आरम्भ मे हुए। ये थे कवि-कुल-कमल दिवाकर गोस्वामी तुलसीदास। हिन्दी-साहित्य को रामभक्ति का प्रौढ साहित्य देने का श्रेय इन्ही को है। इनकी राम-भक्ति के मधुर वीणा-वादन ने जन हृदय मे भक्ति की एक अपूर्व लहर उत्पन्न कर दी। इनकी सशक्त रचनाओ से ही हिन्दी-साहित्य की प्रौढ़ता का युग शुरू होता है।

गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५५४ मे बाँदा जिले के राजापुर ग्राम में हुआ था। बेनीमाधवदास के 'गोसाई चरित' और रघुवरदास के 'तुलसी चरित' मे इसका जिक्र आता है। शिवसिंह सरोज मे इनका जन्म सं० १५८३ लिखा है। 'तुलसी परासर गोत दूबे पतिऔजा' के आधार पर ये सरयूपारी ब्राह्मण और परासर गोत के पतिऔजा के दुबे थे। पं० रामनरेश त्रिपाठी के मतानुसार तुलसीदास का जन्म सोरो मे हुआ था। किन्तु अधिकांश विद्वान राजापुर के पक्ष में ही है।

कहा जाता है कि गोस्वामी जी के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। माता के नाम के संबंध मे रहीम की

यह पंक्ति प्रसिद्ध है—'गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय'। जनश्रुति है कि अभुक्तमूल में पैदा होने के कारण बालक तुलसी अपने माता पिता द्वारा त्याग दिये गये थे। कवितावली में एक जगह गोस्वामी जी लिखते हैं—"मातु पिता जग जाइ तज्यो विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।" बाबा नरहरिदास ने ही इनका पालन-पोषण कर इन्हें संस्कृत में शास्त्र और पुराण की शिक्षा दी। गुरु के सत्संग से ही इन्हें रामकथा में रुचि उत्पन्न हुई। पन्द्रह वर्ष अध्ययन करने के बाद जब ये राजापुर लौटे तो इनके परिवार में सब मर चुके थे।

किंवदन्ती के अनुसार तुलसीदास की पत्नी का नाम रत्नावली था। ये अपनी पत्नी में अत्यन्त आसक्त थे। एक बार जब वह पिता के घर गई तो तुलसी उसके वियोग में व्याकुल हो उठे। तुरन्त ही उसके पीछे चले और ससुराल पहुँचे। पति के इस आचरण से रत्नावली बहुत लज्जित हुई। क्रोध में चिढ़ कर उसने अपने पति से कहा—

> लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
> धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ।
> अस्थि-चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
> तैसी जौ श्री राम मँह होति न तौ भवभीति॥

कहते हैं कि पत्नी की फटकार सुन कर तुलसी का मोह जाता रहा और इनकी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो उठीं। वह उसी समय वहाँ से लौट पड़े। इस घटना का उल्लेख नाभादास के 'भक्त माल' में और रघुबरदास के 'तुलसी चरित' में मिलता है। कुछ दिन काशी और अयोध्या में रहने के बाद वह तीर्थ यात्रा करने निकल गये। भारत के मुख्य-मुख्य सभी तीर्थों मे ये घूमे। इसके बाद सं० १६३१ में अयोध्या में रामचरित मानस का आरभ किया और उसे २ वर्ष ७ माह में समाप्त

किया। इसके बाद ये प्रायः काशी मे ही रहा करते थे। ये अपने समय के सब से बड़े भक्त और महात्मा थे। उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती, अकबर के प्रसिद्ध दरबारी रहीम, मानसिंह और नाभा जी इनके मित्र और स्नेही थे। सारे देश में इनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी और शास्त्रज्ञ विद्वान आ आ कर इनसे मिला करते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार विसेंट स्मिथ ने इन्हे अपने समय का भारत का सर्वश्रेष्ठ पुरुष माना है। यहाँ तक कि सम्राट अकबर से बड़ा इन्हे कहा है। कहा जाता है कि सूरदास, केशवदास आदि की भी इनसे भेंट हुई थी।

गोस्वामी जी की मृत्यु के सबंध में यह दोहा प्रचलित है :

संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर।

विशुद्ध खड़ी बोली के उत्थान-काल के पूर्व हिन्दी-साहित्य की सर्वमान्य काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही थी और इसमें कविता करने वाले कवि उत्तर भारत के सभी भागो में पाये जाते थे। पर अवधी में रचना करने वाले कवि प्रायः पूरब के रहने वाले ही थे। हम एक भी ऐसे पश्चिमी कवि को नही जानते जिसने अवधी पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया हो।

हिन्दी-काव्य क्षेत्र में तुलसी का आविर्भाव एक अभूतपूर्व घटना थी। इन्ही की रचनाओं में हिन्दी-काव्य की गुप्त शक्तियाँ विकास की चरम अवस्था पर पहुँची। वीरगाथा काल के कवि परपरा के दास थे। भाषा को वे परिमार्जित न कर सके। कबीरदास ने चलती भाषा अपनाई पर वह बेठिकाने थी। सगुणोपासक कवियो ने परंपरागत और प्रचलित भाषा के योग से काव्य-भाषा को नया जीवन प्रदान किया। जो काम सूर ने ब्रजभाषा के लिए किया वही तुलसी ने अवधी के लिए।

पर यह स्मरण रखना चाहिए कि तुलसी का व्रजभाषा पर भी अधिकार था।

गोस्वामी जी के समय हिन्दी-काव्य में मुख्य पाँच शैलियाँ थी—(१) वीर गाथा काल की छप्पय पद्धति, (२) विद्यापति की गीत पद्धति, (३) भाटो की कवित्त-सवैया पद्धति, (४) कवीर दोहा की पद्धति और (५) ईश्वरदास की दोहा-चौपाई वाली पद्धति। तुलसी दास जी की सवसे वड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी सर्वांगीण प्रतिभा के वल से काव्य सौन्दर्य की चरम सीमा अपनी वाणी में दिखाई। उनका व्रज और अवधी दोनो भाषाओं पर एक सा अधिकार था। भाषा की दृष्टि से इनकी तुलना हिन्दी के किसी अन्य कवि से नही हो सकती। उनकी भाषा जितनी लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। संस्कृत का मिश्रण वडी चतुरता के साथ किया गया है। इनकी भाषा मे समन्वय की एक चेष्टा है। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इनके ग्रन्थ अत्यन्त सफल हैं। छन्द की विभिन्नता, प्रसंगो के अनुकूल उनका चुनाव, रसोद्रेक में सफलता और प्रत्येक रस का सुन्दर निर्वाह इन्हें काव्य शास्त्र का पडित सिद्ध करता है। रसानुकूल और पात्रानुकूल भाषा लिखने का वे सदा ध्यान रखते हैं। स्त्री पात्रों के संवादो मे उन्होंने ठेठ भाषा का सुन्दर प्रयोग किया है। उनकी भाषा पात्रो की सामाजिक स्थिति को ही नहीं उनके मनस्तत्व को भी आधार वना कर चलती हैं। मनोविकारों के चित्रण मे वे अद्वितीय हैं।

तुलसीदास की दृष्टि वहुत विस्तृत थी। इसी कारण ये उत्तर भारत की जनता के मन-मन्दिर में प्रतिष्ठित हैं। ये भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि कवि थे। डॉक्टर ग्रियर्सन ने कहा है कि वुद्धदेव के वाद भारत मे सव से वड़े लोकनायक तुलसीदास थे। साहित्य के विभिन्न कालो के कवियों ने जीवन के किसी एक पक्ष का वर्णन किया है। तुलसी की वाणी के अन्तर्गत मनुष्य के सारे भाव और व्यवहार आते हैं।

निर्गुण धारा के संतों के उपदेशो से जनहृदय में विकार उत्पन्न होने का भय था। उनकी शिक्षा में लोकधर्म को कोई स्थान नही मिला। तुलसीदास ने इस कमी को अच्छी तरह समझ लिया। उनका 'गुह्य' भी गोस्वामी जी को कुछ अच्छा न लगा। दूसरे इस निर्गुण मत का मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति से कोई सबंध नही था अतः वह हृदयपक्ष से रहित थी। गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति की पद्धति को सर्वागपूर्ण बनाया। जीवन के सब पार्श्वों का सामजस्य उसमें मिलेगा। वह कर्म, धर्म और ज्ञान का सुन्दर रसायन है। धर्म और ज्ञान की रसानुभूति ही तुलसी की भक्ति है।

तुलसीदास जी ने शैवो और वैष्णवो के बढते हुए झगड़े को रोकने का प्रयत्न किया। भक्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर भी लोक-संग्रह की भावना उनकी भक्ति का एक अग रही है। कृष्णभक्ति धारा में इस बात का अभाव है। यही कारण है कि तुलसी की वाणी सब से अधिक मगलकारिणी मानी गई है।

रामचरितमानस में कवि की प्रतिभा का पता लगता है। उसमें हमे कथा-काव्य के सब अगो का उचित सामजस्य मिलेगा। कथा के मार्मिक स्थलो की पहचान, प्रसगानुकूल भाषा और शिष्ट मर्यादा के भीतर शृङ्गार रस का वर्णन इस पुस्तक की प्रमुख विशेषताओ में से है। इस ग्रथ में कवि उपदेशक के रूप में भी आता है। गोस्वामी जी सच्चे साहित्य मर्मज्ञ थे और रचना नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन उन्होने कभी नही किया। उच्चतम कोटि के कलाकार की विदग्धता और सतुलन वृत्ति उनमें पाई जाती है। लोक-चित्त का विस्तृत और यथार्थ ज्ञान उन्हें था। प्रबंधत्व में तुलसी उस स्थान पर पहुँच गये है जहाँ से आगे जाना सभव नही।' उनका स्वान्त. सुखाय का सिद्धान्त बहुजन हिताय का लक्ष्य पूरा करता रहा। दरबारी कविता की परम्परा मे उन्होने क्रान्ति की।

अपने समय का सबसे क्रान्तिकारी और प्रगतिशील व्यक्तित्व उनका था। मोक्ष के स्थान पर युग युग की भक्ति और लोक कल्याण उन्हें प्रिय था।

रामायण के अतिरिक्त उनके ये ग्रन्थ प्रसिद्ध है—कवितावली, विनय पत्रिका, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्नावली, राम लला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपिनी और हनुमान बाहुक।

तत्कालीन समाज की दशा पर दृष्टिपात करने से हमें मालूम होगा कि परस्पर विरोधी तत्त्व समाज को जर्जरीभूत बना रहे थे। सारा देश विश्रृङ्खल परस्पर विच्छिन्न, आदर्शहीन और बिना लक्ष्य का हो रहा था। इस समय एक ऐसे समन्वय करने वाले की आवश्यकता थी जो इन विच्छिन्न, विभ्रष्ट टुकड़ो में योग-सूत्र और सामजस्य स्थापित करता। तुलसीदास ने यही किया। बुद्ध के बाद तुलसी भारत के सब से बड़े समन्वयकारी थे।

तुलसीदास कवि, भक्त, पडित-सुधारक और लोक नायक थे और भविष्य के सृष्टा थे। हिन्दी भाषा और साहित्य के वे जगमगाते रत्न थे। अनेक विदेशी भाषाओं मे रामायण का अनुवाद हो चुका है और आज समस्त ससार तुलसी की प्रतिभा का कायल है। गोस्वामी जी को नश्वर शरीर छोड़े तीन शताब्दियाँ हो गई किन्तु आज भी वे प्रत्येक हिन्दू और हिन्दी साहित्य प्रेमी की साँसो में जीवित है। इनकी कविता के कुछ उदाहरण दिये जाते है—

> अवधेश के द्वारे सकारे गई सुत गोद में भूपिति लै निकसे।
> अवलोकत सोच विमोचन को ठगि सी रही जे न ठगे धिक से।
> तुलसी मनरंजन अंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से।
> सजनी ससि में समसील उभै, नवनील सरोरुह से विकसे।

बन्दौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा॥
अमिय मूरि मै चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥
सुकृत सम्भु तन विमल विभूती। मंजुल, मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलक गुनगन जस करनी॥

श्री गुरु पद रज मंजुल अंजन
नैन अमिय दृग पोष विभंजन
सम सुवरन सुखमाकर सुखद न थोर
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर
सिय मुख शरद कमल जिमि किमि कहि जाय
निसि मलीन वह निस दिन यह विगसाय
चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाइ
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हलाइ

स्वामी अग्रदास—स० १६३२ के लगभग वर्त्तमान थे। इनकी कविता पढ कर नददास जी की कविता का स्मरण हो आता है। ये प्रसिद्ध कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे किन्तु इनका झुकाव रामभक्ति की ओर अधिक था। ये गलता (जयपुर) के रहने वाले थे। इनकी बनाई चार पुस्तको का पता मिलता है—हितोपदेश उपखाणा बावनी, ध्यान मंजरी, रामध्यान मजरी और कुडलिया। उदाहरण में एक पद्य दिया जाता है—

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
तिनको लखत प्रकास लजत राकेस दिनेसा॥
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए।
मुख-पंकज के निकट मनो अलि-छौना आए॥

नाभादास जी—ये अग्रदाज जी के शिष्य और बड़े भक्त तथा साधु-सेवी थे। ये तुलसीदास जी के समय मे थे और स० १६५७ में वर्तमान थे। इनकी प्रमुख रचना 'भक्तमाल'* है जो छप्पय मे लिखी है और जिसमे २०० सतो का जीवन-चरित्र दिया गया है। भक्तो के समस्त जीवन का वर्णन तो इनमे नही है, हाँ भक्ति से संबधित घटनाएँ दी गई है। भक्तमाल लिखने मे इनका उद्देश्य सभवत. जनता मे भक्तो के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना था। यह ग्रन्थ स० १६४२ के वाद बना और प्रियादास जी ने इसकी टीका स० १७६९ मे लिखी।

नाभादास की जाति का ठीक ठीक पता नही चलता। कुछ उन्हे क्षत्रिय कहते है कुछ डोम। इनके और गोस्वामी जी के संबंध में एक कथा प्रसिद्ध है। एक बार नाभादास तुलसीदास से भेंट करने काशी गये। गोस्वामी जी ध्यान मग्न थे अतः भेंट न हो सकी। नाभादास रुष्ट होकर लौट गये। जब गोस्वामी जी को वाद मे पता चला तो बड़ा खेद हुआ और वे तुरन्त भक्तशिरोमणि से मिलने वृन्दावन चल पड़े। उस दिन नाभादास के यहाँ भडारा था। वैष्णव साधुओं की भीड़ लगी थी। तुलसीदास जानबूझ कर सबके अंत मे एक गन्दे स्थान पर बैठ गये। नाभादास ने भी जान बूझ कर उनकी ओर कोई ध्यान नही दिया। खीर परोसते समय जब कोई बर्तन न मिला तो गोस्वामी जी

---

* भक्तमाल और उस पर प्रियादास की टीका भक्तों का हृदय हार रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में तुलसीदास की रामायण के बाद मध्य युग की यह सर्वाधिक लोक प्रिय भक्ति पुस्तक है। इसका अनुवाद बँगला और मराठी में भी हुआ। नाभादास जी के भक्तमाल में नानक दादू आदि भक्तों के नाम नहीं आ पाये। बाद में इस ग्रन्थ के अनुकरण पर बहुत से भक्तमाल लिखे गये।

ने पास ही पड़े हुए एक सत के जूते को उठा कर कहा, "इससे अधिक अच्छा वर्तन मेरे लिए और क्या होगा ?" नाभादास ने उन्हे गले लगा लिया। नाभादास ने पहले चिढकर तुलसी से सबधित अपने प्रसिद्ध छप्पय मे यह पंक्ति लिखी थी—'कलि कुटिल जीव तुलसी भए, बाल्मीकि अवतार धरि।" इस घटना के पश्चात् उन्होने पक्ति इस प्रकार बदल दी—'कलि कुटिल जीव निस्तार हित, बाल्मीकि तुलसी भयो।" यह कहना कठिन है कि इस घटना में सत्य का अश कितना है।

ज्यादातर इन्होने रामभक्ति संबंधिनी कविता लिखी है। ब्रज-भापा में भी ये अच्छी कविता करते थे। इन्होने दो अष्टयाम भी लिखे—एक ब्रजभापा गद्य में दूसरा रामचरित मानस की तरह दोहा-चौपाई में। तुलसी के सबध मे लिखा इनका छप्पय देखिये—

त्रेता काव्य-निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन।
अब भक्तन सुख दैन बहुरि लीला विस्तारी।
रामचरन रसमत्त रहत अहिनिसि व्रतधारी।
संसार अपार के पार को न सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो॥

प्राणचन्द चौहान—संस्कृत में राम के सम्बन्ध में बहुत से नाटक हैं। इनमें कुछ तो यथार्थ नाटक हैं, और कुछ को सवाद-रूप में होने के कारण नाटक की संज्ञा दे दी गई है। इस सवाद-पद्धति पर स० १६६७ में चौहान ने रामायण महानाटक लिखा। नीचे के उदाहरण से रचना के ढंग का आभास मिल सकता है—

कातिक मास पच्छ उजियारा।
तीरथ पुन्य सोम कर वारा॥

ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना ।
शाह सलेम दिलीपति थाना ।

हृदयराम—इन्होंने सं० १६८० में भाषा में एक हनुमन्नाटक लिखा जिसका आधार संस्कृत का हनुमन्नाटक था। ये पंजाब के रहने वाले और कृष्णदास के पुत्र थे। इनके नाटक की कविता सुन्दर तथा परिमार्जित है। तुलसीदास ने सभी प्रचलित शैलियों मे राम-गुणगान किया था। केवल एक नाटक ही बचा था। अतः कई लोगों ने नाटक के द्वारा अपने हृदय मे उमडती हुई रामभक्ति को प्रकट किया। रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत् लिखे जाने वाले नाटकों मे हृदयराम के हनुमन्नाटक का स्थान सब से ऊँचा है। नीचे एक उदाहरण देखिए.—

देखन जौ पाऊँ तौ पठाऊँ जमलोक हाथ,
दूजो न लगाऊँ वार करौं एक कर को।
मीजि मारौं उर ते उखारि भुजदंड, हाड़
तोरि डारौं वर अवलोकि रघुवर को॥
कासों राग द्विज को, रिसात भहरात राम,
अति थहरात गात लागत है घरको।
सीता को संताप मेटि प्रगट प्रताप कीनो,
को है वह आप चाप तोर्‌यो जिन हर को॥

इसके अतिरिक्त और भी कवि हुए जिनमे कुछ प्रमुख ये हैं—

लीलादास (सं० १७००, अवधविलास नामक नाटक लिखा), बालभक्ति (सं० १७५०, नेह प्रकाश और मंजरी लिखी), रामप्रिया शरण (सं० १७६०, सीतायण लिखी), कलानिधि (सं० १७६९) और मधुसूदन दास (सं० १८३९, रामाश्वमेध इनकी प्रसिद्ध रचना है।)

रामभक्ति के साथ साथ हनुमान की उपासना भी आरभ हुई। स्वय तुलसीदास ने स्थान स्थान पर पवन-सुत की वदना की है। रामचरित-मानस के बाद राम-चरित पर अनेक काव्यो की रचना हुई किन्तु तुलसी के मानस के सामने उन सबका रग फीका ही रहा।

रामभक्ति की काव्यधारा मे सभी प्रकार की रचना शैलियो को विकसित होने का अवसर मिला। इसके विपरीत कृष्णभक्त कवियो ने अपनी रचना में केवल मुक्तक शैली तक ही अपने को सीमित रखा। इस कारण कृष्णभक्ति के साहित्य मे रचना शैली की दृष्टि से एकांगिता आ गई है। यही बात उसकी भक्ति-प्रणाली के बारे में भी लागू होती है। वह यदि अतल-स्पर्शिनी है तो वह जीवन व्यापिनी और सर्वरूप प्रसारिणी है। उसमें नैतिक आदर्शो और सामाजिक मूल्यो की स्थापना पर जोर दिया गया है। लोकपक्ष की अवहेलना उसमें नही है। लोक चिंतक, लोक सुधारक और लोक उन्नायक के रूप मे तुलसी अग्रणी है। मध्ययुग का लोक जीवन कितना पतित हो गया था यह कवि के कालि काल के वर्णनो से प्रकट हो जाता है। ज्ञान-कर्म समन्वित भक्ति की प्रतिष्ठा करके उन्होने जीवन विरक्तो के सामने ही नही गृहस्थ जन समुदाय के सामने भी एक आदर्श रक्खा।

भक्ति का पूर्ण स्वरूप हमें रामभक्ति शाखा में ही मिलता है। जैसा कि शुक्ल जी ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखा है प्रेम और श्रद्धा के योग से भक्ति की उत्पत्ति होती है। जहाँ धर्म होता है वही श्रद्धा टिकती है। ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति धर्म है। भक्त जगत् के बीच इसी प्रवृत्ति का साक्षात्कार करना चाहता है। यह है सगुण भक्ति मार्ग का स्वरूप और विश्लेषण जिसका पूर्ण विकसित रूप तुलसी की रामभक्ति मे मिलता है।

श्रद्धा रहित प्रेम पतित होकर शृगारिकता और विलासिता में परिणत हो जाता है। कृष्णशाखा भक्ति भगवान् के लोकरक्षक स्वरूप की अवहेलना करके चली। परिणाम स्वरुप कालातर में प्रत्येक नायक और नायिका कृष्ण और राधा के नाम से विभूषित हुए।

आजकल तुलसी की राजभक्ति को शृगारिकता के दलदल मे घसीटने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह रसिक पंथ अयोध्या के कुछ साधुओ में वहुत पाया जाता है। ये राम की उपासना पत्नी भाव से करते है।

तुलसी के राम के चरित के इससे अधिक पतन की कल्पना नही की जा सकती। किस प्रकार नवीन जीवन, विस्तृत दृष्टि के अभाव में शुद्ध से शुद्ध परपरा दूषित हो जाती है, इसका अच्छा उदाहरण इस रसिक पंथ में मिलता है। पर इसमे सन्देह नही है कि इस प्रकार के ह्रासोन्मुख पंथ अन्त मे नष्ट हो जायँगे। रामभक्ति के शुद्ध, सात्विक, जीवनदायी प्रकाश के सामने यह विकारो का अन्धकार नही टिकेगा। भक्ति का असंयमित हो कर उच्छृ खल हो जाना समाज के लिए पतनावस्था का कारण होता है। इतिहास इसका साक्षी है। आज जव मनुष्य के मन तथा जीवन-स्तरो मे परस्पर-विरोधी शक्तियाँ आधिपत्य जमाये हुए है उस समय तुलसी के समान ही एक युग-सामजस्य का अनुसधान करना होगा। चेतना को गभीर, विस्तृत तथा लोक-कल्याण-अनुवर्तिनी वना कर आज के अनमेल विरोधी तत्त्वो को समन्वित करना होगा। साथ ही जाति और राष्ट्र को शक्ति और समता के नये स्वर सुनाने होगें। राम काव्य हमारा आदर्श होगा।

कृष्णभक्ति शाखा

इधर एक ओर तो रामभक्ति की वीणा की मृदु पर गभीर घोष से समस्त उत्तर भारत झकृत हो रहा था, दूसरी ओर चर्मचक्षु-विहीन किन्तु आतरिक चक्षुसंपन्न एक अधे कवि ने कृष्णभक्ति की वीणा सँभाली

और अपने कुशल वादन से मधुर रस की ऐसी वर्षा की कि समस्त जनता का हृदय उसमें डूबने उतराने लगा। रामभक्ति-शाखा ने यदि लोक सग्रह और लोक मर्यादा के दृष्टिकोण से घट घट मे व्याप्त परमात्मा को राम की सज्ञा देकर समझाने का प्रयत्न किया तो उसकी बहिन कृष्ण भक्ति शाखा ने लोकरंजन और जीवन में माधुर्य तथा हृदय की कोमल प्रवृत्तियो को दृष्टि में रख कर इस जीवन और विश्व के महान् नाटककार को लीला पुरुषोत्तम कृष्ण का नाम देकर जनता को समझाने की कोशिश की। साथ ही सूरदास ने प्रकट और प्रच्छन्न उभय रूपो में समय समय पर इसका बोध कराया है कि कृष्ण सामान्य बालक नही है, परब्रह्म है और भक्तो के सुख और दुष्टो के दलन के हेतु ही ससार में आये है। कृष्ण की बाल लीला के साथ अद्‌भुत लीला भी चलती रहती है। कही कही सूर ने कृष्ण को उसी प्रकार परब्रह्म सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जिस प्रकार आगे चल कर तुलसीदास ने किया है। सूर और तुलसी में मात्रा का भेद हो सकता है पर उनकी ब्रह्म दृष्टि मे नही। कृष्ण की ब्रज लीला को सहज विलास और शत्रु सहार दोनो रूपों में उन्होंने लिया है।

वैष्णव-आन्दोलन के प्रधान प्रतिष्ठाताओ में स्वामी वल्लभाचार्य का ऊँचा स्थान है। इनके जन्म और मृत्यु सवत् १५३५ और १५८७ है। रामानुज, वल्लभाचार्य आदि के आश्रय से जो नवीन चिंता-धारा वैष्णव मत के नाम से निकल पड़ी थी, वह प्रथम और प्रधान रूप से शकर के मायावाद की प्रतिक्रिया थी। वल्लभाचार्य ने कहा कि माया और विश्व स्वयं ब्रह्म की लीला है। इनमे से कुछ भी झूठ नही, कुछ भी मिथ्या नही। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव-तिरोभाव की अचिंत्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म है और उनमे सत्, चित् और आनद तीनो की समष्टि है। शकर ने निर्गुण को ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप कहा किन्तु वल्लभ ने उनकी बात पलट दी।

उन्होंने सगुण को ही यथार्थ स्वरूप कहा। इस सगुण ब्रह्म की उपासना के लिए श्रद्धा के तत्त्व की उन्होंने कोई आवश्यकता नही समझी। उन्होंने ऐसी भक्ति ली जिसका प्रधान लक्षण प्रेम है। पवित्र-हृदय-प्रसूत प्रेम की यह धारा लोक और वेद के ववनो से कैसे रुक सकती है। किन्तु भक्ति में प्रवृत्त होने के लिए भगवान् की कृपा की आवश्यकता है। यह कृपा पोषण या पुष्टि कहलाती है। इसी से वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित उपासना-पद्धति पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस मार्ग का आरभ देशकाल की आवश्यकताओ के ध्यान मे रख कर किया गया है। वल्लभाचार्य स्वामी की पुस्तक 'कृष्णाश्रय' में तत्कालीन अवस्था का पर्याप्त वर्णन है। हिन्दू राज्य का पतन, मुसलमानी राज्य का क्रमश दृढ होते जाना, मुसलमानी सभ्यता का हिन्दू सभ्यता और सस्कृति पर प्रभाव और सूफियो की धूमधाम इन सब बातो की ओर उक्त पुस्तक मे सकेत मिलता है। सत-पथ के लोग भी अपनी अटपटी वानी में कुछ पते की और कुछ बेपते की बात कहे जा रहे थे। अत पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन बहुत कुछ समय की आवश्यकताओ को ध्यान मे रख कर हुआ था।

वल्लभाचार्य भी वेदादि में पारगत विद्वान् थे। बहुपठित होने के साथ साथ भारत के बहुत से भागो मे भ्रमण करके इन्होने काफी अनुभव प्राप्त किया और अपने मत का प्रचार किया। अंत मे इनके एक श्रद्धालु भक्त पूरनमल खत्री ने गोवर्धन पहाड पर श्रीनाथ जी का एक विशाल मंदिर बनवाया जिसमें श्री कृष्ण की उपासना का आयोजन बड़ी धूमधाम से होने लगा। मदिर मे विलास की सामग्री की कितनी प्रचुरता थी उसका इसी से पता लगता है कि लोग वहाँ "केसर की चक्कियाँ चले हैं" कहते थे। इस मंदिर में अष्टछाप के कवियो के मुख से भक्ति की जो धारा नि.सृत हुई है उसने समस्त समाज को अभिभूत कर दिया। यद्यपि इस उपासना मे विलासिता के तत्त्व के मिश्रण के कारण यह भक्तिधारा तथा उससे

प्रभावित समाज विलासिता के अनिवार्य परिणामो से कालान्तर में कुछ दूषित तो हो गया, तथापि यह कहने में तनिक सी भी अतिशयोक्ति न होगी, कि इस पुनीत, मगलमय भक्ति धारा ने शुष्क होते हुए भारतीय हृदय को सींच कर फिर से हरा-भरा कर दिया। वह हरीतिमा इतनी गहरी हुई कि काल भी उसे न धो सका। इतनी विविधता कदाचित् किसी भी साहित्यिक धारा मे नही मिलेगी जितनी कृष्ण काव्य धारा में। न काव्य और कला एव सगीत का इस मात्रा से मिश्रण ही मिलेगा। कृष्ण काव्य के प्रभाव के कारण ही रीति काव्य शतश. लौकिक नही बन सका। प्रेमलीन हृदय की नाना अनुभूतियो की व्यजना बडी मार्मिक है। इसमें जीवन के आभ्यान्तर पक्ष का विस्तृत उद्घाटन हुआ है। प्रेम दशा के भीतर की न जानें कितनी मनोवृत्तियो की व्यजना गोपियो के वचनों द्वारा कृष्ण काव्य मे हुई है। एक प्रकार से समस्त कृष्ण काव्य धार्मिक रूपक है।

संसार के सभी देशों मे, विशेषकर भारतवर्ष मे यह बात देखने में आती है कि महापुरुष कालातर में जनसाधारण के मन में ईश्वर की विभूतियो से सपन्न हो जाते हैं। समय की दूरी उनके महत्त्व मे वृद्धि करती है। यही कारण है कि बुद्ध विष्णु के अवतार कहलाये और ईसा ईश्वर-पुत्र मान लिए गए। यही बात राम और कृष्ण के सबध में हुई। महाभारत के शुरू के पर्वो मे कृष्ण का चित्रण अवतार के रूप में नही हुआ है। भगवद्-गीता मे उनकी अवतारणा सोलह कलाओं से युक्त भगवान् के अवतार के रूप में हुई है। वल्लभाचार्य, निम्बार्क, कृष्ण स्वामी और मध्वाचार्य इन सभी ने कृष्ण-भक्ति पर जोर दिया।

जैसा पहले लिखा जा चुका है कृष्ण भक्ति एकपक्षीय थी। भविष्य मे इसके विलासिता में परिणत हो जाने के बीज भी इसमें मौजूद थे। दक्षिण मे देवदासी की प्रथा प्रसिद्ध है। लोग लडकी को छुटपन से ही भगवान् के चरणो में अर्पण कर जाते थे। बड़ी होने पर वह भगवान् को ही वर लेती

थी और गा-नाच कर अपने परमेश्वर पति को रिझाने का प्रयत्न करती थी। दक्षिण की ऐसी भक्तिन अदाल प्रसिद्ध है।

कृष्ण भक्ति परपरा के कवियो[1] ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है वह इतनी अधिक है कि उसका ठीक ठीक मूल्याकन नही किया जा सकता। इन कवियो ने अपनी रचनाएँ प्राय. गीतो के रूप में ही की। अत मुक्तक को जो विशदता, गहराई और प्रौढता इस काल में प्राप्त हुई वैसी उसके पहले कभी नही। रसो मे भी शृगार और वात्सल्य का कोई कोना अछूता न बचा। सूरदास का भ्रमरगीत पढने के बाद वियोग शृगार पर कलम उठाने का साहस नही होता। हिन्दी-साहित्य का यह अश ससार मे बेजोड है। वात्सल्य रस का इतना और इतना सुन्दर काव्य विदेशी साहित्य मे नही है और न आशा है कि भविष्य की रचनाएँ इस सम्बन्ध मे कभी सूर की बराबरी कर सकेंगी। जिस प्रकार रामायण, बाइबिल, इलियड आदि फिर से नही लिखे जा सकते उसी प्रकार सूरसागर के पदों की आवृत्ति भी असभव सी ही है।

कृष्णभक्ति धारा का अष्टछाप प्रसिद्ध है। यह आठ भक्त कवियो की एक मडली का नाम है जिसमे वारी बारी से कवि गण अपने रचे हुए भक्ति

---

१ कृष्ण काव्य में दृष्टिकोण का जितना वैभिन्य है उतना राम काव्य में नहीं है क्योंकि स्वयं राम की भावना में अधिक अन्तर नहीं पड़ा। श्रीमद्भागवत की मौलिक कृष्ण भावना पर सूफीमत और निर्गुण मत का प्रभाव पड़ा। बालक कृष्ण के प्रति भक्ति, राधाकृष्ण की युगल जोड़ी की क्रीड़ाओं का वर्णन कृष्ण के प्रति सहज भाव, राधा को प्रधान मान कर भक्ति करना और अपने को राधा के स्थान पर रख कर कृष्ण के प्रति माधुर्यमयी उपासना आदि इस धारा के भेद है।

के गीत अपने इष्टदेव और सखा कृष्ण को समर्पित किया करते थे। इन कवियो के ये नाम है—

नंददास, चतुर्भुजदास, परमानन्ददास, सूरदास, कृष्णदास, कुंभनदास, छीत स्वामी और गोविन्द स्वामी। ये सबके सब स्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे और इन्हीं गायकों के गीतो से हिन्दी-साहित्य के एक अंश ने अनुपम समृद्धि प्राप्त की है।

कृष्ण के ब्रह्म स्वरूप माने जाने के विषय में कहा ही जा चुका है। महा भारत में राधा नाम की किसी गोपी का जिक्र नही है। राधा का नाम और विशद चित्र 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण में मिलता है। निम्बार्क मतावलबी जयदेव और विद्यापति राधा को कृष्ण की प्रेमिका पहले ही चित्रित कर चुके थे। भागवत पुराण ने राधा के प्रचार में विशेष कार्य किया। यही कार्य वाद में वल्लभ संप्रदाय ने किया। राधा को आत्मा माना गया और अन्य आत्माओ से ब्रह्म के अधिक निकट माना गया। राधा शब्द संस्कृत धातु राध् से बना है। इसका अर्थ है सेवा करना अथवा प्रसन्न करना। राधा का व्यक्तित्व ऐतिहासिक नही है। वह दार्शनिको, धर्मग्रथो और कवियो की सूझ है। उनके चरित का निरन्तर विकास होता गया है। कृष्ण काव्य मे सब से पहले राधा शब्द प्राकृत की गाथा सप्तशती मे पाया जाता है। इसका रचनाकाल विक्रम सवत् के आविर्भाव के आसपास है। इसके वाद के ग्रथ पचतन्त्र में राधा का नाम आता है।

रामभक्ति और कृष्णभक्ति की उपासना-पद्धति के अन्तर के सबध मे हम पहले ही कह आये हैं। राम की कल्पना मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में की गई है। उनकी भक्ति में धर्म अपने पूर्ण स्वरूप मे विकसित होता है। उसमे ज्ञान, भक्ति और कर्म का मणि-काचन सयोग है। श्रद्धा और प्रेम के योग से ही भक्ति का उद्रेक होता है। इसके विपरीत कृष्ण भक्ति सर्वप्रथम प्रेमलक्षणा भक्ति है। प्रेम और मर्यादा का विरोध

अनादि काल से चला आता है। अत कृष्ण भक्ति लोक मर्यादा अथवा शास्त्र मर्यादा के बधनो को स्वीकार नही करती। इस कारण जहाँ तुलसी मौका देख कर ही राम के दरबार में हनूमान द्वारा अपनी फरियाद पहुँचाते है वहाँ सूरदास अपने सखा कृष्ण को बिना किसी सकोच के डाँट फटकार भी सुनाते है। वे उन्हे 'कारो कृतहि न मानें' भी कह सकते है। वे कृष्ण से इस प्रकार बात करते है मानो कृष्ण उनके अपने ही लोगो में से है।

हम भक्तिकाल की अतिम धारा के सबध मे यहाँ लिख रहे है। जिस विशेष बात की ओर हम पाठको का ध्यान यहाँ आकर्षित करना चाहते है वह है मध्ययुग के संतो का सामान्य विश्वास। इन सतो के साहित्य का अध्ययन करने से मालूम पड़ता है कि वे चाहे निर्गुण मत के हो अथवा सगुण धारा के, उनकी विचारधारा मे एक विशेष साम्य है। पहली बात जो हमें दीख पडती है वह है भक्त का भगवान् के साथ एक विशेष व्यक्तिगत सबध। अत. कबीर कहते है 'हे भगवान् ! तू मेरी माँ है,' मैं तेरा बालक हूँ; मेरा अवगुण क्यो नही बख्श देती ?' उनके निर्गुण राम निर्गुण न रह कर भक्तो के भगवान बन जाते है। दूसरे इन भक्तो की साधना का चरम उद्देश्य है भगवान् के साथ लीला । ये मुक्ति नही चाहते भगवान् के अश मे लीन होना नही चाहते*। इनकी दृष्टि में प्रेम ही परम

---

*दरसन दे दरसन दैहौं तो तेरी मुकुति न माँगों रे।
सिधि ना माँगों, रिधि ना माँगो तुम्हहीं माँगो गोविन्दा ॥ (दादू)
अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रघुपति भगति यह वरदान न आन ॥ (तुलसीदास)
भगति भगत भगवंत गुरु, नाम रूप बपु एक।
इनके पद वंदन किये नासै विघन अनेक ॥ (भक्तमाल)

पुरुषार्थ है और भगवान् की लीला ही इनकी चरम साधना का फल है। कबीर कहते है—"हाय, मेरे वे दिन कब आवेगे जब मैं अग से अग लगा कर मिलूंगी, जिसके लिए मैंने यह देह धारण की है।" इस युग की एक अन्य समान धर्मिता है प्रेम के आधार पर भक्त और भगवान् की समता। यह कहा गया है कि 'राम से अधिक रामकर दासा।' एक अन्य समानता जो इन विभिन्न उपासना पद्धतियो मे हमे दृष्टिगोचर होती है वह है गुरु का महत्त्व। गुरु की बात बिना विचार के ही करना चाहिए। कबीर ने कहा है—'गुरु गोविन्द दोनो खडे, काके लागूं पाई?" इस प्रकार हम देखते है कि मध्ययुगीन भक्त साहित्य भक्त, भगवान् और गुरु की महिमा से भरा पड़ा है। सभी भक्त अपनी दीनता जताते है, आत्म-समर्पण पर विश्वास रखते है और हरि-कृपा से ही मुक्ति सभव है, ऐसा विश्वास रख सकते है।

ऊपर थोडा सा विषयान्तर हो गया है। किन्तु हम भक्ति युग अब समाप्त कर रहे है और विषयान्तर मे कथित वस्तु का सबध समस्त भक्ति कालीन साहित्य से है। नीचे कृष्णभक्ति-शाखा के प्रमुख कवियो का सक्षिप्त विवरण देने के पूर्व दो चार बाते और कह कर यह भूमिका भाग समाप्त किया जाता है। राम काव्य की भाँति कृष्ण काव्य ने भी आर्य सस्कृति को विजातीय आक्रमणो के प्रबल झझावात से निकाल कर सुदृढमानस भूमि पर स्थापित किया है। भक्ति काव्य ने स्वत सुख के लिए लोक-व्यक्तित्वो की बहुजन हिताथ गाथा को गाकर जनमत मे वितरित कर दिया। लोक सेवा और जन परिष्कार का आदर्श उनके सामने था। यह सेवा आत्म-त्यागमूलक है। यह समस्त सृष्टि भगवान् के प्रेमानन्द से उच्छ्वासित है। परिपूर्ण प्रेममय आनन्द के द्वारा ही उसे अनुभव किया जा सकता है। भक्तिकाल के अन्तर्गत आने वाले सगुण और निर्गुण का लोकपक्ष भी है। राष्ट्र निर्गुण, व्यक्ति या जन सगुण है और प्रत्यक्ष सिद्ध

है। सगुण जन के कल्याण में ही आनन्द है। रस का पूर्ण परिपाक वही होता है। कोरा सिद्धान्तवाद निर्गुण या अमूर्त्त है। जन का जीवन मूर्त्त और प्रेम-दया का पात्र है। हमारे समस्त सिद्धान्तो और मतो को सगुण जन-जीवन की कसौटी पर खडा उतरना चाहिए। जीवन से विमुखता का ही दूसरा नाम शून्यता है। जीवन स्वयं गोपियो की भाँति रस-तृप्ति और सुख-सस्कार का इच्छुक है। भक्ति काव्य मे मर्यादापूर्ण सश्लेषण श्रद्धा और ज्ञान के धरातलो पर हुआ है। ज्ञान के अनेक टुकडे हो सकते है पर मानव की चिरजागृत प्रवृत्ति श्रद्धा की इकाई द्वारा विश्वास और रस की पूर्णता सकलित करती है।

अष्टछाप के कवि

सूरदास—अष्टछाप के कवियो के नाम हम पहले ही दे चुके है। कहना न होगा कि इस मंडली के शिरोमणि महात्मा सूरदास थे। इनके जीवन के सम्वन्ध में थोड़ा बहुत सकेत "चौरासी वैष्णवो की वार्ता" में मिलता है। उसके अनुसार पहले ये साधु के वेश मे गऊघाट पर रहा करते थे। एक दिन संयोगवश स्वामी वल्लभाचार्य से इनकी भेंट हो गई। इस अंधे साधु का पद सुन कर स्वामी जी वड़े प्रभावित हुए और उन्होंने सूरदास को तत्काल अपना शिष्य वना कर अपने पदो में भागवत की कथा का वर्णन करने का आदेश दिया। वाद मे सूरदास के पदो की मार्मिकता देख कर गोवर्द्धन पर स्थित श्रीनाथ के मन्दिर की कीर्तन सेवा इन्ही के सुपुर्द कर दी गई।

सूरदास के जन्म और वंश के सवंध में कई प्रवाद प्रचलित है। कहा जाता है कि इनका जन्म स० १५२९ में सीही ग्राम मे हुआ था। वहाँ से ये रुनकता और गऊघाट पर रहे। एक मत से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते है और दूसरे मत से हिन्दी के आदि कवि चदवरदाई भाट के वंशज। इस छोटी सी पुस्तक में इन प्रवादो को जाँच कर सत्यता का अंश निकालना सभव नही। दूसरे यह साहित्य के गभीर अन्वेपको का काम है।

इसी प्रकार इनके अधेपन के वारे मे भी अनेक कथायें प्रचलित है। कहा जाता है कि एक वार ये कुएँ में गिर पडे। वहाँ श्रीकृष्ण ने दर्शन देकर इन्हें दृष्टि सपन्न कर दिया। किन्तु जिन आँखो से उन्होंने श्रीकृष्ण की छवि निहारी थी उन्ही से इस नश्वर संसार को देखने की इच्छा न हुई। अतः

सूरदास ने अंधे बने रहने का ही वर माँग लिया। अच्छा हो कि हम इस प्रचलित कथा को एक प्रकार का रूपक मान ले। क्योकि रग, रूप आदि के जो सजीव और चित्रोपम वर्णन सूर ने अपने पदो मे किए है, उन्हे पढ कर यह विश्वास करते नही बनता कि वे जन्माध थे। सभव है कुएँ में गिरने के बाद इनकी ज्ञान की आँखे खुल गई हो और इस प्रकार ये अन्तर के चक्षुओ से सपन्न हो गए हो। सूर की वाणी से भी यह सिद्ध नही होता कि ये जन्माध थे। उन्होने आँख के विषय मे बहुत कुछ लिखा है और अनेक रूपो मे लिखा है। "सूरदास की एक आँखि है ताहू मे कछु कानी", "सूरदास सौ कहा निहोरौ, "नैनन हू की हानि", "सूर कूर आँधरौ, मैं द्वार परयौ गाऊँ" आदि न जाने कितने स्थल सूरसागर में आये है जिनसे निष्कर्ष निकलता है कि सूर जन्माध नही थे—हाँ धीरे धीरे अंधे हो गए थे।

सूरदास ने, तुलसी की भाँति अपने काव्य में उतनी व्यापक भावना का समावेश तो नही किया किन्तु तत्कालीन समाज के प्रति वे पूर्ण रूप से जागरूक थे। सूरदास के समय के भारतीय समाज के सामने कोई ऊँचा आदर्श न था। उच्चवर्गीय लोग विलासिता के पंक में फँसे थे। कवि ने बड़ी प्रभावशाली भाषा मे इस पतन का वर्णन किया है। समाज की विषम परिस्थिति देख कर आरभ से ही उनके मन में एक प्रकार की विरक्ति उत्पन्न हो गई थी। किन्तु सूर का हृदय एक बालक का हृदय था और इसी हृदय से उन्होने इस भव की कठिन यात्रा तय कर ली। एक दृष्टि से सूरदास ने राधा और कृष्ण के जिन प्रेम-व्यापारो का वर्णन अपने पदों मे किया है वे बालको के ही प्रेम-व्यापार है। यही कारण है बालक-हृदय की प्रवृत्तियों के चित्रण मे सूर ने जिस सूक्ष्मदर्शिता और अन्वेषण शक्ति का परिचय दिया है वह विश्व साहित्य मे बेजोड है।

सूर के पदो का संग्रह 'सूरसागर' नामक एक बृहत् ग्रन्थ मे किया गया है। इसमें एक ही प्रसंग को लेकर अनेक पदो की रचना की गई है।

जैसा कि डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने हिन्दी के इतिहास मे लिखा है, भक्ति के आवेश मे वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद इस अधे कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमे प्रतिभा का नवोन्मेष भरा हुआ है, उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदयहारिता मे किसी को कुछ भी सदेह नही हो सकता।

कहा जाता है कि सूरसागर* मे सवा लाख पदो का सग्रह था। किन्तु अब तक हमे पाँच या छ. हजार पद ही मिले है। यही उन्हे अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। सूरसागर का आधार श्रीमद्भागवत है। उसमें भागवत की सपूर्ण कथाओ को कवि ने गाया है किन्तु विशेष विस्तार कृष्ण जन्म से लेकर कृष्ण के मथुरागमन तक की घटनाओ को ही दिया गया है। ये पद है तो मुक्तक किन्तु प्रत्येक मे एक भाव अपनी पूर्णता पर पहुँच जाता है। इस दृष्टि से सूरसागर एक वडा गीत-काव्य है। मुक्तक अथवा गीत-काव्य की अपनी कुछ विशेषताएँ होती है। उसमें छोटे किन्तु सुन्दर प्रसगो पर रचना होती है। प्रत्येक गीत स्वय अपने मे पूर्ण होता, भाव अथवा अर्थ के लिए उसे दूसरे गीत का अवलबी नही वनना पडता। किसी एक भाव का वर्णन वडे मार्मिक ढग से किया जाता है। उस वर्णन में विदग्धता तथा तीव्रता भी पर्याप्त मात्रा मे रहती है। इस प्रकार पूरा गीत एक छोटा सा मुकुर वन जाता है जिसमे कवि की एक विशेष समय की मनोदशा पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित हो उठती है। गीत-काव्य की ये सभी विशेषताएँ सूरसागर

---

* गोलोकवासी महाकवि रत्नाकर द्वारा संग्रहीत और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रदत्त सामग्री के आधार पर सूरसागर का सब से प्रामाणिक संस्करण पं० नन्दबुलारे बाजपेयी द्वारा संपादित सभा से प्रकाशित हुआ है। इसमें सूरसागर के समस्त प्रामाणिक उपलब्ध पदों का शुद्ध पाठ मिलता है।

के पदों में पूर्ण रूप से मिलती है। इन पदो में घटनाओ के वर्णन कम है और कठोर भावों को स्थान नही मिला है। पूरे सूरसागर में कथा कहने की प्रवृत्ति नही है। प्रेम, विरह आदि कोमल भावो की तीव्र अभिव्यक्ति ही कवि का उद्देश्य है।

जैसा कि पहले कई वार कहा जा चुका है, ये कृष्ण भक्त कवि कृष्ण की प्रेम मूर्त्ति को ही लेकर चले है। इनके कृष्ण कुरुक्षेत्र के प्रागण में मोह भ्रमित सव्यसाची को कर्तव्य का निर्देश करने वाले कृष्ण नही है। इनके कृष्ण है वालगोपाल और गोपीनाथ जो वाल्यावस्था मे अपनी वाल क्रीड़ा से समस्त गोकुल को मुग्ध करते थे और तरुणावस्था मे व्रज की पनिहारियों से छेड़ छाड़ किया करते थे अथवा शरद पूर्णिमा की शुभ्र राका में रास लीला से गोपियों के जन्मजन्मांतर सार्थक करते थे। कृष्ण का यह मधुर रूप हास विलास की तरंगो से परिपूर्ण अनत सौन्दर्य का सागर है। भक्ति मे वेहोश इन कवियों ने लोक संग्रह की परवाह न की और न इन्हें इस वात का ही ध्यान रहा कि असस्कृत चित्त इस भक्ति माधुर्य को विलासिता के पंक मे घसीट ले जा सकता है।

कृष्ण चरित के गान मे जयदेव और विद्यापति पहले ही अपने पद चिन्ह छोड गये थे। व्रज के भक्त कवियों ने उन्ही का अनुसरण किया। इस प्रकार कृष्ण काव्य मुक्तक मे ही अधिकतर लिखा गया। व्रजवासीदास ने रामायण के ढंग पर कृष्ण चरित लिखा है पर वह वहुत ही मामूली दर्जे का वन पड़ा और न उसका प्रचार ही रामायण के समान हो पाया*। इस

---

*अभी हाल में अवधी भाषा में पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन की कथा अपने महाकाव्य कृष्णायन में चित्रित की है जिसका स्रोत केवल श्रीमद्‌भागवत नहीं है—महाभारत और अन्य पुराण भी हैं। परन्तु यह कृष्ण संप्रदाय की परंपरा का काव्य नहीं है। इसमें कवि ने

सफलता का कारण स्पष्ट है। कृष्ण के जीवन के जिस अश को इन कवियों ने अपने काव्य का विषय वनाया वह प्रवन्ध के लिए पर्याप्त न था। मुक्तक की रचना ही उसमें हो सकती थी। यह विना किसी अति-शयोक्ति के कहा जा सकता है कि मुक्तक के क्षेत्र मे वात्सल्य और शृगार रस को ये भक्त कवि जिस सीमा तक ले गए है, उससे आगे जाना सभव नही है। आगे आने वाले कवियो की इन रसो की रचनायें सूर की जूठन सी जान पड़ती हैं।

सूरदास जी ने चलती हुई व्रजभापा में ही अपने पदो की रचना की है। किन्तु भाषा की मँजावट देख कर यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि व्रजभाषा प्रथम वार ही प्रयुक्त होकर इस रूप में निखर आई। इसी कारण स्व० शुक्ल जी ने अपने इतिहास मे लिखा है कि सूरसागर किसी चली आती हुई गीत काव्य-परपरा का-चाहे वह मौखिक ही रही हो-पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।

सूर और तुलसी हिन्दी काव्य-गगन के वास्तव मे सूर्य और चन्द्र है। यह दोहा प्रसिद्ध है—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल शरीर॥

[1] यह सच है कि सूर का विषय तुलसी के विषय की अपेक्षा सीमित था, किन्तु यह भी इतना ही सत्य है कि अपने सीमित विषय में गहराई की दृष्टि से तुलसी तो क्या ससार का कोई कवि सूर के समकक्ष नही हो

लोक संग्रह की भावना को सम्मुख रक्खा है। कवि ने विभिन्न स्रोतों से संचित घटनाओं को इस कौशल से प्रवद्ध किया है कि कथा की एक-सूत्रता कहीं भी विच्छिन्न नहीं होती है।

सकता। प्रेम के इस साफ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में और कही नही देखने को मिलता। गहरी से गहरी दृष्टि वाल स्वभाव का इससे अधिक और क्या सुदर चित्र दे सकती है—

काहे को आरि करत मेरे मोहन। यों तुम आंगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी॥

अथवा

खलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहि देखत लरिकन संग तबहिं खिझत बल भैया॥
मो सों कहत तात बसुदेव को, देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दे वसुदेव को करि करि जतन बढ़ैया॥

अथवा

मैया मेरी, मैं नहिं माखन खायो।
भोर भये गैयन के पाछे मधुबन मोहिं पठायो॥
चार पहर बंसीवट भटक्यो साँझ परे घर आयो।
मैं बालक बहियन को छोटो छीको किस विध पायो॥
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो।
तू जननी मन की अति भोरी इनके कहे पतियायो॥ इत्यादि

विप्रलंभ शृंगार के सुन्दर पदो के कुछ उदाहरण देखिये—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सो आपै प्राण दह्यौ॥
हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछू कह्यौ।

अथवा जब ज्ञान मदमत्त ऊधव के निर्गुण निरूपण से वियोगिनी ब्रज बालाएँ ऊब जाती है तो अपने प्रिय के संदेश-वाहक से कहती है—

ऊधो योग योग हम नाहीं ।
अबला सार ज्ञान कहा जानै कैसे ध्यान धराहीं ॥
ते ये मूंदन नैन कहत दं हरि मूरत जा माहीं ।
ऐसी कथा कपट की मधुकर हमतें सुनी न जाहीं ॥

भ्रमर गीत सूरसागर का सबसे अधिक मार्मिक अंश है। सूर की एक अन्य बड़ी भारी विशेषता है उनकी नवीन प्रसगो की सृष्टि कर सकने की शक्ति। तुलसी में हमें यह बात नही मिलती। वर्तमान भ्रमरगीत का प्रसंग भागवत में नही आता। यह सूर की प्रसंगोद्भाविनी प्रतिभा का ज्वलंत उदाहरण है।

प० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपनी हिन्दी साहित्य की भूमिका मे लिखते है कि "सूरदास जब अपने विपय का वर्णन शुरू करते है तो मानो अलकार शास्त्र हाथ जोड़ कर उनके पीछे दौड़ा करता है। उपमाओ की बाढ आ जाती है, रूपको की वर्पा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वय बह जाता है। काव्य मे इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है।"

सूरदास न तो ज्ञान मार्गी थे और न समाज-सुधारक। तुलसी की भाँति दृढ़चेता लोकनायक भी नही थे जो सामाजिक कुरीतियो को दूर करने में सरस्वती का तरकश खाली करतें। नन्ददास का तर्क-जाल भी उनके पास नही था। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे जो दुनिया की पचायतो से दूर अपने इष्टदेव और सखा कृष्ण की रूप माधुरी का पान तथा गान किया करते थे। भक्ति विह्वल हृदय की तन्मयता और बेसुधपन उनमें कूट कूट कर भरा है। पुजारी का हृदय किस परिपूर्णता तक उपास्य के श्री चरणो पर समर्पित हो सकता है यह सूर की कविता मे प्रकट हुआ है। उनकी रूप-सज्जा, चित्र बनाने की शक्ति और कला-रचना भी

बेजोड़ है। काल्पनिकता, रसात्मकता, व्यग वैभव और सरसता का ऐसा अनुपम रसायन है जिसने अप्राकृत अलौकिक परब्रह्म की लीला को प्राकृत रूप दे दिया है। हरि लीला के इस मानव रूप से आशा, उल्लास और कर्तृत्व की जो धारा वही उसने निराश हिन्दू जाति को अकर्मण्यता के गह्वर गर्त मे गिरने से बचा लिया।

नंददास—अष्टछाप के कवियो में सूरदास के बाद नंददास का ही नाम लिया जाता है। इनके जीवन के विषय में हमें विशष नहीं मालूम। नाभादास रचित भक्त माल मे इनके विषय में सिर्फ यह पक्ति मिलती है—

'चन्द्रहास-अग्रज सुहृद परम प्रेम-पथ में पगे'

ये विट्ठलनाथ के शिष्य थे और विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ द्वारा लिखित "दो सौ बावन वैष्णवो की वार्त्ता" में इनके जीवन का कुछ वृत्त मिलता है। इसके अनुसार नंददास तुलसीदास के भाई थे। राम के अनन्य भक्त तुलसी को अपने भाई की कृष्ण भक्ति अच्छी न लगी और उन्होंने नन्ददास को कुछ उलाहना दिया। इससे रामायण के समान श्रीमद्भागवत के आधार पर कृष्ण चरित गाने की प्रेरणा नददास को मिली। 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लेव हाथ' मे वर्णित घटना प्रायः सब को मालूम है और इसका आधार भी उक्त वार्ता है। किन्तु ये वृत्त सब कपोलकल्पित हैं और विद्वानो ने इस बात को निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि गोस्वामी जी और नददास का कोई संबध नही था। सिर्फ भक्तो का गौरव बढाने के लिए इन घटनाओ की कल्पना कर ली गई थी।

उपर्युक्त वार्ता के आधार पर इनके जीवन के सबंध में एक और कथा प्रचलित है। ये एक अपूर्व सुन्दरी के प्रेम में पागल हो गए थे और उसके

पीछे गोकुल तक चले गए। वहाँ विट्ठलनाथ के उपदेश से इनका मोह दूर हो गया। इस रूपक का भी शायद इतना ही अर्थ है कि विटठलनाथ जी से इन्होंने दीक्षा ली थी।

इनकी गणना व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियो मे होती है। माधुर्य और सरसता की दृष्टि से इनकी रचनाये निस्सदेह बड़ी सुन्दर हुई है। इनके सवंध में अक्सर कहा जाता है—"और कवि गढिया, नददास जडिया"। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'रास-पचाध्यायी' मे कृष्ण की रासलीला का वर्णन बड़ी ही अलकृत भाषा में किया गया है। सूर की भाषा चलती हुई अधिक है पर नददास की पदावली सस्कृत गर्भित है। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य पुस्तकें ये हैं—भागवत दशम-स्कध, रुक्मिणी मगल, सिद्धान्त-पंचाध्यायी, रूप मजरी, रस मजरी, मान मजरी, विरह मजरी, नाम-चितामणिमाला, अनेकार्थनाममाला, ज्ञानमजरी, दानलीला, मानलीला, अनेकार्थ मजरी, श्याम सगाई, भ्रमर गीत और सुदामा चरित। नददास ने कुछ फुटकर पद भी लिखे है। रासपचाध्यायी के बाद भ्रमरगीत ही इनकी सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना है। भ्रमरगीत मे कवि ने बड़े मार्मिक ढग से विरहिणी गोपियो द्वारा ऊधव के निर्गुण ब्रह्म के उपदेश को धराशायी करके सगुण रूप की महिमा और श्रेष्ठत्व प्रतिष्ठित कराया है। इस रचना से मालूम पडता है कि नंददास सूरदास की अपेक्षा तार्किक ज्यादा और कवि कम थे। नीचे कुछ उदाहरण उनकी रास-पंचाध्यायी और भ्रमरगीत मे से दिये जाते है—

(रासपंचाध्यायी से)

हरि लीला रस मत्त मुदित नित विचरत जग में।
अद्भुत गति कतहुं न अटक ह्वै निकसत मग में॥
नीलोत्पलदल श्याम अंग नव जोवन भ्राजै।
कुटिल अलक मुखकमल मनो अलि अवलि विराजै॥

ललित बिसाल सुभाल दिपति जनु निकर निसाकर।
कृष्ण भगति प्रतिबन्ध तिमिर कहँ कोटि दिवाकर॥
कृपा रंग रस ऐन नैन राजत रतनारे।
कृष्ण रसासव पान अलस कछु घूम घुमारे॥

(भ्रमरगीत)

सुनत श्याम को नाम, ग्राम गृह की सुधि भूली।
भरि आनन्द रस हृदय, प्रेम बेली द्रुम फूली॥
पुलकि रोम सब अंग भये, भरि आये जल नैन।
कण्ठ घुटे गदगद गिरा, बोले जात न बैन॥
व्यवस्था प्रेम की॥

पद

नंदभवन को भूषण माई।
यसुदा को लाल वरि हलधर को, राधारमण परम सुखदाई॥
शिव को धन संतन को सरबस, महिमा वेद पुरानन गाई।
इन्द्र को इन्द्र देव देवन को, ब्रह्मा को ब्रह्म अधिक अधिकाई॥
काल को काल ईश ईशन को, अतिहि अतुल तोल्यो नहिं जाई।
नन्ददास को जीवन गिरिधर, गोकुल गाँव को कुँअर कन्हाई॥

कृष्णदास—ये जाति के शूद्र थे और इनका जन्म स० १५५४ में अहमदाबाद के पास हुआ था। निम्न वर्ग के होने पर भी बाल्यावस्था से ही बडी धार्मिक प्रवृत्ति के थे। अपने पिता द्वारा एक बनजारे को लूटे जाने का विरोध करने के परिणामस्वरूप इन्हे घर से निकाल दिया गया था। ये वल्लभाचार्य के शिष्य थे और स्वामी विट्ठलनाथ की कृपा से श्रीनाथ के मदिर के प्रधान अधिकारी के पद पर प्रतिष्ठित हुए। कहा जाता है कि एक बार इनकी विट्ठलदास जी से किसी बात पर अनबन हो गई।

परिणामस्वरूप विट्ठलनाथ जी के श्रद्धालु राजा बीरबल ने इन्हें कारागार में बन्द कर दिया और उनके यहाँ से मुक्ति गोसाईं जी की कृपा से ही हुई। बाद में इन्हें फिर से मन्दिर के प्रधान पूजक का पद मिल गया। इनकी कविता का विषय राधाकृष्ण का प्रेम रहा है। कविता साधारण कोटि की हुई है। नंददास और सूरदास की कविता से उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती। कविता शृंगार रस प्रधान है। इनके ग्रंथ ये हैं—जुगलमान-चरित्र, भ्रमर गीत और प्रेम-तत्त्व निरूपण।

उदाहरणार्थ एक पद नीचे दिया जाता है—

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंद सुवन के संगम सुखकर अधिक विराजति गोपी॥
मनहुँ विधाता गिरिधर पिय हित सुरतधुजा सुख रोपी।
बदन कांति कै सुन री भामिनी! सघन चंद श्री लोपी॥
प्राननाथ के चितचोरन को भौंह भुजंगम कोपी।
कृष्णदास स्वामी बस कीन्हें, प्रेम पुंज की चोपी॥

परमानन्ददास—ये कन्नौज में पैदा हुए थे और इनका जन्म सं० लगभग १५५० है। ये वल्लभाचार्य के शिष्य और अष्टछाप में थे। एक भावुक कवि होने के अतिरिक्त ये अच्छे संगीतज्ञ भी थे। इनके फुटकर पदों का संग्रह परमानन्द सागर में है। इनके पदों में सरसता तो है ही, तन्मयता का गुण भी काफी अधिक मात्रा में पाया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि इनके एक भावपूर्ण पद को सुनकर आचार्य वल्लभ भक्ति के आवेश में ऐसे रहे कि कई दिनों तक वे पूर्ण स्वस्थ न हो सके। इनकी अन्य पुस्तकें ये हैं—दान लीला और ध्रुव चरित्र। इनका एक बहु उद्धृत पद नीचे दिया जाता है—

कहा करौं बैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय ।।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छाँय ।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तज मेरी जाय बलाय ।।

कुंभनदास—ये परमानन्ददास के समय मे वर्तमान थे। ये अष्टछाप के कवि और वल्लभाचार्य के शिष्यो में से थे। इनका जन्म सं० १५२५ के लगभग है। ये अत्यन्त ही निस्पृह और संत स्वभाव के व्यक्ति थे। सासारिक समृद्धि और यश से सदा दूर भागते थे। कहा जाता है कि एक बार अकबर ने इन्हे फतहपुर सीकरी बुलाया और इनका बड़ा सम्मान किया। किन्तु यह प्रतिष्ठा इनका चित्त सदा दु:ख से भरती रही। इन्होने अपने एक पद मे लिखा भी है—'संतन को कहा सीकरी सो काम ?"

इनकी कोई रचना नही पाई जाती। केवल फुटकल पद ही मिलते हैं। उदाहरणार्थ एक पद नीचे दिया जाता है—

संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरि-नाम ।।
जिन को मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम ।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबे बेकाम ।।

चतुर्भुजदास—ये कुभनदास के पुत्र थे और इनका जन्म सवत् १५९७ के लगभग है। ये भी अष्टछाप के एक कवि थे और गोसाई विट्ठलनाथ से इन्होने दीक्षा ली थी। इनकी भाषा मे अच्छी व्यवस्था है। ये बाल्यावस्था से ही सगीत में रुचि रखते थे। इनका मृत्यु सवत् १६४२ है। इनकी निम्नलिखित पुस्तकें मिली हैं—भक्ति प्रताप, द्वादशयश, हितजू को मगल। इनकी रचनाओ में कवित्व की अपेक्षा सगीत की मात्रा अधिक है। उदाहरण के लिए एक पद नीचे दिया जाता है—

रस ही में वश कीने कुँवर कन्हाई ।
रसिक गोपाल रस ही रीझत रस मिल रस त्यज माई ॥
पिय को प्रेम रस सुन्यो है रसीली बाल रस मै बचन श्रवन सुखदाई ।
चतुर्भुज प्रभु गिरिवर सब रसनिधि रसता मिलि है रहसि हृदय लपटाई

छीत स्वामी—सं० १५७२ के आसपास मथुरा में इनका जन्म हुआ था। पहले ये मथुरा में पडागिरी करते थे और राजा बीरबल ऐसे सपन्न लोग इनके यजमानो में से थे। सं० १५९२ के आसपास ये विट्ठलनाथ जी से दीक्षित हुए और इन्होनें सब उद्दडता छोड कर कृष्ण भक्ति मे अपना मन लगाया। इनके कोई ग्रथ विशेष प्राप्त नही हुए। केवल फुटकर पद ही इधर उधर दिखाई पड़ते है। शृगार रस के अतिरिक्त ब्रज के प्रति प्रेम-भावना भी इनकी कविता में पाई जाती है। किन्तु उसमें कोई खास खूबी नही। इनका एक पद दिया जाता है—

भोर भए नवकुंज-सदन तें आवत लाल गोवर्द्धनधारी ।
लट पर पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी ॥
बिनु-गुन माल बिराजति उर पर, नखछत द्वैजचंद अनुहारी ।
छीत स्वामि जब चितए मो तन, तब हौं निरखि गई बलिहारी ॥

गोविंद स्वामी—ये भरतपुर राज्य के आतरी गाँव में स० १५६२ के लगभग पैदा हुए थे। समवतः ससार से विरक्त हो महावन में स्थायी रूप से रहने लगे थे। पीछे ये गोस्वामी विट्ठलनाथ के ससर्ग मे आये और उन्ही से दीक्षित होकर अष्टछाप में शामिल हो गए। इनका रचनाकाल स० १६१२ के आसपास माना जा सकता है। गोवर्द्धन पर्वत के पास ही इन्होने कंदब का एक उपवन लगवाया जो आज तक 'गोविन्द स्वामी की कदब खडी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये अच्छे सगीतज्ञ भी थे और कहा जाता है कि तानसेन कभी कभी इनका गाना सुनने आया करते थे।

इनकी कोई अलग पुस्तक नही मिलती। केवल फुटकल पद ही मिलते हैं। इनके बारे में यह कहा जाता है कि ये अपने बनाये पद लोगों को सुनाने के बाद यमुना मे फेक दिया करते थे। इनकी भतीजी ने जो पद चुरा कर बचा लिए थे वे ही हमे प्राप्त हुए हैं। कविता तो इनकी साधारण है पर कृष्णभक्ति से भीगी हुई है। एक उदाहरण दिया जाता है—

कही न परै हो रसिक कुँवर की कुँवराई।
कोटि मदन नख ज्योति बिलोकत परसत नव इंदु किरण की जुन्हाई ॥
कंकण वलय हार गजमोती देखियत अंग अंग में वह आई।
सुघर सुजान स्वरूप सुलक्षण गोविंद प्रभु सब विधि सुन्दरताई ॥

ऊपर अष्टछाप* के अन्तर्गत आने वाले आठो कवियो के जीवन और रचना के संबंध में संक्षिप्त विवरण दिया गया है। यह नही समझना चाहिए कि कृष्णभक्त कवियो की संख्या यही खत्म हो जाती है। यह परंपरा तो दीर्घ काल तक चलती रही। किन्तु अष्टछाप ने अपने संगीत और भक्ति से भीगे पदो द्वारा वैष्णव मत के फैलाने में विशेष सहायता पहुँचाई। अतः महत्व की दृष्टि से कृष्ण कवियो की परपरा मे अष्टछाप को ही शीर्ष स्थान दिया जाता है। नीचे लिखे दोहे से अष्टछाप के कवियों का नाम सरलता से याद रखा जा सकता है—

---

*अष्ट छाप के कवियों के जीवन वृत्त और रचनाओं पर डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने महाग्रन्थ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय" में बड़ी प्रामाणिकता और विस्तार से विचार किया है। बड़े अधिकार और मार्मिक रसानुभूति के साथ विद्वान आलोचक और अन्वेषक ने इन सन्त कवियों के जीवन दर्शन और जीवन विज्ञान पर विचार किया है।

नन्द चतुर्भुज छीत (युत) गोविन्द स्वामी (धार)।
सूर, कृष्ण परमानन्द, कुंभनदास विचार ॥

अष्टछाप के बाद भी कृष्णकाव्य-परपरा में अनेक कवि हुए है जिनका हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना स्थान है। कृष्णभक्ति की जो धारा अष्टछाप से निकल कर बही उसे इन अन्य कवियों ने अपनी कविता की सहायक धाराओ से और भी पुष्ट किया। आगे हम अब इन्ही कवियो की रचनाओ और जीवन का सक्षिप्त परिचय देगे।

हितहरिवंश—इनका जन्म स० १५५९ में मथुरा के पास वाद गाँव में हुआ था। ये एक नये सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे और अष्टछाप के बाहर ब्रजभाषा मे कृष्णभक्ति के गीत गाने वालो में इनका उच्च स्थान है। इन्होंने राधावल्लभी संप्रदाय चलाया जिसमे राधा की उपासना पर जोर दिया। इन पर माध्व और निंबार्क मत का प्रभाव लक्षित होता है। पहले हितहरिवंश गोपाल भट्ट के शिष्य थे। कहते है कि राधा ने एक बार इन्हे सपने मे मंत्र दिया और उसी समय से इन्होंने राधा-वल्लभी सप्रदाय की स्थापना की।

ये अकसर वृन्दावन मे रहा करते थे और सस्कृत के प्रकाण्ड पडित थे और भाषा-काव्य की अच्छी जानकारी रखते थे। इन्होंने सस्कृत में १७० श्लोको का 'राधा सुधानिधि' नाम का एक ग्रथ लिखा है। ब्रजभाषा में आपने लिखा तो थोड़ा ही है किन्तु जो कुछ भी लिखा है वह अत्यन्त सरस और हृदयग्राही है। आपके द्वारा रचित ८४ पदो का सग्रह "हित चौरासी" के नाम से प्रसिद्ध है। प्रेमदास ने ब्रजभाषा गद्य मे इस ग्रथ की ५०० पृष्ठो की एक वृहत् टीका की है।

ब्रजभाषा काव्य के सौन्दर्य को बढाने में हितहरिवंश के पदो ने बड़ा कार्य किया। सेवक जी, ध्रुवदास आदि इनके अच्छे शिष्य हुए जो अच्छे कवि भी हो गए है। हितहरिवंश जी की रचना में माधुर्य विशेष रूप

से पाया जाता है। यही कारण है कि आप कृष्ण की वंशी के अवतार माने गए हैं। इन्होंने सिद्धांत सम्बन्धी पद्यो की भी रचना की है। कवि लोकनाथ ने इनके 'हित चौरासी' पर एक टीका लिखी। वृन्दावनदास की 'हितजी की सहस्र नामावली' और चतुर्भुजदास की 'हितजू को मगल' में हितहरिवश जी की प्रशंसा की गई है। हरिपरमानन्द और व्रजजीवनदास ने भी इनकी वन्दना मे कुछ लिखा है। नीचे हितहरिवश जी की रचना के कुछ उदाहरण दिये जाते है—

चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर।
तो बिन कुंवर कोटि वनिता जुत मथत मदन की पीर॥
गदगद सुर बिरहाकुल पुलकित श्रवण विलोचन नीर।
क्वासि क्वासि वृषभाननंदिनी विलपत विपन अधीर॥
बंसी बिसिखि व्याल मालावलि पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल हुतासन मारुत साखामृग रिपु चीर॥
'हित हरिवंस' परम कोमल चित सपदि चली पिय तीर।
सुनि भयभीत व्रज को पिजर सुरत सूर रनबीर॥

गदाधर भट्ट—ये दक्षिण के ब्राह्मण थे। इनके जीवन के बारे मे हम विशेष नही जानते। एक बात प्रसिद्ध है कि चैतन्य महाप्रभु इनसे भागवत सुना करते थे। बाद मे ये उन्ही के शिष्य हो गए। 'भक्तमाल' मे भी इनका नाम आता है। इनकी रचना में भक्ति की तन्मयता मिलती है। ये सस्कृत मे पारगत थे अत. इनकी भाषा सस्कृत गर्भित है। कुछ पक्तियाँ उदाहरण स्वरूप उद्धृत की जाती है—

झूलति नारि नागर लाल।
मंद मंद सब सखी रे झुलावति, गावति गीत रसाल॥
फरहरात पट पीत नील के, अंचल चंचल चाल।
मनहुँ परस्पर उमगि ध्यान छबि प्रकट भई तिहि काल॥

सिलसिलात अति प्रिया सीस तें लटकति बेनी भाल।
जनु पिय-मुकुट-बरहि-भ्रम बस तहँ व्याल विकल बिहाल ॥ इत्यादि

मीरॉबाई—इनका जन्म स० १५७३ में चोकड़ी नामक गाँव में हुआ था। ये मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री और उदयपुर के महाराज भोजराज की रानी थी। आरभ से ही इनके मन में ईश्वर प्रेम था। विवाह के कुछ समय पश्चात् ही ये विधवा हो गई। सासारिक जीवन का एक मात्र सहारा उठ जाने से इनकी भगवत भक्ति की प्रवृत्तियाँ अधिक वेग से जागृत हो गई और ये मन्दिरो में कृष्ण की मूर्ति के सामने नृत्य करके और गा के अपने भगवान् कृष्ण की भक्ति में लीन रहने लगी। घरवालो को मीरा का लोक और कुलमर्यादा को इस प्रकार तिलाजलि देना अच्छा न लगा। कहा जाता है कि घर वालो ने कई बार इन्हें विष देकर मारने तक की चेष्टा की पर भगवान् की कृपा से मीरा का बाल बाँका न हुआ। अत में घबरा कर मीरा ने घर छोड़ दिया और द्वारका तथा वृन्दावन के मन्दिरो में भजन गाकर अपना समय व्यतीत करने लगी। भक्त मडली और साधारण लोगो में इनका देवी के समान आदर होता था। ऐसा कहा जाता है कि मीरा और तुलसीदास का कुछ पत्रव्यवहार भी हुआ था। पत्र में मीरा ने अपने साथ होने वाले दुर्व्यवहार और भक्ति में विघ्न का जिक्र किया था। तब तुलसीदास जी ने यह पद लिख कर भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो नर तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥ इत्यादि

किंतु १६०३ में मीरा की मृत्यु द्वारका में हो चुकी थी अतः यह घटना कल्पना की उपज ही जान पडती है।

मीरा ने माधुर्य भाव से कृष्ण की उपासना की थी। इसका यह अर्थ है कि कृष्ण को ये पति के रूप में देखती थी। इनमें और सूफी उपासना

मे काफी समानता है। अतः इसे सूफी प्रभाव भी कहा जा सकता है। मीरा का नाम भारत के प्रसिद्ध भक्तो मे गिना जाता है। ये स्त्री-पुरुष सब के सामने बिना किसी की पर्वाह किए कृष्ण की मूर्ति के सामने नाचा और गाया करती थीं क्योंकि लज्जा करने की आवश्यकता तो इन्हें केवल अपने प्रिय पति और उपास्यदेव कृष्ण के सामने ही हो सकती थी। इनके सम-कालीन तथा उत्तरकालीन सभी भक्तो ने श्रद्धापूर्वक इनका नाम लिया है। जहाँ तक इनके गीतो की रस माधुरी का सबध है वह हिन्दी गीति काव्य मे निरुपम है। मीरा के प्रेम में मानवीय परिपूर्ति की आकाक्षा होते हुए भी ऐन्द्रिकता नही है। सामाजिक आलोचना, लोकोपवाद और बदनामी के सामने वह कभी कुठित नही हुई। इसीलिए मीरा की व्यथा उस प्रकार की सोची हुई—समझी हुई और पहले से सुनिश्चित नही लगती जैसी मतवादी वेदनावादियो की वेदना। वियोग, मिलन, विनय, वन्दना, लीला, आत्म परिचय, त्योहार वर्णन, उपालभ, प्रीति निवेदन, जोगिनी रूप मे निवेदन, राम को सबोधन, सतगुरु प्रशसा सब मीरा ने अपने स्वरो में गाया है।

इनके कुछ पदो में तो राजस्थानी मिश्रित भाषा मिलती है पर अन्य पदो में शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा। इनकी कविता की विशेषता है इनकी प्रेम तल्लीनता जिसकी छाप इनकी एक एक पक्ति पर दिखाई पड़ती है। भारतवर्ष मे मीरा के पद आज घर-घर गाये जाते है। इनके लिखे ग्रंथों के नाम ये हैं—नरसी जी का मायरा, गीत गोविंद टीका, राग गोविन्द और राग सोरठ के पद। उदाहरणार्थ एक पद नीचे दिया जाता है:—

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोणा होय॥
गगन मंडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाने, की जिन लाई होय॥
जौहरी की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय।

दरद की मारी बन बन डोलूं, बैद मिल्या नहिं कोय ॥
'मीरां' की प्रभु पीर मिटेगी, जब बैद संवलिया होय ।

स्वामी हरिदास—ये अकबर के समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ और तानसेन के गुरु थे। अपने समय के प्रसिद्ध भक्तो में इनकी गिनती थी। इनके जन्म के संबंध में कुछ विशेष नही मालूम। इनका कविताकाल सं० १६०० से १६१७ तक है। इन्होंने टट्टी सम्प्रदाय स्थापित किया जो निंबार्क मत की शाखा कही जा सकती है। ऐसा कहा जाता है कि एक वार अकबर छद्मवेष में तानसेन के साथ इनके घर गया। तानसेन ने हरिदास के समक्ष गाते समय जानबूझ कर गलती कर दी जिससे हरिदास को उस भूल को सुधारना पडा। इस युक्ति से अकबर ने इनका गाना सुना।

सहचरिसरनदास इनकी शिष्य-परंपरा में से थे। उन्होंने हरिदास को सनाढ्य ब्राह्मण लिखा है। इनके पदो मे ब्रजभाषा के अन्य कवियो की रचना की भाँति कोमलता और सरसता कम है। किन्तु भाव बहुत ऊँचे हैं। कही कही तो पदो में ऊबड-खाबडपन मालूम होता है। इनके पद ऊँची राग-रागिनियो में गाने के उपयुक्त है।

सूरदास मदनमोहन—ये गौड़ीय संप्रदाय के वैष्णव तथा अकबर के समय में संडीले के अमीन पद पर काम करते थे। इनके बारे में एक कथा प्रसिद्ध है। ये साधु सेवा के बड़े प्रेमी थे। एक समय मालगुजारी का बहुत सा पैसा सरकारी खजाने मे दाखिल करने के लिए इनके पास आए। सरकारी पैसो से इन्होंने खूब भंडारा किया और साधुओ को खूब जिमाया। संदूको में पैसे के स्थान पर कंकड़ पत्थर भर दिये और चुपचाप निकल गये। अकबर ने जब यह किस्सा सुना तो इन्हें बुलाया और माफ कर दिया। किन्तु फिर ये नौकरी के झमेले में नही पड़े। वृन्दावन में ही रहने लगे। ये बड़ी सरस कविता करते थे। इनके अनेक पद तो सूरसागर मे मिल गए हैं। उदाहरणार्थ एक पद देखिये—

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया॥
करत विनोद तरनि-तनया तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरिया।
यों लपटाइ रहे उर अंतर मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया॥
उपमा को घन दामिनि नाहीं, कँदरप कोटि वारने करिया।
सूरमदन मोहन बलि जोरी नंदनंदन वृषभानु दुलरिया॥

श्री भट्ट—इनका जन्म स० १५९५ के लगभग हुआ था। ये केशव काश्मीरी के शिष्य थे और निंबार्क मत के मशहूर विद्वान थे। इनकी कविता साधारण है और चलती भाषा में लिखी गई है। 'युगल शतक' नामक इनका एक ग्रथ है जिसमें १०० पदो का सग्रह है। कृष्ण भक्तों में इस सग्रह का बहुत आदर है। ये अपने पदो को बड़ी तन्मयता से गाते थे। एक पद देखिये—

भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामा जू की सुरंग चूनरी, मोहन को उपरैना॥
स्यामा स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियो कछु मै ना।
श्री भट उमड़ि घटा चहुँ दिसि से घिर आई जल-सेना॥

व्यास जी—ये ओरछा के रहनेवाले थे। पहले ये गौड संप्रदाय के वैष्णव थे किन्तु बाद में राधावल्लभी सप्रदाय में शामिल हो गये थे। जाति के ये सनाढच ब्राह्मण थे और ओरछा के राजा मधुकरसाह के गुरु थे। हितहरिवश के शिष्य होकर राधावल्लभी होने के पहले ये बड़े तार्किक स्वभाव के थे। तर्क के डडे से सदा दूसरे पडितो को पीटने को तैयार रहते थे। एक बार वृन्दावन में हितहरिवश को इनके चुनौती देने पर गोसाई जी ने नम्रतापूर्वक उत्तर मे यह पद कहा—

यह जो एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायो।
जहँ तहँ विपति जार जुवती ज्यों प्रगट पिंगला गायो॥

इस पद के सुनते ही व्यास का तर्क-हिम तत्काल पिघल गया और ये गोसाईं जी से दीक्षित होकर राधावल्लभी हो गये। पीछे ओरछा नरेश ने इन्हें साथ ले जाने का प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे।

अन्य अधिकाश कृष्ण भक्तो की अपेक्षा इन्होंने अधिक लिखा है और इनकी रचना में विषयो की बहुलता भी पाई जाती है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों पर इन्होने लिखा है। इन्होंने एक रासपचाध्यायी की भी रचना की है। इनके एक पद की कुछ पक्तियाँ देखिये—

आज कछु कुंजन में बरषा सी।
बादल दल में देखि सखी री! चमकति है चपला सी॥
नान्हीं-नान्हीं बूँदन कछु धुरवा से, पवन बहै सुखरासी।
मंद मंद गरजति सी सुनियतु, नाचति मोर-सभा सी॥ इत्यादि

रसखान—इनके संबध में कई प्रवाद प्रचलित हैं। शायद ये उस समय के राजकुल से सबधित हो। ये बड़े ही रसिक, आनदी और प्रेमी जीव थे। गोस्वामी गोकुलनाथ कृत दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता मे इनके जीवन की घटनाओ का उल्लेख मिलता है। ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे। युवावस्था मे ये बडे उच्छृङ्खल प्रेमासक्त थे। एकाएक इनके हृदय में कृष्ण के प्रति भक्ति उत्पन्न हुई और ये श्रीनाथ जी को ढूँढते ढूँढते गोकुल आए। वहाँ इनका प्रेममय हृदय तत्काल कृष्णोन्मुख हो गया, और इन्होंने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ले ली। कृष्ण प्रेम की मस्ती में इस भावुक कवि के मुँह से जो भक्ति के कवित्त-सवैये निकले उनका ब्रजभाषा काव्य साहित्य में अपना स्थान है। कालांतर में रसखान शब्द स्वय कवित्त-सवैया का पर्यायवाची हो गया। इनकी कविता अत्यन्त अप्रयत्न-साधित और सरस हुई है। शब्दो से खिलवाड उसमें नही मिलता। चलती हुई ब्रजभाषा की सफाई इनकी और घनानद की रचनाओ में देखते

ही वनती है। वह अनुपम है। इन्होने लिखा तो कम है किन्तु जो कुछ लिखा है वह हृदयस्पर्शी है। 'प्रेम-वाटिका' और 'सुजान-रसखान' नामक इनके दो ग्रथ अव तक प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने ज्यादातर कवित्त-सवैयो का ही उपयोग किया है। इनका एक रसीला सवैया देखिये—

आयो हुतो नियरे रसखानि कहा कहूँ तू न गई वहि ठैया।
या ब्रज में सिगरी बनिता सव वारति प्रानिनि लेत बलैया॥
कोऊ न काहू की कानि करै कुछ चेटकसो जु कर्‌यो जदुरैया।
गाइगो तान जमाइगो नेह रिझाइगो प्रान चराइगो गैया॥

ध्रुवदास—इनके जीवन के संबंध में हमें विशेप कुछ नही मालूम। ये सपने मे हितहरिवश के चेले वन गये थे। इनकी रचनाओं मे कवित्त, सवैये, चौपाई आदि सभी प्रयुक्त हुए हैं। इनकी रचनाओं का परिमाण बहुत अधिक है और इनकी छोटी वडी कुल मिला कर ४० पुस्तकें मिलती हैं। नाभा जी की प्रणाली पर इन्होने 'भक्तनामावली' लिखी है जिसमें अपने समय तक के भक्तो के वारे मे लिखा है।

अब यहाँ हम कृष्ण भक्तो की परपरा का विवरण समाप्त करते है। इसका यह अर्थ नही समझना चाहिए कि इसके बाद कवियो ने कृष्ण भक्ति पर कुछ कविता लिखी ही नही। यत्र-तत्र इस परपरा के कवि होते ही रहे जिनका वर्णन यथास्थान किया जायगा। एक वात ध्यान मे रखने की यह है कि कृष्ण-काव्य हमारे हिन्दी-साहित्य का गौरव है। कौन जाने रस की इस धारा के अभाव मे भग्नहृदया भारतीय जनता का मन कितना शुष्क होता और कितना कष्ट पाता। एक विशेष वात मुझे यह लगती है कि कृष्ण काव्यधारा में—मेरा मतलब केवल भक्तिकालीन धारा से है—ऊपर से देखने में जो संभोग सुलभ ऐन्द्रिकता लगती है वह अपने प्रभाव में सूक्ष्म अतल-प्रवाहिनी रागात्मकता का रूप ले लेती है। व्यक्ति का विलास तत्त्व के प्रकाश मे परिणत हो जाता है। इस काव्यधारा में प्रेम के देवता

की अनोखी सर्वव्यापकता है। कृष्ण काव्य में हम एक शोधक प्रभाव पाते हैं जिससे आन्तरिक ठहराव और प्रवृत्तियों का मांगलीकरण होता है। पौराणिक-ऐतिहासिक कृष्ण भगवान् के—ईश्वरता के ऊँचे सिंहासन से उतर कर जन जन के साथ अत्यन्त निकट का मानवीय संबंध स्थापित कर लेते हैं। स्वयं भगवान् अपने पारलौकिक अस्तित्व को समाप्त कर प्रेम की परिपूर्णता और रसनिष्ठा के प्रतीक बन गए हैं।

भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ

यह पहले कहा जा चुका है कि भारतीय चिंतावारा का जो स्वरूप साहित्य क्षेत्र मे भक्तिधारा के रूप मे प्रकट हुआ उसे पूर्णतः मुस्लिम आक्रमण और शासन का परिणाम नही कहा जा सकता। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम और सूर के प्रेम-मूर्त्ति कृष्ण अकवर द्वारा स्थापित सुख और शाति के फल नही थे। इसके साथ साथ यह भी सच है कि अकवर के समान योग्य और गुणग्राही राजा का आश्रय पाकर हिन्दी-साहित्य के कुछ अगो को काफी प्रोत्साहन मिला और इसके परिणाम स्वरूप एक नये ही प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो गया। इस नवोद्-भूत साहित्य की कोई निश्चित रूपरेखा न थी। शायद यह साहित्य की कुछ दवी प्रवृत्तियो का उत्थान था।

मुसलमान शासक कट्टर थे अतः भारतीय सस्कृति उन्हे विशेष रूप से प्रभावित न कर सकी। किन्तु अकवर की उदारता ने दोनों भुजाओ से भारतीय सस्कृति को अक में समेटने की कोशिश की। एक वार फिर कला और साहित्य के क्षेत्र मे उत्साह की लहर दौडने लगी। अकवर का नवरत्न दरवार मशहूर ही है। छोटे मोटे राजाओ के यहाँ कविता सुना कर अपना निर्वाह करने वाले कवि अव शाही दरवार में वुलाये जाने लगे। स्वय अकवर ने भी व्रजभाषा में कुछ कविता करने की कोशिश की।

इस अनुकूल वातावरण ने हिन्दी साहित्य को निश्चित आगे वढाया। वीर, श्रृगार और नीति की कविताओं का जोर फिर होने लगा। ध्यान मे रखने की वात है कि इस काल में भी हिन्दी नाटक क्षेत्र में कोई विशेष

उन्नति नही हुई। अब इस धारा के कुछ प्रमुख कवियो का हम सक्षिप्त विवरण देते हैं। एक और बात ध्यान में रखने की है। इस सुख और शांति के काल में यह स्वाभाविक था कि साहित्यकार कलापक्ष की ओर ध्यान देते। लक्षण-ग्रंथ काफी सख्या में लिखे गये और अलंकार तथा रसनिरूपण मे कवियो ने काफी दिलचस्पी दिखाई। इस प्रकार आने वाले रीति-काल की भूमिका इस समय तैयार होने लगी। राजा महाराजा या मध्यवर्ग के पंडित, वैश्य, क्षत्रिय या कायस्थ समाज का जीवन निश्चित परिपाटी में बँध गया था। फल स्वरूप काव्य भी परिपाटियो और रीतियो में बँधने लगा। कवियो का ध्यान भक्ति, नीति और आचार की ओर तो रहा ही अब वह लौकिक प्रेम के विविध रूपो को भी सामने रखने लगा। पौराणिको और सगुण वैष्णव भक्तों के कारण संतत्व की जो प्रगतिशील शक्तियाँ आई थी वे अब दबने लगी और मुगलो के विलास-वैभव से चमत्कृत सामन्त और जनता शृंगार समन्वित कृष्ण-भक्ति की ओर झुकी।

नरोत्तम दास—इनका जन्म सीतापुर जिले के बाडी कसबे में हुआ था। इनकी जाति आदि का पता नही चलता। शिवसिंह सरोज के अनुसार ये सं० १६०२ में मौजूद थे। इनका नाम इनके छोटे से खण्ड-काव्य सुदामा चरित के कारण प्रसिद्ध हो गया है। जान पडता है ये अच्छे कवि थे। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनके वर्णन इतने अच्छे होते है कि एक दम हृदय पर प्रभाव डालते है। ये हृदय के भावुक थे। भाषा बहुत ही मँजी हुई है। भरती का मसाला इसमें नही पाया जाता। कहते है कि इन्होने ध्रुव चरित नामक एक और खड काव्य लिखा है किन्तु वह नही मिलता है। उदाहरणार्थ एक सवैया दिया जाता है जिसमें कृष्ण की करुणा और शरणागत वत्सलता बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित की गई है—

कैसे बिहाल बिवाइन सों भए, कंटक जाल पड़े पग जोए।
हाय महादुख पाए सखा, तुम आए इतै न, कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुओ नहीं, नैनन के जल सों पग धोए॥

गंग भट्ट—ये अकबर के दरबारी कवि थे और अपने समय में इनकी अच्छी ख्याति और प्रभाव था। इनका जन्म अथवा मृत्यु-संवत् हमे नही मालूम। रहीम इनकी बहुत इज्जत करते थे। इन्होंने शृङ्गार और वीर रस की बहुत अच्छी और प्रभावपूर्ण कविता की है। गोसाईं चरित में लिखा है कि ये एक हाथी के द्वारा मरवा डाले गये थे। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि ये बडे निर्भीक और स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। भिखारीदास की यह पंक्ति इनके संबंध में प्रसिद्ध है—

'तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार'

हमे गग की कोई पूरी कृति नही मिलती। जो कुछ फुटकल पद मिलते है उनके आधार पर इतना निश्चित कहा जा सकता है कि ये शृङ्गार और वीर रस के उत्तम कवि थे। अलकार प्रचुर रूप से प्रयुक्त किये गए है। एक उदाहरण दिया जाता है—

बैठी थी सखिन संग पिय को गवन सुन्यो,
सुख के समूह में वियोग आग भरकी।
गंग कहै त्रिविध सुगन्ध लै पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई बिथा जर की॥
प्यारी को परस पौन गयो मानसर पहँ,
लागत ही औरे गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो पंक सूख्यो भूमि दरकी॥

बल्भद्र मिश्र—ये महाकवि केशव के अग्रज और ओरछा के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १६०८ के लगभग हुआ था। 'नखसिख' नामक इनकी एक पुस्तक मिली है जिसको पढ कर जान पड़ता है कि काव्य और अलकार शास्त्रो मे पारगत थे। इनकी पुस्तक की रचना कुछ कुछ आचार्यत्व के ढंग पर हुई है। गोपाल कवि द्वारा रचित 'नखसिख' की टीका में मिश्र जी के अन्य ग्रन्थों का उल्लेख है किन्तु वे हमें नही मिलते। इनकी गणना रीति काल के कवियो में की जाती है।

केशवदास—इनके जन्म और मृत्यु संवत १६१२ और १६७४ है। संस्कृत में पांडित्य इनके घराने की विशेषता थी। केशव ओरछा नरेश के भाई इंद्रजीत सिंह की सभा मे रहते थे। वहाँ इनकी बहुत इज्ज़त थी। इस वातावरण में पल कर एक अच्छा साहित्य-शास्त्री हो जाना केशव के लिए स्वाभाविक था। यो तो केशव के पहले ही से रस अलंकार आदि काव्यांगो पर पुस्तकें लिखी जाने लगी थी किन्तु विशुद्ध शास्त्रीय पद्धति से साहित्य-निरूपण का सिलसिलेवार काम इन्होने शुरू किया। इन्हे हम हिन्दी में चमत्कारवाद और रचना कौशल का सबसे बड़ा कवि मान सकते है। इन्होनें रस की अपेक्षा अलकार को श्रेष्ठ मान कर उसे ही काव्य की आत्मा माना है। छन्दो की विविधता, वाग्वैदग्ध का प्रदर्शन और उक्ति निपुणता इनमें कूट कूट कर भरी है। कही कही चमत्कार के लोभ मे इनकी कल्पनाएँ बडी अनर्गल हो गयी है। पर जहाँ इनमें हृदय की वास्तविक प्रेरणा मिलती है वहाँ उच्च कोटि का काव्यत्व भी पाया जाता है। कठिनता और अर्थ दुरूहता का जैसे इन्हे व्यसन था।

केशव ने रसिक-प्रिया और कवि-प्रिया नामक उत्कृष्ट काव्य ग्रंथों की रचना करके उनमें रस, अलंकार आदि का विस्तृत रूप से निरूपण

प्रकृति का इनका अवलोकन मौलिक और परपरा से अलग है। किसी अन्य किया। स० १६५८ मे इन्होंने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचन्द्रिका' की रचना की। इस काव्य मे इनके पाडित्य का सर्वोत्तम प्रदर्शन हुआ है। प्रबध काव्य की दृष्टि से 'रामचंद्रिका' रामायण के समकक्ष नही पहुँचती किन्तु काव्य-कला और नाटकीय सवादो की दृष्टि से निस्सन्देह वह एक उत्कृष्ट कोटि का काव्य है। काव्य मर्मज्ञ ही उसका पूर्ण रसास्वादन कर सकते है। इसके अतिरिक्त इन्होने विज्ञान-गीता, वीरसिंह-देव चरित्र, रतन बावनी और जहाँगीर-जस-चद्रिका भी लिखी है।

केशव की कविता बड़ी दुर्बोध है। इन्हे 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा गया है। इन्होंने रस, अलकार, छदादि का एक विशेष शैली से पूर्ण निरूपण किया है। अत. इन्हे यदि रीतिकाल के प्रवर्त्तक और प्रथम आचार्य माने तो कुछ अनुचित न होगा। एक छद देखिये—

विधि के समान हैं विमानी कृत राजहंस,
विविध विबुध-युत मेरु सो अचल है।
दीपति विपति अति सातौ दीप देखियत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है॥
सागर उजागर सो बहु बाहिनी को पति,
छनदान प्रिय कैधों सूरज अमल है।
सब विधि समरथ राजै राजा दशरथ,
भगीरथ-पथ-गामी गंगा कैसो जल है।

सेनापति—ये अनूपशहर जिला बुलन्द शहर के रहने वाले कान्य-कुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्मकाल सवत् १६४६ के आसपास माना जाता है। मृत्युकाल का ठीक पता नही चलता। ये बड़े सहृदय कवि थे। इनकी कविता में स्वाभाविकता और चमत्कार दोनो मिलते है। इनकी निरीक्षण शक्ति सूक्ष्म और पदावली लालित्यपूर्ण है।

शृंगारी कवि का प्रकृति वर्णन ऐसा सौष्ठवपूर्ण नही है। इनकी भावुकता की प्रशंसा समस्त इतिहासकारो ने की है। इन्होंने काव्य कल्पद्रुम और कवित्त रत्नाकर नामक दो ग्रन्थ रचे थे। रचना में प्रांजलता और प्रौढता है; एक सच्चे और विदग्ध कवि की भावुकता इनमे है। ये एक प्रकार से भक्ति काल के अतिम कवि थे, जिन्होंने रीति काल की परम्परा को भी वल दिया। सेना-पति कृष्ण की उपासना न कर राम की उपासना करते थे। एक उदाहरण देखिये—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
सेनापति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन है॥
उदित विमल चन्द, चाँदिनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अघ ऊरघ गगन है।
तिमिर हरन भयौ सेत है बरन सव,
मानहुँ जगत छीर सागर मगन है॥

रहीम—इनका जन्म-सवत् १६१० है। ये इतिहास प्रसिद्ध सरदार वैरम खाँ के पुत्र थे। अपनी दानशीलता के कारण लोग कर्ण से इनकी तुलना किया करते थे। ये अरवी, फारसी और सस्कृत के अच्छे विद्वान थे और हिन्दी-काव्य की भी इनकी अच्छी जानकारी थी। इन्होंने अपने समय के अनेक वडे वडे युद्धो मे भाग लिया।

एक वार जहाँगीर ने किसी अपराध पर इनको कैद कर कारावास का दंड दिया और इनकी सव सपत्ति जब्त कर ली। कैद से छूटने पर इनकी आर्थिक दशा वहुत खराव थी और इन्हे विवश हो अनेक याचको को विमुख लौटाना पड़ा। इसका इन्हे सदा वड़ा दुख रहा। शायद ऐसी ही मनोदशा में इन्होंने इस दोहे की रचना की थी—

तब ही लौं जीबो भलो दैबौ होय न घीम।
जग में रहिबो कुंचित गति होय न उचित रहीम॥

इनका जीवन और ससार संबंधी अनुभव बडा गभीर और मार्मिक था। इनके दोहों में अनुभव का मर्म भरा रहता है और तुलसी के दोहों के समान ही ये जन साधारण की जबान पर रहते है। इनमें कोरे उपदेश नही दिये गये हैं। भुक्तभोगी की तीव्रता प्रत्येक दोहे मे भरी है। रहीम का भाषा पर विशद अधिकार था। व्रज और अवधी दोनो पर एक सी सफाई से कलम चलती थी। इनका रचित 'वरवै नायिका भेद' अवघी भाषा मे लिखा गया है। यो तो रहीम के दोहे ही जनसाधारण में प्रचलित है पर थोडी वहुत रचना उन्होंने दूसरे छन्दो मे भी की है। इनकी मृत्यु सं० १६८३ मे हुई। इनकी निम्न लिखित पुस्तकें कही जाती हैं—रहीम सतसई, वरवै नायिका भेद, शृंङ्गार सोरठ मदनाष्टक, रासपचाध्यायी। इन्होने फारसी के एक दीवान की भी रचना की है। ये कई विद्याये और भाषाएँ जानते थे। इन्होंने ज्योतिष आदि विषयो पर भी लिखा है। इनके कुछ दोहे देखिये—

दुरदिन परे रहीम कह, भूलत सब पहिचानि।
सोच नहीं बित-हानि को, जौ न होय हित-हानि॥
कोउ रहीम जनि काहु के द्वार गए पछिताय।
संपति के सब जात है, बिपति सबै लै जाय॥

इनके अतिरिक्त इस परपरा के और भी कवि हो गये है जिनमे कुछ प्रमुख ये है। कृपाराम, नरहरि टोडरमल, और वीरवल। इस काल के छीहल (सवत् १५७५), लालदास (सवत् १५८५), मनोहर (संवत् १६२०), कादिर (सवत् १६३५), मुवारक (सवत् १६४०), वनारसीदास (सवत् १६४३), पुहकर (संवत् १६७३), सुन्दर (संवत् १६८८

भी उल्लेखनीय कवि हैं। लालचंद या लक्षोदय (१६८५- १७०९) ने संवत् १७०० में पद्मिनी चरित्र नामक एक प्रबन्ध काव्य की रचना की है।

यहाँ हम भक्ति काल समाप्त करते हैं। कहना न होगा कि इस काल में ही आने वाले रीतिकाल की भूमिका लिखी जाना आरंभ हो गई थी।

रीतिकाल (१७००–१६००)

उत्तर-मध्य काल

किसी भी देश अथवा भाषा के काल विशेष के साहित्य को अच्छी तरह से समझने के लिए प्रधान रूप से दो बातो की आवश्यकता है। एक तो हमें तत्कालीन ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थिति की पूरी जानकारी आवश्यक है, दूसरे हमे मुख्य लेखको की प्रतिभा की विशेषताओ को समझना पडता है। जर्मन लेखक टेन (Taine) ने किसी भी काल के साहित्य को उस काल की सामाजिक स्थिति द्वारा समझाने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका सूत्र अधूरा था। वह लेखक के व्यक्तित्व और प्रतिभा को बिलकुल ही भूल गया। यह ठीक है कि तुलसी-साहित्य के प्रणयन में तत्कालीन भक्ति धारा और सामाजिक परिस्थिति का बहुत हाथ था, किन्तु हमे यह न भूल जाना चाहिए कि इस कार्य के लिए तुलसी की प्रतिभा भी बहुत सीमा तक उत्तरदायी थी। अस्तु।

हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन साहित्य की सामाजिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से हमे मालूम होता है कि यह बडी ही अव्यवस्था का युग था। मुगल-साम्राज्य के वैभव का सूर्य अस्ताचल की ओर तीव्र गति से बढ रहा था। सारा देश युद्ध और विप्लव का आगन बना हुआ था। राजनीतिक अधःपतन तेजी से शुरू हो गया था। औरगजेब के बाद गिरते हुए मुगल-सम्राज्य के विशाल भवन को सँभालने वाला कोई न हुआ। नादिरशाह और अब्दाली के आक्रमणों ने इस नाश और अव्यवस्था को और गति प्रदान की। सामन्तशाही जर्जर थी पर जनता को दलित किये जा रही थी। औरंगजेब की धार्मिक

असहिष्णुता से हिन्दू बहुत दुर्बल हो गये थे और मुसलमान विलास में अपनी शक्ति नष्ट कर रहे थे। औसत नागरिक की दशा असतोष-जनक थी। कृषक वर्ग सोने सी फसल पैदा करके भी भूखा रहता था। यह सारा काल मुगल राज्य के क्रमिक ह्रास हिन्दू शक्तियो के उत्थान और पतन तथा अँगरेजी शक्ति के क्रमिक विकास का इतिहास है। आये दिन के युद्धो के नीचे निष्प्राण भारतीय जनता का व्यक्तित्व पददलित हो रहा था। अराजकता का वह युग था। सारे देश मे ठगो, चोरो, डाकुओ और युद्ध जीवी वर्गो का बोल बाला था। समाज की आत्मा सकुचित हो गयी थी। वह आत्मनिष्ठ और रूढिग्रस्त था। राष्ट्र की नव चेतना का मार्ग बन्द था।

कवि और कलाकार शाही दरबार की छत्रच्छाया में सरस्वती की वीणा पर अँगुलियाँ चलाये जा रहे थे, किन्तु औरगजेब की मृत्यु के बाद उन्हे छोटे मोटे राजा नवाबो का आश्रय लेने के लिए विवश होना पड़ा।

मुगल सल्तनत अपने विलास और वैभव के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। रीति-काव्य की दूतियाँ शाही हरम के लिए कुटनी का काम करने वाली स्त्रियो का ही परिवर्तित और छद्म रूप है। विलास और शृगारिकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। वासना के प्रबल प्रवाह ने देश के सयम को एक बार ही में नष्ट कर दिया। हिन्दुओ मे जाति-भेद की भावना सिर उठा रही थी। हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के आचार-विचार से प्रभावित दीखते थे। इस राजनीतिक तथा सामाजिक पतन के युग में देश की नैतिक अधोगति होना स्वाभाविक था। धर्म की पूरी दुर्दशा हो रही थी। मन्दिर और मठो मे देवदासियाँ भगवान् और उनके भक्त दोनो की सेवा मे काम आती थी। जातीय बुद्धि का धरातल बहुत ही नीचे आ चुका था। साराश यह कि रीति कालीन साहित्य की शृगारिकता और कला, रस अलंकार आदि के पूर्ण विकास के लिए सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ पूर्णतः अनुकूल थी।

यहाँ हमे एक बात का स्मरण रखना चाहिए। मुगल-साम्राज्य मे शिल्प कला, चित्र कला और सगीत ने अपने अपने क्षेत्र में काफी उत्कर्ष प्राप्त किया। ललित और उपयोगी दोनो प्रकार की कलाओं ने अभूतपूर्व उन्नति की। कला प्रेमी मुगल सम्राटो ने फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से विलसपूर्ण मुगल शैली का निर्माण किया। जिसकी छाप तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन, आदि ललित कलाओ और जवाहरात, सोने, चाँदी के काम,कढाई, बुनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी में ऐश्वर्य का उल्लास, अलकरण और शृगार का रसीलापन है। सगीत के क्षेत्र मे भी विराट गंभीर तत्व का अभाव और स्त्रैण शृगारिकता का भाव परिलक्षित होता है।

अव हम रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियो का थोड़ा विश्लेषण करेंगे। यो तो रीतिकाल का समय १७००-१९०० तक माना जाता है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रीति काल की प्रवृत्तियाँ १७०० के काफी पहले साहित्य मे लक्षित होने लगी थीं। इसके पहले कई लेखको ने अलंकार आदि पर ग्रथो की रचना की किन्तु यह निश्चित है कि 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' के लेखक केशव को ही रीति काल के प्रथम आचार्य होने का गौरव मिलना चाहिए। इनके लगभग आधी शताब्दी के वाद रीति काल की रचनाओ का अखड स्रोत वहा, पर उस स्रोत ने आचार्य केशव के मार्ग पर न चल कर एक भिन्न ही दिशा पकडी।

आचार्य केशव ने साहित्य निरूपण के लिए अपने सामने संस्कृत के आचार्य भामह और उद्भट का आदर्श रखा। किन्तु केशव के पचास वर्ष वाद रीति-ग्रंथो की जो अखड परपरा चली उसके लेखकों ने आनदवर्धनाचार्य्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा प्रदर्शित पथ को ग्रहण किया। हिन्दी के अलंकार-ग्रंथ ज्यादातर 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानद' के आधार पर

वने। कही कही 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' का प्रभाव भी दीख पड़ता है।

सवत् १७०० के कुछ वाद चितामणि त्रिपाठी ने 'काव्य-विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' तीन ग्रथो की रचना की जिनमें उन्होंने काव्य के समस्त अंगो पर विस्तारपूर्वक लिखा। रीतिकाल का आरंभ यही से मानना चाहिए। इसके वाद लक्षण ग्रंथो की एक परिपाटी चल पडी और दो शताब्दी के मन्दर इस प्रकार के सैकड़ो ग्रंथो की रचना हुई। हिन्दी-साहित्य में एक विचित्र दृश्य देखने में आया। कवि लोग पहले रस अथवा अलंकार के लक्षण वताते, वाद में उसके स्पष्टीकरण के लिए काव्य-रचना करते थे। आचार्य और कवि के कार्य में विशेष भेद न रहा। इसके परिणाम स्वरूप आचार्यत्व का अपने सच्चे स्वरूप मे विकास न हो पाया। आचार्यत्व के लिए जिस गभीर अध्ययन और मनन की आवश्यकता थी प्रत्येक कवि में उसका होना असंभव था। इन अधिकांश कवि आचार्यो द्वारा जो काव्याग निरूपण हुआ वह अपूर्ण और कही कही भ्रामक रहा। केवल इनके ग्रथो पर निर्भर रह कर साहित्य के स्वरूप को समझने की आशा दुराशा मात्र है। यद्यपि इस काल का नाम रीति-काल पड़ गया है, जिसका अर्थ है रस, अलकार, पिगल आदि की विशिष्ट रीति पर काव्य-रचना करना। हमे इस वात का सदैव स्मरण रखना चाहिए कि इस काल में साहित्य शास्त्र का कोई विशद विवेचन नही हो पाया। रीति कविता राजाओ और सामन्तो के आश्रय में पली है अतएव उसकी अत-प्रेरणा और स्वरूप को कवियो और उनके आश्रयदाता दोनो के संबंध से ही समझा जा सकता है। इन लक्षण ग्रन्थो के रचयिता कवियो के आश्रयदाता छोटे पैमाने पर राज दरवार की प्रतिच्छाया थे। गुणी जनो का सरस काव्य इनके लिये विनोद और भोग के साधन से अधिक न था। इन रीति निर्माता कवियो के लिये कविता

मूलत. एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी मनोरंजन कर सकने की शक्ति का प्रदर्शन करते थे।

आचार्य वामन ने रीति शब्द का इस अर्थ में प्रथम बार प्रयोग किया था। उनके मतानुसार "विशिष्टा पद-रचना रीतिः" अर्थात् विशिष्ट पद रचना ही रीति है। वह पद-रचना दोषो से मुक्त और अलकारो से सज्जित होनी चाहिए।

अंग्रेजी साहित्य की 'क्लेसिकल ऐंज' और हिन्दी-साहित्य के रीति युग में बहुत कुछ समानता है। दोनो मे ही भाषा, अलकार और छद आदि की सफाई ही प्रधान मानी गई है। यदि काव्य का बाह्याग सुन्दर है तो विचार और भावो के सौन्दर्य पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नही है। काव्य के आन्तरिक पक्ष पर इस काल के लेखको का ध्यान गया ही नही। काव्य का कला पक्ष ही कवियो का साध्य था।

रीतिकाल के अधिकाश कवियो की लक्षण रचना सस्कृत की पुस्तको पर आधारित है और उनमें से सबको आचार्यत्व का माद्दा न होनेके कारण उनके लक्षण कही कही अधूरे भी हैं। भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' मे काव्यागो का सागोपाग विवेचन किया है। उन्होने एक सब से बड़ा महत्व का काम यह किया कि अपने ग्रथ मे हिन्दी-कविता की तुक अथवा अत्यानुप्रास का भी समावेश किया। सस्कृत कविता में तुक नही होती। दास हिन्दी के प्रथम रीति कवि थे जिनका ध्यान इस महत्वपूर्ण विषय की ओर गया।

इसमें सदेह नही है कि इस काल के लक्षण ग्रथ लेखक सच्चे अर्थ मे कवि थे। उनका हृदय बडा ही भावुक था। दिखावे के लिए अथवा परपरा पालन के लिए भले ही उन्होने आचार्यत्व की पगडी समय समय पर अपने सिर पर रख ली हो, किन्तु उनका असल उद्देश्य था अपने हृदय के उमड़ते हुए भावो को पद्य बद्ध करना। हिन्दी-साहित्य को इससे एक

बडा भारी लाभ यह हुआ कि उसमें रसो और अलकारो के इतने अधिक और इतने सुन्दर उदाहरण लिखे गये कि वे सस्कृत साहित्य के तत्सवधी उदाहरणो के भी आगे निकल गये। रसो में शृगार रस पर ही सबसे अधिक लिखा गया और अलकारो की अपेक्षा नायिका भेद तथा नखशिख वर्णन ने कवियों के चित्त को अधिक आकर्षित किया। काव्य में कला का स्वतन्त्र महत्व माना गया और उसकी साधना उसी के निमित्त होने लगी। इन कवियो की भावुकता और शृगारिकता का स्वरूप भी बडा स्वस्थ है। कवियो मे किसी प्रकार की घुमडन या मानसिक छलना नही है। उनके काव्य में कही अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नही है। पर इसका परिणाम यह हुआ कि इन कवियो की जीवन वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से वचित रही।

जहाँ एक ओर हिन्दी-साहित्य के अग विशेष का इतना चतुर्मुखी विकास हुआ वहाँ उसके अन्य अगो के विकास में बाधा पड़ना अनिवार्य था। साहित्य को धारा अपने मुक्त रूप में न बह सकी। प्रकृति और मानव जीवन के अन्य सुन्दर आकर्षक तथा चित्य पार्श्वों की ओर से इस युग के साहित्य-सृष्टा उदासीन हो रहे। इस काल के ग्रथो का अध्ययन करने से ऐसा जान पडता है मानो इन कवियो के लिए समस्त ससार और जीवन केवल नायिका और उसके नखशिख मे ही सीमित हो गया है। जैसा कि कहा जा चुका है मुगल साम्राज्य भौतिक वैभव और विलास के उत्कर्ष तथा अपकर्ष की एक अत्यन्त मानवीय कथा है। उस युग में विलास का जो प्रखर नद उमड पडा था, साहित्य मे उसका प्रतिबिंबित होना अत्यन्त स्वाभाविक था। भाषा की अभिव्यंजना शक्ति भी एक सीमित दायरे में घमने लगी। कवियो के व्यक्तित्व मे भेद करना कठिन हो गया। क्योकि सब का ध्यान काव्य के बाह्याग पर था जो एक निश्चित प्रणाली पर रचा जाता था। रचनाओ में कवियो के अतर

की झलक पकड़ना बडा कठिन हो गया। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि शृंगार की मुक्तक रचना की जो रमणीय झाँकी रीतिकाल में सजाई गई वह अन्यत्र दुर्लभ है।*

रीति काल में सैकडों कवियों ने अपनी कविता मे एक ही भाषा का उपयोग किया है। इसके बावजूद भी भाषा में व्याकरण की व्यवस्था का अभाव ही रहा। वाक्य-रचना मे भी दोष पाये जाते हैं। भूषण वीर रस की तो सुन्दर कविता करते थे किन्तु भाषा उनकी भी बिलकुल दोष-रहित नही है। शब्दों का रूप स्थिर नही हो सका और तुक तथा लय की खातिर उन्हे मनमानी ढग से कवि लोग तोड़ मरोड भी लेते थे। इन सब बातो के परिणाम स्वरूप भाषा को कोई एक निश्चित स्थिर रूप प्राप्त न हो सका।

कवि ब्रज और अवधी का मनमाना मिश्रण अपनी कविता में करते थे। यह एक सामान्य सिद्धात है कि जब एक भाषा साहित्यिक हो जाती है तब वह एक प्रदेश विशेष के शब्दो और उपयोगो तक ही सीमित नहीं रहती। अन्य प्रदेशों के शब्द और मुहावरे भी उसमें कालातर मे मिल जाते है। यही बात ब्रजभाषा के सबब में भी हुई। सूरदास तक की

---

*डा० नगेन्द्र के शब्दों में जहाँ तक रूप अर्थात् विषय गत सौन्दर्य का संबंध था इन नयनों की प्यास अमिट थी। एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के बारीक संकेत को पकड़ सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकार जैसे रससिद्ध कवियों की तो सम्पूर्ण चेतना ही जैसे रूप के पर्व में ऐन्द्रिक आनन्द का पान कर उत्सव मानने लगती थी। नयनोत्सव का ऐसा रंग विद्यापति को छोड़ प्राचीन साहित्य में दुर्लभ है।

भाषा में मोर, हमार सरीखे पूर्वी शब्द मिलते है। दासजी ने अपने 'काव्य-निर्णय' में इस मिश्रित भाषा का समर्थन किया है। एक स्थान पर वे लिखते है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥

दासजी ने परपरागत हिन्दी-साहित्य पर बहुत ही गंभीर रूप से मनन किया था और उन्होने ब्रजभापा को ही काव्य-भाषा कहा है। रीति-काल के साहित्य ने मुगल-साम्राज्य को उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचते देखा था अत स्वाभाविक है कि फारसी के शब्द काफी संख्या में हिन्दी काव्य भाषा मे युक्त होने लगे।

रीति-काल के कवियो ने अपनी कविता अधिकतर कवित्त और सवैयो में ही लिखी है। कवित्त शृंगार के लिए अत्यन्त ही उपयुक्त छद है। इस काल में शृगार और वीर रस विशेप कर शृगार की कविता प्रधान रूप से हुई है। अत. रीति काल विना किसी अड़चन के शृंगार-काल का पर्याय कहा जा सकता है। जैसा कि स्वाभाविक है यह शृगार कही कही शिप्टता की सीमा पार कर अश्लीलता के पंक मे भी गिर गया है। किन्तु इसके लिए उस समय का विलासी समाज जिम्मेदार है।

रीतिकाल के बारे में मुख्य मुख्य बातें ऊपर लिखी जा चुकी है। अव हम नीचे इस काल के प्रमुख कवियो का सक्षिप्त विवरण देते है। पाठक देखेंगे कि इन कवियो के प्रतीक और उपमान प्राय. विलास से सम्बद्ध है। प्रकृति के क्षेत्र में रति के उद्दीपन उनके पास है—भौतिक जीवन मे नागरिक विलास की वस्तुओ से ये आगे नही गये। वही उनके प्रिय उपकरण रहे, साथ ही भौतिक रस की उपासना करते हुए भी इन कवियो में इतना नैतिक वल नही था कि अपने विलास जर्जर मन से ये भक्ति रस

में अनास्था प्रकट करते। दृष्टिकोण में विस्तार और गांभीर्य का अभाव है। लगता है कवियो की मौलिक सृजन क्षमता नष्ट हो चुकी थी—केवल रीतियों की दासता रह गई थी। धर्म भी इस युग में आकर धर्माभास मात्र रह गया था। उसका स्वस्थ और नैतिक रूप नष्ट हो चुका था। भक्ति उनके लिये एक मनोवैज्ञानिक कवच मात्र रह गई थी। जीवन मे वासना, रसिकता और काम की अधिकता में उनके धर्म भीरु मन को राधाकृष्ण का नाम किसी प्रकार आश्वासन देता रहा होगा। रीतिकाल की हिन्दी कविता को जनता का साहित्य नही कहा जा सकता। उसमें कृत्रिम भावना और अतिशयोक्ति की बहुलता है। ये अतिशयोक्तियाँ भी जायसी की अतिशयोक्तियो की भाँति प्रेम के रस और पीर में डूबी नही है। उसकी प्रेरणा का स्रोत जनसाधारण के जीवन से नही उद्‌भूत हुआ था। यही कारण है कि उसका इतना व्यापक प्रभाव लोक-जीवन पर न पड़ सका जितना सन्तकाव्य का पड़ा।

(१) चिंतामणि त्रिपाठी—ये वीर रस के प्रसिद्ध कवि भूषण के अग्रज थे। इनका जन्म सं० १६६६ के आसपास माना जाता है। शिवसिंह सरोज के अनुसार ये काफी समय तक नागपुर के भोसला मकरंद शाह के यहाँ रहे और वहाँ छंदशास्त्र पर 'छंद विचार' नामक एक वृहत् ग्रंथ की रचना की। इसके अतिरिक्त ये पुस्तकें भी इन्होने लिखी है—काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्य प्रकाश और रामायण। रामायण कवित्त आदि छदों में लिखी गई है और बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है।

इन्होने बडी ही शुद्ध और सरस ब्रज भाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि इन्होंने काव्य के सभी अगो पर विस्तार पूर्वक लिखा है, तथापि

इसमें सदेह नही कि ये एक ऊँचे दर्जे के कवि थे। इनके वर्णन वड़े ही सरस और सुन्दर हुए है। एक उदाहरण दिया जाता है—

सरद ते जल की ज्यों दिन तें कमल की
ज्यों घन तें ज्यों थल की निपट सरसाई है।
घन तें सावन की ज्यों आप तें रतन की
ज्यो गुनत सुजन की ज्यो परम सुहाई है॥
चिंतामनि कहै आछे अच्छरन छन्द की,
ज्यों, निसागम चन्द की ज्यों दृग सुखदाई है।
नग तें ज्यों कंचन वसन्त तें ज्यों वन की,
यों जोबन तें तन की निकाई अधिकाई है॥

अथवा—

चोखी चरचा ज्ञान की, आछी मन की जीति।
संगति सज्जन की भली, नीकी हरि की प्रीति॥

इनकी भाव प्रतिपादन और विषय वर्णन की शैली मार्मिक है। उसमें एक सहज आकर्षण है।

*बेनी—यों तो बेनी नाम के एक से अधिक कवि हो गए है, पर यहाँ हमारा अभिप्राय असनी के वन्दीजन से है। स० १७०० के आसपास इनका होना पाया जाता है। वैसे तो इनके फुटकल पद्य ही इधर उधर सुनाई पड़ते है, पर ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन्होने भी नायिका भेदादि व षट्ऋतु पर कुछ पुस्तकें लिखी होगी। इनकी कविता

---

*कविता कौमुदीकार पं० रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार बेनी के नाम पर चलने वाली हास्यरस की या दिल्लगी की कवितायें इन्हीं की बनाई हुई है।

साधारण कोटि की है। पर इनकी भाषा चलती हुई और अनुप्रास से अलकृत होती थी। एक उदाहरण देखिये—

छहरैं सिर पै छबि मोर पखा उनकी नथ के मुकता थहरैं ।
फहरै पियरो पट बेनी-इतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं ॥
रसरंग भिरे अभिरे है तमाल दोउ रस ख्याल चहै लहरैं ।
नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं ॥

(३) **महाराज जसवंतसिंह**—ये मारवाड़ के प्रसिद्ध प्रतापी हिन्दू राजा थे और शाहजहाँ तथा औरगजेब ने इन्हे अनेक युद्धों मे भेजा था। इतिहास के पाठको से ये कथाएँ छिपी नही है। ये महाराज गजसिह के पुत्र थे और इनका जन्म स० १६८३ में हुआ था। ये कविता के बडे प्रेमी और उसके मर्म को समझने वाले थे। यही कारण है कि रीति युग के इने गिने आचार्यों मे इनकी गणना होती है।' एक अच्छे साहित्यकार होने के अतिरिक्त ये अत्यन्त ज्ञानी पुरुष थे। राजा विद्या प्रेमी थे अतः स्वाभाविक था कि इनके शासन काल मे साहित्यकारो और कवियो को खूब प्रोत्साहन मिला।

महाराज जसवत सिंह ने हिन्दी-साहित्य क्षेत्र मे एक आचार्य के पद से प्रवेश किया, और उन्होंने कार्य भी आचार्य का ही किया। अपना प्रसिद्ध ग्रथ 'भाषा-भूषण' इन्होने सस्कृत के 'चंद्रालोक' को आदर्श मान कर लिखा। एक पद्य में ही लक्षण और उदाहरण दोनो का समावेश कर दिया गया है। इससे अलकार प्रेमियो ने इस ग्रथ को गले का हार बना रखा है। 'भाषा-भूषण' के अतिरिक्त इन्होने और भी ग्रन्थ लिखे है जिनमे से मुख्य ये हैं—प्रबोध चद्रोदय नाटक, अनुभव-प्रकाश, सिद्धान्त सार, आनंद-विलास, सिद्धान्त बोध, अपरोक्ष सिद्धान्त। ये सब ग्रन्थ पद्य मे है।

भाषा-भूषण का दोहा देखिये—

अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसय रूप
जाचक तेरे दान तें, भये कल्पतरु भूप

भाषा-भूषण पर कुछ टीकाएँ भी लिखी गई है। सं० १७९२ में वसीधर ने 'अलंकार-रत्नाकर' नामक टीका लिखी। प्रतापसाहि और गुलाब कवि ने भी इसकी टीकाएँ लिखी है। जसवत सिह के कुछ और दोहे देखिये—

नैन कमल ये ऐन है, और कमल केहि काम।
गमन गरत नीकी लगै, कनक-लता यह वाम॥
परजस्ता गुन और को, और विषे आरोप।
होय सुधाकर नांहि ये, वदन सुधाधर ओप॥

विहारी लाल—रीतिकाल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवियो में विहारी का स्थान अत्यन्त ऊँचा है। संवत् १६६० के लगभग ग्वालियर के पास वसुवा गोविंदपुर ग्राम में आपका जन्म हुआ था और जात के आप माथुर चौवे थे। जयपुर-नरेश पर इनके दोहे के प्रभाव की कथा प्रसिद्ध है। अपनी छोटी रानी के सौन्दर्य जाल में जयपुर के राजा जयसिह ऐसे उलझे कि वे राज-काज की ओर से विल्कुल उदासीन हो गये, यहाँ तक कि उन्होने महलो के वाहर निकलना ही वद कर दिया। तव विहारी ने निम्नलिखित दोहा किसी प्रकार जयसिह के पास पहुँचवाया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल।
अली कली ही सों विध्यौ,आगे कौन हवाल॥

कहते है कि यह दोहा पढ कर महाराज एकदम महल के वाहर आ गए और विहारी के काव्य-कौशल पर इतने मुग्ध हुए कि उन्होने विहारी के प्रत्येक दोहे पर एक अशर्फी देने का निश्चय किया। इस प्रकार विहार

ने जो सात सौ दोहे लिखे वे सगृहीत होकर 'बिहारी सतसई' के नाम से हिन्दी-साहित्य मे प्रसिद्ध हुए।

शृंगार के क्षेत्र में 'बिहारी-सतसई' एक अनुपम ग्रंथ माना जाता है और यह ग्रंथ इतना लोकप्रिय और प्रसिद्ध हुआ कि इस पर दर्जनो टीकाएँ लिखी गईं। इनमें सब से अधिक प्रामाणिक स्व० बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की टीका 'बिहारी-रत्नाकर' मानी जाती है।

बिहारी की लिखी और कोई पुस्तक नही मिलती। किन्तु उनकी सतसई ही उन्हें अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। मुक्तक छंद दोहे को अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचाने के कारण स्व० शुक्ल जी ने बिहारी की भूरि भूरि प्रशंसा की है। प्रबन्ध तो सपूर्ण मानव जीवन को लेकर चलता है, किन्तु मुक्तक मे तो केवल जीवन के किसी एक मनोरम पार्श्व की लुभावनी झाँकी की झलक ही सभव है जिसे पाकर नेत्र सफल हो जाते है। बिहारी ने दोहे नही लिखे, रस की छोटी छोटी गागरो की सृष्टि की है और इन गागरों मे रस का सागर भर दिया है। इनकी उक्ति में वैचित्र्य और मधुरता का सुन्दर समिश्रण मिलता है। इनकी कल्पना बड़ी ही चित्रविधायिनी थी और दोहो मे वर्ण्य विषय का चित्र खड़ा कर देती थी। अनुभाव और हावो का सुन्दर वर्णन किया गया है। प्रत्येक दोहे में भाव, रस और अलकार झलके पड़ते हैं।

इतना अवश्य कहना पडता है कि कल्पना की उडान में कहीं कहीं कवि स्वाभाविकता को भूल गया है। बिहारी ने अपनी जिस अमूल्य सूझ को रस, अलंकार और छंद के झमेले मे खर्च कर दिया यदि उसका उपयोग मानव हृदय की छानबीन मे हुआ होता तो निश्चित ही वे हमें और ऊँची वस्तु दे जाते। कला-पक्ष बिहारी की कविता का अनुपम है, किन्तु मर्म को प्रभावित करने वाली भावधारा का उसमें अभाव है। बिहारी का प्रेम भी बहुत कुछ जमीन की चीज ही रहा।

अत: भावके लिए वर्णिति इनके दोहो से क्षुधित हृदय को पूर्ण सन्तोष नही होता, हाँ इन दोहो मे चोट करने की शक्ति है और रूप के प्रकाशन से वे जगमगा उठे हैं।

शृंगार के दोहो के अतिरिक्त विहारी ने कुछ नीति संबंधी दोहे भी लिखे है किन्तु उनमें से वहुत कम को विशुद्ध काव्य की सज्ञा दी जानी चाहिए।

भूषण और देव ने काव्य भाषा के साथ कही कही जो निर्दयता दिखाई है, विहारी में वह नही पाई जाती। इनकी भाषा चलती हुई होने पर भी साहित्यिक कही जायगी। विहारी नये शब्द गढने के चक्कर में भी नही पडे। इनके दोहो के वारे मे प्राय यह दोहा सुनने में आता है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर॥

नीचे इनके कुछ दोहे उद्धृत किये जाते है—

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तनु की झाँई परे, श्याम हरित दुति होय॥
इक भीजे चहले परे, वूडे वहे हजार।
किते न अवगुन जग करत, वै नै चढ़ती वार॥
वतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहन हँस, देन कहै नटि जाय॥
निस अँधियारी नील पट, पहिरि चली पिय गेह।
कहो दुराई क्यों दुरै, दीप सिखा सी देह॥

मंडन—ये वुदेलखडी (जैतपुर निवासी) थे और स० १७१६ में इनका वर्तमान होना पाया जाता है। खोजने पर इनके कुछ ग्रथो का पता लगा है किन्तु कोई ग्रथ अभी-तक प्रकाशित नही हो सका है। इनके फुटकर छद ही इधर उधर सुनाई पड़ते है। इनके जिन ग्रथो का पता

लगा है इनके नाम ये हैं—रस-रत्नावली, रस-विलास, जनक-पचीसी, जानकी जू को ब्याह और नैनपचासा।

इनके उपलब्ध पद्यो को पढने से जान पडता है कि ये बड़े ही भावुक हृदय के कवि थे। भाषा इनकी चुस्त और साफ सुथरी है। अन्य कवियो के समान भाषा के साथ खिलवाड़ करने की प्रवृत्ति इनमे नही दिखाई पड़ती।

मतिराम—परपरा के अनुसार ये चिंतामणि और भूषण के भाई ठहरते हैं और रीतिकाल के चोटी के कवियो में इनका स्थान है। ये स० १६७४ मे जिला कानपुर मे तिकवाँपुर नामक स्थान में पैदा हुए थे। बूंदी के महाराज भावसिंह के यहाँ रह कर इन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'ललित-ललाम' की रचना की। इनके अन्य ग्रंथ ये हैं—छद सार, रसराज, साहित्य सार और लक्षण-शृगार। इनमे 'रसराज' इनका सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। एक मतिराम-सतसई का भी पता लगा है जिसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहो से टक्कर लेते हैं।

मतिराम की रचना की सबसे बडी विशेषता है उनकी भाषा की स्वाभाविक सरसता। अनेक रीति ग्रथकारो ने भाषा के साथ खेल किया है, किन्तु मतिराम ने उसे उसके स्वाभाविक रूप में ही प्रयुक्त किया है। रसालकार के लिए भाषा की दुर्दशा नही की गई है। उनकी रचनाओ में अभिव्यक्त भाव के सबध मे भी यही बात लागू होती है। अपनी स्वाभाविक कवि प्रेरणा के प्रति ये पूर्ण ईमानदार रहे और भाषा और भाव में कोई कृत्रिमता न होने के कारण ही मतिराम का रीतिकाल के कवियो मे बहुत ऊँचा स्थान है।

ललितललाम और रसराज अत्यन्त ही सरस और सुबोध है अतः ये रस और अलकार के प्रेमियो के बडे ही प्रिय ग्रथ है। इतनी दोष रहित और चलती हुई साफ सुथरी काव्य भाषा लिखने मे पद्माकर को छोड़

कर अन्य रीतिकालीन कवि मतिराम के समकक्ष नही आता। इनकी कविता का एक नमूना देखिये—

सोने कैसी-वेली अति सुन्दर नवेली बाल,
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ।
मतिराम अँखियां सुधा की वरषा सी भई,
गई जब दीठि वाके मुख-चंद्र पहियां॥
नेक नीरे जाइ करि बातनि लगाय करि,
कछु मन पाइ हरि वाकी गही बहियाँ।
सैननि वरचि लई गौननि थकित भई,
नैननि में चाह करै वैननि में नहियाँ॥

प्रसादपूर्ण, सरल, कोमल भाषा जो भावो को अत्यन्त सरसता से व्यक्त कर दे यह मतिराम की विशेषता है। भाषा के माधुर्य के साथ भावो की उत्कृष्ठता भी है।

भूषण—हिन्दी-साहित्य में वीर रस काव्य के गायको में भूषण का अत्यन्त ऊँचा स्थान है। इनके असल नाम का पता-नही लगता। ये चिंतामणि और मतिराम के भाई कहे जाते है और इनका जन्म सं० १६७० और मृत्यु सं० १७७२ के लगभग हुई थी। महाराज शिवाजी और छत्रसाल इनके आश्रयदाता थे और अपनी ओजस्विनी कविता मे भूषण ने इन्ही हिन्दू लोकनायको के शौर्य के गान गाये है और इन्हे मुसलमानी शासन के खिलाफ जिहाद बोलने के लिए उत्साहित किया है। जब ये छत्रसाल के यहाँ गये तो स्वय छत्रसाल ने इनकी पालकी में कधा लगा दिया। स्वय शिवाजी के संवध मे यह कथा प्रचलित है कि भूषण के एक कवित्त को उन्होंने कई बार सुना और इनाम में लाखो रुपये भूषण को दे दिये।

भूषण के बारे मे अकसर एक प्रश्न पूछा जाता है। भूषण जनता के प्रतिनिधि कवि थे अथवा अपने आश्रयदाता की यथार्थ अथवा कल्पित वीरता के अतिरंजित गान करने वाले केवल भाट ? इतिवृत्त का थोड़ा सा भी ज्ञान रखने वाले यह जानते है कि शिवाजी और छत्रसाल मुसलिम दासता के अंधकारपूर्ण युग में स्वतत्रता की आशा के दो द्युतिमान नक्षत्र थे। पराजित हिन्दू जनता की समस्त आशा ये ही थे। भूषण स्वयं प्रतिभाशाली कवि और जागरूक व्यक्ति थे। जब शिवाजी और छत्रसाल ने मुसलिम सत्ता के विरोध मे अपनी आवाज बुलद की तो उनको भारत की समस्त हिन्दू जनता की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त हुआ। यही कारण है कि मुट्ठी भर सवारो की सहायता से उस वीर मराठे ने औरंगजेब को नाको चने चबवा दिया। भूषण ने यह सब देखा और समझा। उनके भावुक हृदय की वीणा स्वयं ही झंकृत हो उठी और उनके कठ से वीर रस की कविता का जो प्रखर नद उमड़ा उसने समस्त हिन्दू जनता को अभिभूत कर दिया। अत. हम बिना किसी अतिशयोक्ति के कह सकते है कि भूषण जनता के सच्चे अर्थो मे प्रतिनिधि कवि थे। वे तत्कालीन जन-जागरण के दूत थे।

परपरा पालन के हेतु भूषण ने लक्षण ग्रथों की भी रचना की थी। पर प्रधान रूप से वे वीर रस के ही कवि थे। उनकी कविता कितनी ओजमयी, कितनी वीर दर्प पूर्ण और वीरो के हृदय को युद्ध के लिए कितनी प्रेरित करने वाली है, इस सबध में कुछ कहना चर्वित-चर्वण मात्र होगा। स्वय एक दो छद पढ कर इस सत्य की जाँच की जा सकती है। बड़ी सशक्त और वीरोल्लासमयी रचना इनकी है।

भूषण के लिखे हुए ग्रथो में से 'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी', और 'छत्रसाल दसक' ये ग्रथ ही मिलते है। भूषण उल्लास, दूषण उल्लास और भूषण हजारा ये तीन ग्रन्थ उनके और माने जाते है। रीति परपरा को

निभाने के लिए भूषण ने 'शिवराज-भूषण' की रचना की, पर वह उत्तम रीति-ग्रंथों की कोटि में नही आता। उसमें कही लक्षण अधूरे है तो कही उदाहरण दोषपूर्ण। भूषण ने भाषा के साथ बडी ही स्वच्छदता से काम लिया है। दूषित वाक्य-रचना और व्याकरण दोष अनेक स्थलों पर पाये जाते है। उनकी भाषा में व्यवस्था का अभाव है। शब्दो को तोडने मरोड़ने के अतिरिक्त मनगढत शब्दो का भी काफी प्रयोग किया है। इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है—

दारा की न दौर यह, रार नहीं खजुवे को,
बाँधिबो नहीं है कैधों मीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को, न वास ग्राम गोकुल को,
देवो को न देहरा, न मंदिर गोपाल को॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु बैरी कतलाम कीन्हे,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारे क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को॥

कुलपति मिश्र—ये बिहारीलाल के भानजे कहे जाते है और बिहारी के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के यहाँ रहते थे। इनका 'रस रहस्य' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनके द्रोणपर्व, युक्तितरंगिणी, नखशिख और संग्रामसार नामक ग्रथ भी मिले है।

इनका 'रस रहस्य' मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर आधारित है। इस ग्रथ में इन्होने कही कही गद्य का भी उपयोग किया है। किन्तु यह ग्रंथ उतना सुबोध और स्पष्ट न बन सका जितना इसे होना चाहिए था। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था।

देवदत्त—हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध कवि देव यही देवदत्त है। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियो मे देव का अत्यन्त ऊँचा स्थान है। हिन्दी-साहित्य मे बिहारी और देव को लेकर जो विवाद उठे है उससे सभी साहित्य-प्रेमी परिचित है।

महाकवि देव का जन्म सं० १७३० मे इटावा में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और कहा जाता है कि इन्होने अपने जीवनकाल में ७२ ग्रथों की रचना की। ये एक ही स्थान पर नही रहे क्योंकि इन्हे कोई सामर्थ्यवान् उदार आश्रयदाता नही मिला। इन्होंने भ्रमण भी खूब किया और यही कारण है कि इनकी रचनाओं मे अनुभव और वर्णन की विविधता पाई जाती है। इनके 'जाति-विलास' मे विभिन्न प्रदेशो की स्त्रियो का वर्णन है। औरगजेब के पुत्र आजमशाह के आश्रय मे रह कर इन्होंने 'अष्टयाम' और 'भावविलास' की रचना की। इनके प्रसिद्ध ग्रथ ये है—भावविलास, भवानी विलास, सुजान विनोद, प्रेमतरंग, राग रत्नाकर और अष्टयाम।

देव शृगार रस मे आपाद मस्तक मग्न थे। इनकी कविता मे शृंगार रस ही विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है। रीति काल की परपरा के अनुसार देव ने कवि और आचार्य दोनों का कार्य निवाहने का प्रयत्न किया। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है रीति काल के कम कवियो में ही आचार्यत्व की क्षमता थी। देव भी आचार्यत्व के क्षेत्र में सफल न हो सके। शायद इसका एक कारण व्रज-भाषा थी। व्रज-भाषा में अंतर की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियो की काव्यात्मक अभिव्यक्ति तो सदियों से होती चली आई थी, किन्तु सूक्ष्म गूढ विवेचना और निरूपण के वह उपयुक्त न थी।

देव चित्रणकला, अभिव्यजना, वर्ण योजना और रस-उत्कर्ष सभी दृष्टियो से महान् कवि है। मधुर के साथ साथ विराट पर भी कही कही उनका पूर्ण अधिकार दिखाई देता है। देव में आवेग और तदनुरूप तन्मयता

भी है। गीति तत्त्व का उनमें प्राधान्य है। उनकी सूक्ष्म रसमय सौंदर्य चेतना विद्यापति के आत्मरस में डूबे सौंदर्य चित्रों की याद दिलाती है। भाषा और भाव का वैसा ही मादक संगीत और शब्दशिल्प है। निश्चय ही वे रीति काल के सर्वश्रेष्ठ कवि कहे जा सकते हैं।

देव की मौलिक प्रतिभा का कायल होना पड़ता है। कवि वे निस्संदेह उत्तम कोटि के थे। कभी कभी यह देख कर खेद होता है कि ऐसी मौलिक प्रतिभा की अधिकांश स्फूर्ति प्यारी और प्यारे के संयोग, वियोग और विलास वर्णन में खर्च होती है। इन्होंने कुछ वैराग्य संबंधी कविता भी की है। किन्तु उसे पढ़ कर ऐसा जान पडता है कि यह मन की किसी स्वतंत्र वैराग्य तार की झंकार नहीं है, वरन भोग विलास से जर्जर मन की प्रतिक्रिया मात्र है। इनकी कविता का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

कोई कहो कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोई कहो रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसो नरलोक परलोक बर लोकनि में,
लीन्हीं मैं अलोक लोक लोकनि ते न्यारी हौं॥
तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ टेक टरति न टारी हौं।
वृन्दावन वारी बनवारी की मुकुट वारी,
पीत पट वारी वहि मूरति पै वारी हौं॥

भिखारीदास—हिन्दी-साहित्य में ये 'दास' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका पूरा नाम भिखारीदास है। इनका जन्म सं० १७५५ के लगभग प्रतापगढ़ के टयोंगा गाँव में हुआ था। ये कायस्थ थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे हैं—रस सारांश, छंदोर्णव पिंगल, काव्य-निर्णय, शृंगार-निर्णय, नाम प्रकाश, विष्णु पुराण भाषा, छंद प्रकाश, शतरंज-शतिका, अमर-

प्रकाश। इन ग्रंथों में काव्य-निर्णय इनका प्रसिद्ध लक्षण-ग्रंथ है जिसकी रचना इन्होने प्रतापगढ के राजा के भाई हिन्दूपति सिह के आश्रय में की।

'काव्य-निर्णय' दास जी का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है और इसी ग्रन्थ के कारण उन्हे आचार्यत्व का गौरव प्राप्त हुआ। इस ग्रथ में इन्होंने रस, अलंकार, नीति, छद आदि समस्त काव्यागो का विशद विवेचन किया है। यद्यपि इस क्षेत्र मे दास जी देव आदि कवियो से बहुत आगे है तथापि पूर्ण आचार्यत्व को वे भी न पा सके। कंही कही इनके दिए हुए उदाहरण गलत तथा लक्षण अधूरे है।

कविता की दृष्टि से इन्होने शृगार रस पर ही प्रधान रूप से लिखा है। इनकी भाषा बड़ी मँजी हुई है। अपनी काव्य-कला में इन्होंने देव की भाँति अपनी शक्ति के बाहर जाने की कोशिश नही की। यही कारण है कि दास जी ने जो कुछ लिखा सुन्दर लिखा। शृगार के अतिरिक्त नीति पर भी इन्होने कुछ कविता लिखी। दास जी को यदि उनके आचार्यत्व से अलग करके हम देखे तो हम उनमे एक उत्कृष्ट कोटि का कवि पाते है। इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है—

> नैनन को तरसैये कहाँ लौं, कहाँ लौं हिये बिरहागि में तैये।
> एक घरी न कहूँ कल पैये कहाँ लगि प्रानन को कलपैये॥
> आवै यही अब जी में विचार सखी चल सौतिहुं के घर जैये।
> मान घटे ते कहा घटि है जु पै प्रान पियारे को देख न पैये॥

इनकी कविता में आकर्षण, हृदय को स्पर्श करने की शक्ति और भाव की उड़ान है।

बेनी प्रवीन—ये लखनऊ के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और लखनऊ के राजा के दीवान के पुत्र नवलकृष्ण इनके आश्रयदाता थे। इनके आश्रय में रह कर बेनी ने नवरस तरंग नामक अपने सुन्दर काव्य ग्रथ की

रचना की। शृंगार-भूषण के अतिरिक्त 'नानाराव प्रकाश' नामक ग्रंथ की भी रचना की। अंतिम ग्रंथ विठूर के पेशवा नानाराव की प्रशंसा में लिखा गया था।

इनके ग्रंथों में 'नव रस तरंग' सबसे अधिक सुन्दर और प्रसिद्ध है। इसमें रस अलंकार, नायिकाभेद आदि का संक्षिप्त पर सुन्दर निरूपण हुआ है। नायिकाभेद के अंतर्गत ऋतु वर्णन आदि का सौन्दर्य देखते ही बनता है। इनकी भाषा भी शुद्ध, चलती हुई तथा स्वाभाविक है। इनकी कविता बड़ी ही सरस हुई है और भाषा तथा भाव में माधुर्य की दृष्टि से कहीं कहीं पद्माकर की सरस कविता की बराबरी करती है। इनकी भाषा में कहीं कहीं खड़ी बोली का पुट है और लखनऊ निवासी होने के कारण नफासत की मात्रा काफी अधिक है। इनके जीवन-वृत्त के बारे में हमें विशेष नहीं मालूम।

कविता का एक उदाहरण देखिये—

भोर ही न्योति गयी थी तुम्हें वह गोकुल गांव की ग्वारि निगोरी।
अधिक राति लौं बेनी प्रवीन कहा ढिग राखि कियो बरजोरी॥
आवे हँसी मोहिं देखत लालन भाल में दीन्हीं महावर घोरी।
एते बड़े बृज मंडल में नहिं माँगे मिली तुम्हें रंचक रोरी॥

पद्माकर—इनका जन्म संवत् १८१० है। ये बाँदा में पैदा हुए थे। सं० १८९० में कानपुर में इनकी मृत्यु हुई। ये जाति के तैलंग ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था। पद्माकर को संस्कृत और प्राकृत साहित्य का अच्छा अध्ययन था। जयपुर के महाराज जगतसिंह के आश्रय में रह कर इन्होंने 'जगद्विनोद' नामक अपने प्रसिद्ध काव्य की रचना की। इनके अन्य ग्रंथों के नाम ये हैं—गंगालहरी, हिम्मत बहादुर विरदावली, पद्माभरण, आलीजा प्रकाश, भाषा हितोपदेश और प्रबोध पचासा। कहते

है कि इन्होंने बाल्मीकि रामायण का भी कविता-अनुवाद किया था। कविता करना इनकी खानदानी विशेषता थी। इनके पिता स्वयं एक अच्छे कवि थे और राजा-रईसो के दरबार से इन्होने खूब धन कमाया।

रीतिकाल के कवियो में पद्माकर का अन्यतम स्थान है। इनकी वाणी मे जो सरसता और मीठापन पाया जाता है वह अन्य कवियों में नही। इनकी कविता मे रीतिकाल उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया और इन्हो के पश्चात् क्रमशः उसकी अवनति होने लगी। पर इनकी कविता में लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता का ऐसा सामंजस्य है कि इनके पद चमत्कार पूर्ण जान पडते है। लोकप्रियता की दृष्टि से ये निःसदेह रीतिकालीन कवियो में सबसे आगे हैं। पद लालित्य मे ये हिन्दी कवियो मे वही स्थान रखते है जो संस्कृत कवियो में दडी।

काव्य-रसिको के लिए पद्माकर का 'जगद्विनोद' उतना ही प्रिय ग्रथ रहा जितना कि मतिराम का 'रसराज'। शृगार रस का यह सर्वोत्कृष्ट ग्रथ है। इनकी कल्पना इतनी सजीव और शक्तिशाली है कि ये जिस विषय का वर्णन करने लगते है उसकी मूर्त्ति सी पाठक की आँखो के सामने खड़ी हो जाती है और पाठक रस के सागर मे गोते लगाने लगता है। कल्पना और भावुकता के मणिकाचन सयोग से इस सहृदय कवि ने रस की जो धारा वहाई है उसमे अवगाहन करते ही बनता है। भाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था। इन्होने वीर रस की भी इतनी ओजस्विनी कविता की है कि सुन कर हृदय फड़कने लगता है।

यों तो हिन्दी के प्रायः सभी कवि अनुप्रास के लालची रहे है किन्तु कुछ ऐसे भी है जिन्होने इस मामले मे सयम से काम लिया है। पद्माकर दूसरी कोटि में आते हैं। अनुप्रासो की झंकार यत्र तत्र इनकी कविता मे मिलती है किन्तु इस बारे मे शायद ही कहीभद्दापन आया हो। जहाँ भावों का सुदृढ़ प्रवाह बह रहा हो वहाँ इनकी भाषा बहुत ही मजी हुई, स्वाभाविक और

चलती हुई है। इनके चित्रोपम वर्णन विहारी की याद दिलाते हैं। देव के समान दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न इन्होंने नही किया और न देव के समान इस प्रयत्न में उन्हें अक्सर विफल होना पड़ा। इनकी हृदयहारी कविता का एक उदाहरण देखिये—

पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हें जे ये लरजत लुंज हैं।
कहै पद्माकर बिसासी या बसंत के सु,
ऐसे उत्पात गात गोपिन के भुञ्ज हैं॥
ऊधो यह सूधो सो संदेसौ कहि दीजो भलो,
हरि सों हमारे, ह्याँ न फूले वन कुंज हैं।
किंशुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं॥

सुखदेव मिश्र—इनका जन्म स० १६९० के आसपास है और ये जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। दौलतपुर जिला रायबरेली के ये रहने वाले थे जहाँ आज भी इनके वंश के लोग रहते हैं। अपने ग्रथ 'वृत्त विचार' में इन्होने कम्पिला अपना जन्म-स्थान लिखा है और उसमें अपने पूर्वजों के बारे में कुछ लिखा है।

इन्होने निम्नलिखित पुस्तकें लिखी हैं—

वृत्त-विचार, छंदविचार, फाजिलअली-प्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश, दशरथराय और नखशिख।

अपने जीवनकाल के विभिन्न समयो में ये विभिन्न व्यक्तियो के आश्रय में रहे। कुछ समय ये फतहपुर के राजा भगवंतराय खीची के यहाँ रहे। इसके अतिरिक्त औरंगजेब के मंत्री फाजिल अली, अमेठी के राजा हिम्मत सिंह, मुरारिमऊ के राजा देवीसिंह के यहाँ भी इनकी काफी इज्जत हुई।

सुखदेव जी संस्कृत और प्राकृत के अच्छे विद्वान् थे अपने रीति-ग्रंथों में अन्य रीति ग्रंथकर्ताओं की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह आचार्यत्व को निभा सके हैं।

कालिदास त्रिवेदी—ये सं० १७१० के लगभग कानपुर जिले के बनपुरा नामक गाँव मे पैदा हुए थे। इस परंपरा के प्रसिद्ध कवि रवीन्द्र और दूलह क्रमशः इनके पुत्र और नाती थे। इनकी उपलब्ध रचनाओं से इनके जीवन के बारे में हमें विशेष नही मालूम होता। संभव. औरंगजेब के सं० १७४५ वाले गोलकुंडा के आक्रमण में ये किसी राजा के साथ गए थे। ये जंबू-नरेश जोगजीत सिंह के यहाँ भी रहे थे जहाँ इन्होंने अपने ग्रंथ 'वारवधू-विनोद' की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होने कालिदास-हजारा और जजीरा, नामक ग्रथ भी रचे। इनमें कालिदास-हजारा ही इनकी सबसे अधिक प्रसिद्ध पुस्तक है। इस ग्रंथ में सं० १४८१ और १७९६ के बीच में होने वाले २१२ कवियो के एक हजार छन्दों का संग्रह है। कवियो के काल-निर्णय में यह ग्रंथ बड़ा सहायक है।

कविता की दृष्टि से ये अच्छे दर्जे के कवि थे। इनकी कविताओ में सरसता और सहृदयता की पर्याप्त मात्रा है।

नेवाज—यो तो नेवाज नाम के दो तीन कवि हिन्दी-साहित्य में हो गये है किन्तु हमारा तात्पर्य यहाँ अन्तर्वेद में पैदा होने वाले नेवाज से है। क्योकि तीनो मे ये ही उत्तम कोटि के कवि ठहरते है। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार ये सं० १७३९ में पैदा हुए थे। इनका लिखा हुआ एक 'शकुन्तला नाटक' मिलता है। इसके अतिरिक्त इनके फुटकल छंद ही इधर उधर मिलते है। इनकी भाषा बहुत ही मँजी हुई तथा भावो के अनुरूप है। इनकी शृंगार रस की कविता निस्संदेह बहुत अच्छी हुई है। कही कही ये अश्लीलता के पंक मे भी फँस गये है। पद्य के अतिरिक्त इन्होने थोडा बहुत गद्य भी लिखा है। ये औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के यहाँ भी रह आये थे।

श्रीधर—इन्होंने वीर रस की अच्छी कविता की है। इनके जीवन के सम्बन्ध में हमें कुछ भी नही मालूम होता। इनकी 'जगनामा' नामक पुस्तक वीर रस की सफल रचना है जो स० १७६९ के लगभग लिखी गई थी। इसमें जहाँदार और फर्रुखसियर के बीच में होने वाली लड़ाइयो का वर्णन है। कविता की भाषा में बुंदेलखडी की पुट बहुत अधिक है इससे उसमें ऊबड़-खाबड़पन आ गया है। किन्तु कविता ओजस्विनी है।

कवीन्द्र—इनका जन्म सं० १७३६ के लगभग हुआ था और ये कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे। ये अमेठी के राजा हिम्मत सिंह, और उनके पुत्र गुरुदत्त के पास काफी रहे है। बूदी के राव और भगवन्त राय खीची के यहाँ भी इनकी काफी इज्जत होती थी। इन्होने रस चद्रोदय, विनोद-चद्रिका और जोग लीला नामक पुस्तकें लिखी हैं। इनमें 'रसचंद्रोदय' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह शृगार का एक सुन्दर ग्रन्थ है। इनकी भाषा सरस और सरल है।

श्रीपति—ये काल्पी निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अपने 'काव्य सरोज' नामक ग्रन्थ की रचना स० १७७७ के लगभग इन्होंने की। इसके अतिरिक्त इनके लिखे निम्नलिखित ग्रन्थ है—विक्रम विलास, कवि कल्पद्रुम, रस सागर, अनुप्रास विनोद, सरोज कलिका और अलकार गगा। कविता ये अच्छी करते थे। किसी हद तक इन्होंने आचार्य का भी काम किया। अपने ग्रन्थो में इन्होने काव्य के विभिन्न अगो की विशद विवेचना की है। आपकी भाषा ओजपूर्ण है और उसमें अलकारो का प्रचुर प्रयोग किया गया है। भविष्य के अनेक कवियों ने इनका अनुकरण किया। इनकी कविता में सुन्दर प्रकृति-चित्रण ओर उदात्त विचार पाये जाते हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है—

ताल फीको अजल कमल बिन जल फीको
कहत सकल कवि हवि फीको रूम को।

बिन गुन रूप फीको ऊसर कूप फीको
परम अनूप भूप फीको बिन भूम को ॥
श्रीपति सुकवि महावेग बिन तुरी फीको
जानत जहान सदा जोहू फीको घूम को ।
मेहू फीको फागुन अबालक को गेहू फीको
नेहू फीको तिय को सनेहू फीको सूम को ॥

अलीमुहिब खाँ 'प्रीतम'—ये आगरा के निवासी थे। इन्होंने अपना उपनाम 'प्रीतम' रखा था। यों तो रीतिकाल में प्रधान रूप से शृंगार रस की ही कविताएँ हुई पर यदा कदा अन्य रसो पर कविता करने वाले कवि भी दीख पड़ते है। प्रीतम साहब की कविता इसका उदाहरण है। रीति काल में होते हुए भी इन्होने अपना ध्यान हास्य रस की ओर दिया और "खटमल-बाईसी" लिख कर हिन्दी-साहित्य को एक बिल्कुल ही नई चीज दी। 'खटमल बाईसी' हास्य रस की रचना है और शिष्टता की सीमा मे है। इस दृष्टि से ये एक पथ प्रदर्शक कवि कहे जा सकते हैं। इनकी 'बाईसी' का एक नमूना देखिये—

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि,
साँपन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
बैदन पै गयो काहू दारू न बताई है ॥
जब हहराय हम हरि के निकट गए,
हरि मोसों कही तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है ॥

तोषनिधि—इनका पूरा नाम तोषनिधि था। ये चतुर्भुज शुक्ल के लड़के थे। इन्होने 'सुधानिधि' नामक एक नायिका भेद का ग्रथ लिखा। इनके जीवन के सम्बन्ध में हमे अधिक नही मालूम। ऐसा अनुमान है कि इन्होने विनय शतक और नखशिख नामक दो और ग्रथो की रचना की। कही कही इनकी कविता बडी सरस हुई है। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है—

एक कहैं हँसि ऊधव जी ब्रज की जुवती तजि चन्द्र प्रभा सी।
जाइ कियो कहि तोष प्रभू एक प्रानप्रिया लहि कंस की दासी॥
जो हुते कान्ह प्रवीन महा सो हहा मथुरा में कहा मति नासी।
जीव नहीं उबिजात जबै ढिग पौढ़ति है कुबजा कछुआ सी॥

बंशीधर—इनका ग्रथ 'अलकार रत्नाकर' अपने प्रकार का एक ही लक्षण ग्रन्थ है। इसे इन्होने उदयपुर के राजा जगत सिंह की आज्ञा से दलपति राज महाजन के साथ बनाया। यह ग्रन्थ जसवत सिंह के 'भाषा-भूषण' के समान ही लोकप्रिय हुआ। इनमें अलकार की परिभाषा पद्य में देकर उसे गद्य में समझाया गया है। रीति काल के भीतर कभी कभी गद्य का प्रयोग इस प्रकार और भी देखा जाता है। गद्य के विकास की यह पहली स्थिति थी। बाद में यही बीज अन्न पूरे रूप मे फलता-फूलता है। उदाहरण भी कवि की काव्य-प्रतिभा के सूचक है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अलकार के पठन-पाठन के लिए बडा ही उपयोगी है। इसमें दी गई हिन्दी कवियो की लम्बी नामावली साहित्य के इतिहास की खोज में उपयोगी सिद्ध हुई है।

सोमनाथ—ये भरतपुर के महाराज बदनसिंह के छोटे लडके के यहाँ रहते थे। इनकी 'रसपीयूष-निधि' नामक विशद रीति पुस्तक प्रसिद्ध है। इसकी रचना स० १७९४ में हुई। इस पुस्तक में पिंगल,

ध्वनि, भाव, रसादि काव्य के लक्षण, रस रीति गुण दोष प्रायः समस्त काव्यांगो का विशद विवेचन किया गया है। ग्रन्थ का कलेवर दास जी के काव्य-निर्णय से भी बड़ा है और इसका विषय-प्रतिपादन देख कर जान पड़ता है कि ये काव्य-शास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। किन्तु इनके आचार्यत्व मे वही कमी है जो रीति काल के अन्य कवि आचार्यो के लक्षण ग्रन्थो में मिलती है।

आचार्य के काम के साथ साथ इन्होने काव्य-रचना भी सुन्दर की है। ससिनाथ उपनाम से ये कविता लिखते थे। ये अत्यन्त भावुक और सहृदय थे और इनकी भाषा भी अत्यन्त स्वाभाविक है। उसे गढने का प्रयत्न कही नही मिलता। 'रस पीयूष-निधि' के सिवा इन्होने निम्नलिखित ग्रन्थो की भी रचना की है—

कृष्ण लीलावती, पंचाध्यायी, सुजान-विलास और माधव-विनोद नाटक। ये तीनो ग्रन्थ बहुत कुछ प्रवन्ध के ढग पर लिखे गए है। रीति काल के कवियो ने प्रधान रूप से मुक्तक में ही कविता लिखी। किन्तु इन्होने प्रवन्ध की ओर भी ध्यान दिया। यह इनकी विस्तृत दृष्टि का सूचक है। इनकी कविता का एक उदाहरण देखिये—

दिसी विदिसन तें उमड़ि मढ़ि लीनो नभ,
छाँड़ि दीने धुरवा, जवासे-जूथ जरिगे।
डहडहे भये द्रुम रंचक हवा के गुन,
कहूँ कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरिगे॥
रहि गये चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
'सोमनाथ' कहै बूँदाबूँदी हू न करिगे।
सोर भयो घोर चारों ओर महि मंडल में,
आये घन आये घन, आय कै उघरिगे॥

रसलीन—हरदोई जिले में विलग्राम के कई प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् हो गये हैं। रसलीन वही के रहने वाले थे। इनका जन्म सं० १७६४ के लगभग माना जाता है और इनका असल नाम सैयद गुलाम नवी था। इन्होंने दो पुस्तकें लिखी—'अग-दर्पण' और 'रस प्रवोध'। अग दर्पण तो इनकी वहुत ही प्रसिद्ध रचना है। अंग दर्पण में उपमादि अलंकारो द्वारा शरीर के अगो का अलकारो के माध्यम से वडा ही चमत्कार पूर्ण वर्णन किया गया है। रस-प्रवोध में रसो के सम्वन्ध मे लिखा गया है। रसलीन ने विशेष कर दोहे ही लिखे हैं और कला की दृष्टि से ये दोहे उतने ही सुन्दर वन पड़े हैं जितने कि विहारी के दोहे। सूक्तियो के तो ये भडार हैं। मुसलमान होते हुए भी व्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनकी भाषा सुवोध है। 'रस-प्रवोध' रस के विषय मे छोटा सा अच्छा ग्रन्थ है। आँखो के सम्वन्ध में इनका प्रसिद्ध और वहु-उद्धृत दोहा देखिये—

अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक वार॥

नीचे इनके कुछ और दोहे दिये जाते हैं—

धरति न चौकी नग जरी, यातें उर में लाइ।
छाँह परे पर पुरुष की, जिन तिय धरम नसाइ॥
मुख ससि निरखि चकोर अरु, तन पानिप लखि मीन।
पद पंकज देखत भँवर, होत नयन रसलीन॥
सौतिन मुख निसि कमल भो, पिय चख भये चकोर।
गुरुजन मन सागर भये, लखि दुलहिनि मुख ओर॥

रघुनाथ—ये काशी के राजा वीरवड सिंह के दरवार में रहते थे। महाराज ने चौरा गाँव दे दिया था। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार इन्होंने निम्नलिखित चार ग्रन्थो की रचना की—काव्य कलाधर, रसिक मोहन,

जगतमोहन और इश्क-महोत्सव। 'रसिकमोहन' अलंकार का ग्रन्थ है। इसमें शृंगार के अतिरिक्त वीरादि अन्य रसो के भी उदाहरण दिये है। स्पष्टता और सुन्दरता इन उदाहरणो की विशेषता है। 'काव्य कलाधर' रस सबंधी ग्रंथ है। 'जगतमोहन' मे कृष्ण भगवान् की एक पूरे दिन की चर्य्या कही है और इसमें कवि ने अनेक विषयो के अपने ज्ञान का परिचय दिया है। किन्तु यह वास्तविक काव्य-ग्रन्थ नही कहा जा सकता। 'इश्क-महोत्सव' खड़ी बोली में लिखा गया है जिसमे उर्दू की वहुत ज्यादे पुट है। ये उर्दू के भी अच्छे ज्ञाता थे।

काव्य कलाधर मे भाव भेद, रस भेद कम—नायक भेद—ही अधिक है। ग्रन्थ विषय-निरूपणात्मक कम—वर्णनात्मक अधिक है। अलकारो की झलक होने पर भी भाषा साधारण कही जायगी।

दूलहः—ये कवीन्द्र के पुत्र और कालिदास त्रिवेदी के नाती थे। इनके जीवन के वारे में वहुत कम मालूम है। इन्होने 'कवि कुल कंठाभरण' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें ८५ छद है। कुछ फुटकल छंद भी इन्होंने लिखे है। जैसा कि कवीन्द्र और कालिदास के सबध में कहा जा चुका है, कविता इनकी खानदानी चीज थी। इन तीनों मे दूलह सबसे अच्छे कवि थे। इन्होनें तो लिखा कम है किन्तु जो कुछ लिखा है वही इन्हे प्रतिभाशाली कवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। अलकारों के प्रचलित बोध के लिए इनका ग्रन्थ ठीक है। लक्षण और उदाहरण एक ही छद में विधिवत् कहने के इन्होने कवित्त और सवैया छन्द चुना है। इनकी कल्पना में माधुर्य और शैली में चोट है। इनकी काव्य प्रतिभा असंदिग्ध है।

बेनी बन्दीजन—अवध के महाराज टिकैतराय इनके आश्रयदाता थे। ये वैंतो के निवासी थे। इन्होंने 'टिकैतराय प्रकाश' और 'रस विलास' नामक ग्रथो को रचना की। प्रथम ग्रथ बेनी के आश्रयदाता के नाम पर बना है। इसमें कवि ने अलकार-निरूपण किया है। 'रस-विलास' के नाम

से ही प्रतिपादित विषय स्पष्ट है। किन्तु वेनी की प्रसिद्धि का कारण है इनकी हास्यरस से पूर्ण भड़ौवो की रचना। इनका भड़ौवा-सग्रह हास्य रस की एक वड़ी ही अनूठी रचना है और विषय-नवीनता के कारण वेनी की मौलिक काव्य-प्रतिभा की द्योतक है। अग्रेजी साहित्य में जिस प्रकार अलेक्जेंडर पोप ने अपनी व्यग्यात्मक कविता मे समसामयिक लेखको पर छीटाकशी करके उनका मजाक उड़ाया है उसी प्रकार वेनी ने भी कही कही छीटाकशी की है। ये उर्दू की दजो पद्धति या उपहास काव्य के अनुयायी है। उदाहरणार्थ लखनऊ के ललकदास के वारे में इनकी एक पंक्ति देखिये—'बाजे वाजे ऐसे डलमऊ में बसत जैसे मऊ के जुलाहे लखनऊ के ललक-दास।' इनके भडौवा-सग्रह में इस प्रकार की सैकड़ो पंक्तिया मिलेंगी। हास्यरस के कवि के विचार से ये रीतिकाल में अपना एक अलग ही स्थान रखते है। व्यक्ति विशेष पर छीटाकशी करने के अतिरिक्त इन्होने अन्य छोटे मोटे विषयो पर भड़ौवे वनाये है जिन्हें पढ कर पाठक हँस हँस कर लोट पोट हो जाता है। और उसका साहित्यिक मनोरजन होता है। इनकी रचना का एक उदाहरण दिया जाता है—

आध पाव तेल में तयारी भई रोशनी की,
आध पाव रूई में पोशाक भई बर की।
आध पाव छाले के गिनौरा दियो भाइन को
माँगि माँगि लायो है पराई चीज घर की॥
आधि आधि जोर बेनी कवि की बिदाई कीनी,
ब्याहि आयो जब तें न बोले बात थिरकी।
देखि देखि कागद तबीअत सुमादी भई
सादी कहा भई बरबादी भई घर की॥

इनका कविताकाल संवत् १८४९ से १८८० तक माना जाता है।

ग्वाल कवि—ये मथुरा के रहने वाले थे और इनके पिता का नाम सेवाराम था। अनुमान से इनके जन्म और मरण-सवत् १८४८ और १९२८ है। ये जगदम्बा और शिव जी की उपासना करते थे। इनका बनवाया एक शिव मंदिर मथुरा में अभी विद्यमान है।

इनके सम्बन्ध मे एक कथा प्रसिद्ध है। अपने गुरु द्वारा शाला से निकाल दिये जाने पर ये एक तपस्वी की तन, मन, धन से सेवा करने लगे। वह इन पर प्रसन्न हो गया और उसी के आशीर्वाद की कृपा से इनमें अपूर्व काव्य-प्रतिभा जागृत हो गई। इन्होंने भारतवर्ष के कई भागो का भ्रमण किया था जिसके परिणाम स्वरूप ये प्रांतीय भाषाओं में भी छंद रचना कर सके। कहते है कि महाराज रणजीत सिंह के दरबार में भी इनकी पहुँच थी और महाराज से इन्हें भूमि आदि की प्राप्ति भी हुई। इनके लिखे हुए ५० या ६० ग्रंथ कहे जाते हैं। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रथ 'यमुना-लहरी' है जिसमें प्रकृति और ऋतुओ का सुन्दर वर्णन है। इसके अतिरिक्त इनके कुछ दूसरे ग्रन्थो के नाम ये है—

रसिकानद, भक्तभावन, रस रंग, कृष्ण का नख शिख, दूपणदर्पण, हम्मीर हठ, राधा-माधव मिलन, राधा अष्टक, कवि हृदय विनोद, कुब्जाष्टक, कृष्णाटक। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। ये बड़े ही मौजी स्वभाव के थे। एक उदाहरण देखिये—

मोरपखा सिर ऊपर सोहै अधर बसुरिया राजत बाय।
गाय बजाय नचावे अँखियन करिया कमरी साजत बाय॥
ग्वाल लिये संग घाट बाट में धरा छूइ मोर भाजत बाय।
हाय ननदिया का करिहौं मैं कहत बाद जिय लाजत बाय॥

आचार्य शुक्ल जी इन्हें पद्माकर के समकक्ष ही बडा कवि मानते है। इनकी लोकप्रियता भी ऐसी है। इनकी अन्य कविताओ से भी इनका

फक्कड़पन प्रकट होता है। भाषा में प्रवाह और व्यवस्था है। अरबी फारसी के शब्दो के प्रयोग के साथ साथ इन्होने कही कही उर्दू कविता का लहजा भी अपनाया है। पर वहाँ सस्तापन आ गया है। यो ये कविता-कुशल और भाव-विदग्ध थे।

प्रतापसिंह—इनके पिता रतनेस वन्दीजन चरखारी के राजा विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इनकी कविता सुन्दर हुई है। इनके प्रसिद्ध ग्रथो के नाम ये है—'व्यग्यार्थ कौमुदी', 'काव्य-विलास', 'शृंगार-मजरी 'अलंकार-चितामणि', 'काव्य-विनोद' और 'जयसिंह'। इन्होने मतिराम के रसराज और बिहारी की सतसई की टीका भी लिखी है। ये रीति परंपरा के अतिम कवियो में मुख्य थे। इनकी 'व्यग्यार्थ कौमुदी' सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रथ है। इस ग्रथ में रस और अलकार का बडा ही सुन्दर निरूपण हुआ है। अन्य रीति ग्रथो में जो अभाव रह गया था वह इस पुस्तक द्वारा पूर्ण हो गया। ये अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ थे और ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनकी भाषा निर्दोष और सौष्ठवपूर्ण है। पद योजना कही निरर्थक नही है। इनकी रचनाओ में शृगार और प्रकृति के सुन्दर वर्णन मिलते है। अन्य विषयो पर भी इन्होने लिखा है। एक उदाहरण देखिये—

> कानि करै गुरु लोगन की, न सखीन की सखीन हौं मन लावति।
> ऐंड़-भरी अँगराति खरी, कत घूंघट में नए नैन नचावति॥
> मंजन कै दृग अजन, आँजति, अंग अनंग-उमंग बढ़ावति।
> कौन सुभाव री तेरो परयो, खिन आँगन में खिन पौरि में आवति॥

ऊपर दिए हुए कवियो के अतिरिक्त रीतिकाल के काव्य को समृद्ध बनाने में निम्नलिखित कवियो का भी काफी हाथ रहा है। उनके ये नाम है—

राम (सवत् १७०३), सूरत मिश्र (सवत् १७६६), वीर (संवत् १७७९), कृष्ण कवि (संवत् १७७९), गंजन (संवत् १७८६), भूपति (संवत् १७९१), कुमारमणि भट्ट (सवत् १८०३), शंभूनाथ मिश्र (संवत् १८०६), शिवसहाय दास (संवत् १८०९), बैरीसाल (संवत् १७९८), रतन (संवत् १८३०), चंदन (संवत् १८४५), देवकी नन्दन (सवत् १८४१), महाराजा रामसिंह (सवत् १८३९), मान कवि (संवत् १८४५), थान कवि (संवत् १८४७), करन कवि (संवत् १८६०), गुरुदीन पाडेय (सवत् १८६०) तथा रसिक गोविन्द (संवत् १८५०)।

रीतिकाल में हिन्दी साहित्य की अन्य धाराएँ

रीतिकाल के प्रमुख प्रतिनिधि कवियो का वर्णन किया जा चुका है। हम इन्हे प्रतिनिधि कवि इसलिए कहते है कि इनकी रचना में रीति कालीन साहित्य की सभी प्रमुख विशेपताएँ, चाहे वे भाषा संबधी हों अथवा विचारधारा सवधी, अपने प्रौढ रूप मे व्यक्त हुई है। किन्तु यह एक सामान्य सत्य है कि साहित्य अथवा जीवन में कोई धारा विशेष अपने विल्कुल शुद्ध रूप में एकाकी अस्तित्व नही रख सकती। उसमें अन्य तत्त्वो का थोड़ा वहुत सम्मिश्रण अनिवार्य है। इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार रीति काल में लक्षण ग्रथ लिखने वाले कवि आचार्यों के अतिरिक्त अन्य लेखक भी हुए जिन्होने रीति काल की बँधी प्रणाली के अनुसार रचना न करके भिन्न भिन्न मार्ग अपनाये। इन लेखको का ध्यान शृगार के अतिरिक्त अन्य विषयो की ओर भी गया। कुछ कवियो ने भक्ति तथा वीर रस की सुन्दर कविता की। कुछ ने नीति सवधी कविता वनाई जिसमें जीवन के सवध में अनेक शिक्षाप्रद सूक्तियाँ मिलती है। इसके अतिरिक्त शृंगार रस की कुछ फुटकल कविताएँ भी हुईं जिनमें कवियों ने अपनी मौज के अनुसार लिखा। इनका उद्देश्य नख शिख अथवा नायिका भेद का सागोपांग वर्णन करना न था। वे तो अपनी रुचि के अनुकूल जीवन के कुछ अंग विशेष, हृदय की तल्लीनतापूर्ण भावनाओ पर सुन्दर कविता लिखा करते थे। ऐसे कवियो में घनानद का स्थान सबसे ऊँचा है। लक्षणवद्ध रचना ध्येय न होने के कारण मार्मिकता और

काव्यत्त्व इन फुटकल कविताओं मे अधिक है। सूक्तियों की मौलिकता और मनोदशा-वर्णन की विविधता भी पाई जाती है। कविता की एक-रसता और एकरूपता से यहाँ आकर मुक्ति मिलती है और मन को एक सुखद परिवर्तन का बोध होता है। हृदय की सहज रुचि और रुझानों के प्रेमासक्ति और स्वाभाविक स्वच्छन्दतावाद के दर्शन हमें यहाँ होते हैं। जीवन के अपेक्षाकृत सूक्ष्म, व्यापक प्रवृत्तिमूलक मूल्यो की व्यंजना आप से आप इन कवियो की कविता में हुई है।

इस समय अनेक कवियो ने प्रबंध-काव्य लिखने का प्रयत्न किया। किन्तु साहित्य के इस अग की कोई विशेष उन्नति न हो पाई। इस काल मे लिखे गये अनेक प्रबन्ध काव्यो मे से कुछ के नाम ये हैं—सबल सिह का महाभारत, छत्र सिह की विजय मुक्तालवी, गुरु गोविन्द सिह का चडी चरित्र कवि, लाल का छत्र प्रकाश, जोधराज का हम्मीर-रासो, सूदन का सुजान-चरित्र, देवीदत्त की वैताल पचीसी, ब्रजवासी दास का ब्रजविलास। भक्तिकाल मे तो हिन्दी साहित्य की प्रबन्ध धारा तुलसी और जायसी जैसे प्रतिभा सपन्न कवियो को पाकर अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। रीतिकाल में पद्मावत और रामायण की गौरव पूर्ण परपरा का भार वहन कर सकने की क्षमता वाला कोई कवि न हुआ। ऊपर लिखे प्रबन्ध ग्रथो मे कवित्व और विषय का प्रसार जीवन दृष्टि की व्यापकता विशेष मात्रा मे नही पायी जाती।

इसके अतिरिक्त एक और प्रकार का प्रबन्ध भी इस समय लिखा गया जिसमे वर्णन प्रधान था। इस प्रकार की रचना को वर्णन-प्रधान प्रबन्ध कह सकते है। दानलीला, मानलीला, वनविहार, जलविहार आदि इस प्रकार के काव्य के उदाहरण है। इस प्रकार महाकाव्य की कथाओ के विभिन्न अगों पर स्वतत्र पुस्तकें लिखी जाने लगी। इनमें बड़े विस्तार से चीजो का वर्णन होता है, जैसे खाने-पीने के वर्णन मे सैकड़ों

मिठाइयो के नाम गिनाना। इन लंबे अनावश्यक वर्णनो से कभी कभी जी ऊब जाता है। कवित्व की दृष्टि से ये ग्रन्थ भी कुछ बहुत अच्छे नही बन पडे। एक रस्म अदाई-सी इनमें मिलती है।

कुछ कवियो ने नीति की फुटकल कविताएँ रची। गिरिधर, घाघ, वृंदादि इसी कोटि के कवि है। इनकी कविता में जीवन के सत्य प्रभावशाली और चुभते हुए ढग से कहे गये हैं। किन्तु रस सृष्टि के लिए इतना ही काफी नही होता और बिना रस के कविता नही बन सकती। अत' जैसा कि स्व० शुक्ल जी ने कहा है हम इन्हे कवि न कह कर सूक्तिकार कहेगे। रहीम, तुलसी आदि ने जो उपदेश प्रधान कविता लिखी, ये सूक्तिकार उसी परपरा के वाहक है। परिष्कृत रुचि के लोग इन रचनाओ की कविता की दृष्टि से इतनी कद्र नही करते। किंतु अपढ अथवा अर्द्ध-शिक्षित जन साधारण मे इस उपदेश-प्रधान कविता का खूब प्रचार हुआ। गिरिधर की कुडलियाँ आज भी सुनने में आती है। इनमें ब्रजभाषा और खडी बोली दोनो का मिश्रित रूप प्रयुक्त हुआ है। दोहो के स्थान मे कुंडलिया और छप्पय का अधिक प्रयोग हुआ है। यों तो सम्पूर्ण भक्ति काव्य तथा रीति काव्य (अत्यधिक निरूपण मूलक छन्दो को छोड़ कर) जनता का काव्य हैं—इस अर्थ में कि वह जनता के कठ के नीचे उतरा और उनके व्यक्तित्व का अश बन गया। पर नीति की कवितायें इस दृष्टि से सबसे-आगे मानी जायँगी। विषय विविधता और सूझ की विचित्रता के साथ साथ इन कविताओ में एक सीधी चोट है जो लोक रुचि को आकर्षक तो लगती ही हैं उसे शिक्षित और परिष्कृत भी करती है। उनमें कठस्थ हो जाने का गुण भी है और अपने प्रसाद पूर्ण गठन के कारण वे सरस न होकर भी नीरस नही होती।

इस काल में भक्ति और ज्ञान उपदेश से संबंधित कविताएँ भी हुई। इनका प्रभाव हमारी बुद्धि पर ही पड़ता है। हमारे हृदय को ये आलो-

ड़ित नहीं कर पाती। इस कोटि के अधिकांश कवियों की कविताएँ विशेषताहीन हैं। कुछ एक दो प्रतिभा संपन्न कवि ही ऐसे मिलते हैं जिन्होंने उपमा, रूपकादि का प्रयोग कर भगवद्भक्ति और संसार से विरक्ति आदि पर सुन्दर काव्य-रचना की है। पर ध्यान से देखा जाय तो इसे चर्वित चर्वण ही कहा जायगा। भाषा, भाव, विचार छन्द और शैली—आन्तरिक विश्वास और आस्था की प्रतीति किसी दृष्टि से इनमें नवीनता या ताजगी नही है। वह अलौकिक रस नही।

वीर रस की फुटकल कविताएँ भी इस काल में लिखी जाती रही। कवि लोग अपने आश्रयदाता की वीरता अथवा दानशीलता का अति-रंजनापूर्ण वर्णन करते रहे। कुछ कवियों ने तत्कालीन समाज के त्राता और नायको को अपना आश्रयदाता बनाया जिसके परिणाम स्वरूप जनता की भावना उनकी वाणी में अभिव्यक्त हुई। भूषण इसके ज्वलंत उदाहरण है। वे वीर रस के पिटमरू कवि नही थे जो अपने रोटीदाता की काल्पनिक वीरता के सच्चे झूठे गीत गाते। वे तत्कालीन जागरण के प्रतिनिधि राष्ट्रीय कवि थे। हिन्दी-साहित्य के आदि काल में वीर रस के ग्रथो की जो परिपाटी आरभ हुई वह प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप से अब तक बहती ही रही। रीति काल मे वीर रस के वर्णन मे अधिक विस्तृत दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। इन ग्रंथो में कही कही उच्चकोटि की कविता तो मिलती ही है, साथ ही साथ रस और अलंकार का निर्वाह भी अच्छी तरह हुआ है। भूषण का शिवराज भूषण लक्षणबद्ध अलंकार निरूपण के ढग पर लिखा गया है जो इस बात का द्योतक है कि वीर काव्य की सनातन धारा भी युग विशेष मे आकर रीति का माध्यम पकड लेती है। संस्कृत के श्रेष्ठ वीर काव्यो के पद्यबद्ध अनुवाद की रुचि भी कवियों में देखी जाती थी। भागवत, महाभारत, तथा गुमान मिश्र कृत नैषध काव्य इसके प्रमाण हैं। ओज के आधिक्य ने भाषा की शुद्धता को दबा दिया है।

इस काल में गद्य लिखने के भी कुछ प्रयत्न हुए किन्तु अपवाद स्वरूप। 'वैष्णव वार्ता' के समान कुछ पुस्तकें लिखी गईं। किन्तु ब्रज भाषा की शक्ति गद्य के लिए उपयुक्त न थी। अत. अच्छा गद्य कम ही मिलता है। खडी बोली इस समय तक मुसलमानी भाषा ही समझी जाती रही। यदाकदा ही उसका प्रयोग कवियो नें किया है। पर भाषा में एक नवीन दिशा की ओर बढने और नया स्वरूप पकड़ने की स्पष्ट प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इसी समय रीवा नरेश विश्वनाथ सिंह ने हिन्दी का प्रथम नाटक लिखा। कुछ अन्य लेखको ने भी नाटक लिखे पर नाटक अपने स्वाभाविक रूप में विकसित न हो सका। नीचे इस काल के प्रमुख लेखको का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

सबलसिंह चौहान—इनके जन्म और मरण सवत् १७०० और १७९२ माने जाते है। शायद ये इटावे के किसी गाँव के मालगुजार थे। इन्होंने पूरा महाभारत दोहे चौपाइयो में लिखा है। अनुमान किया जाता है कि पूरा ग्रन्थ ६५ वर्ष में लिखा गया था। इसके अतिरिक्त रूप विलास, पिंगल, षटऋतु, वरवै और भाषा ऋतु सहार भी इनके लिखे ग्रन्थ कहे जाते है। महाभारत में युद्ध-वर्णन बडा ही प्रभावशाली हुआ है। इनकी प्रसिद्धि का कारण महाभारत ही है। इस ग्रन्थ में सीधी सादी भाषा में कथा कह दी गई है। उदाहरणार्थ कुछ पक्तियाँ दी जाती है—

अभिमनु घेरे आय सब, मारत अस्त्र अनेक।
जिमि मृगगण के यूथ महं, डरत न केहरि एक॥
लैके सूल वियो प्रहारा। वीर अनेक खेत महँ मारा॥
जूझो अनी भभरि कै भागे। हँसि के द्रोण कहनि अस लागे॥
धन्य धन्य अभिमनु गुनआगर। सब क्षत्रिन महँ बड़ो उजागर॥
धन्य सुभद्रा जग में जाई। ऐसे वीर जठर जनमाई॥

वृंद—ये औरगजेब के दरबार मे थे और इन्हे औरगजेब के पोते अजीमुश्शान ने माँग लिया था। वह वृन्द को अपने साथ ही रखता था। इनकी 'वृन्द सतसई' में नीति के सात सौ दोहे संगृहीत हैं। ये महाराज कृष्णगढ के गुरू थे जहाँ आज भी इनके वशधर विद्यमान है। इनके नीति के दोहे बड़े ही लोक प्रिय है, और आज भी लोगो के मुँह सुने जाते है। इनकी भाषा सरल और हृदय स्पर्शिणी है। इन्होंने उपमा का बहुत प्रयोग किया है। नीति संवधी इनसे अधिक सुन्दर दोहे शायद और किसी हिन्दी कवि ने नही लिखे। इनके कुछ दोहे देखिये—

नीको पै फीको लगै, विन अवसर की वात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस शृंगार न सुहात॥
फीको पै नीको लगै, कहिये समय विचारि।
सब को मन हर्षित करै, ज्यों विवाह में गारि॥
हितहू की कहिये न तिहि, जो नर होय अवोध।
ज्यो नकटे को आरसी, होत दिखाये क्रोध॥

वैताल—इनका जन्म स० १७३४ है। ये विक्रमशाह के दरबारी कवि और प्राय. उन्ही को सबोधन करके इन्होंने अपने छद वनाये हैं। अपनी 'विक्रम सतसई' की रचना भी वैताल ने विक्रमशाह के नाम पर की। प्रतिदिन के जीवन मे अनुभूत सत्यो का वडा ही सुन्दर वर्णन इनकी कविता मे मिलता है। अपनी सूक्तियाँ प्राय: छप्पय छद मे ही इन्होंने लिखी है। ये वड़े ही निर्भय स्वभाव के थे। गिरिधर के समान व्यावहारिक जीवन के सत्यो को प्रकट करने के लिए इन्होंने अलंकारिक ढग नही अपनाया। सीधी वात को सीधे ढग से कहना इन्हे ज्यादा रुचिकर था। फिर भी इनके कथन का ढंग और रस अनूठा ही रहा। एक उदाहरण देखिये—

सखि बिन सूनी रैन ज्ञान बिन हिरदै सूनो।
कुल सूनो बिन पुत्र पत्र बिन तरुवर सूनो॥
गज सूनो इक दंत ललित बिन सायर सूनो।
विप्र सून बिन वेद और बिन पुहुप बिहूनो॥
हरिनाम भजन बिन संत अरु घटा सून बिन दामिनी।
बैताल कहै विक्रम सुनो पति बिन सूनी कामिनी॥

कही कही सामाजिक आचारो और लौकिक असगतियो पर भी इन्होन तीव्र प्रहार किया है।

आलम और शेख—शिवसिंह सरोज के अनुसार ये सनाढ्य ब्राह्मण ठहरते है और इनका जन्म सं० १७१२ माना जाता है। ये औरगजेब के पुत्र मुअज्जम के पास रहते थे। इनकी कविताओ के सग्रह का नाम 'आलमकेलि' है।

आलम और उनकी रँगरेजिन पत्नी शेख की प्रेम कथा वहुत प्रसिद्ध है। यह दोनों की शादी के पहले की घटना है। आलम ने शेख रँगरेजिन को अपनी पगड़ी रगने दी। उस पगडी के एक छोर मे एक कागज में कविता की निम्नलिखित पंक्ति लिखी थी जिसकी पूर्त्ति आलम ने किसी दूसरे समय के लिए छोड़ दी थी—

'कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन'

शेख ने जव उसे पढ़ा तो उसकी पूर्त्ति निम्नलिखित पक्ति जोड़ कर कर दी—'कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धर दीन'। वस शेख और आलम में परस्पर प्रेम हो गया। परिणाम स्वरूप आलम मुसलमान हो गये और दोनो की शादी हो गई। इनके जहान नाम का एक पुत्र भी हुआ। शायद इन दोनो की सम्मिलित रचनाएँ 'आलम केलि' में सग्रहीत है। ये रचनाएँ विशेषकर फुटकल कविताओ के रूप में ही हुई है और वडी सरस और प्रेमोन्मत्तता से भरी हुई है।

आलम ने रीति परपरा में फँस कर रचना नहीं की। ये प्रेम के दीवाने कवि थे। यही कारण है कि इनकी प्रेम-सम्बन्धी कविताएँ बड़ी ही मर्मस्पर्शी बनी हैं। प्रेम में व्याकुल हृदय की बड़ी ही सुन्दर झलक इनमें देखने को मिलती है। दोनों कृष्ण के भक्त थे। उत्प्रेक्षा का बड़ा सुन्दर प्रयोग होने पर भी अलंकार के लिए अलकार के प्रदर्शन की प्रवृत्ति इनमें नही पाई जाती। इनकी रचनाओं में तन्मयता का अंश बहुत अधिक है। इन्होने उर्दू में भी कुछ लिखा है। इनकी ब्रज भाषा बड़ी मजी हुई और मधुर है किन्तु कही कही पूरबी ओर फारसी का पुट मिलता है। आलम और शेख दोनो ही प्रेम के उच्चकोटि के कवि थे। इन्हे रसखान और घनानद की कोटि में रखना अनुचित न होगा। एक उदाहरण देखिये—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करें।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करें॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करें।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करें॥

शेख की कविता मे वर्णन की वास्तविकता और आलम की रचनाओं में शृंगारी कवियों की ऐन्द्रिकता और प्रेम-तत्परता है। भाव की रमणीयता के साथ साथ उक्ति की रमणीयता भी है और अनुभूति की उत्तेजना के साथ साथ हृदय और कही कही आत्मा की पीर देखते ही बनती है।

गुरु गोविन्दसिंह—इनके जन्म और मृत्यु सं० १७२३ और १७६५ हैं। ये सिक्खों के दसवें और अंतिम गुरु थे। इनके पिता का नाम गुरु तेग बहादुर था और इनका जन्म पटना मे हुआ था। इतिहास का थोडा सा भी ज्ञान रखने वाले लोग इस प्रसिद्ध हिन्दू धर्म और जाति-रक्षक वीर के कार्यों से परिचित है। इन्होंने सिक्ख जाति का संग-

ठन करके मुसलमानी अत्याचार के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द की। ये स्वयं भी एक बहादुर सिपाही थे। इसके अतिरिक्त ये बडे ही विद्या-प्रेमी थे। ये संस्कृत और फारसी के अच्छे ज्ञाता थे और हिन्दी में कविता करते थे। गुरुमुखी के अतिरिक्त ब्रजभाषा में भी इन्होने रचना की है। 'चण्डी चरित्र' इनके काव्यों में सबसे अच्छा बन पड़ा है। इसके अतिरिक्त सुनीति प्रकाश, ज्ञानबोध, प्रेम, सुमार्ग, बुद्धि-सागर, विचित्र नाटक और ग्रथ साहब के कुछ अश भी इनके लिखे हुए हैं। गोविन्दसिंह हिन्दू संस्कृति के एक उद्धारक और त्राणकर्ता थे।

लाल—इनका पूरा नाम गोरेलाल पुरोहित था। ये बुंदेल-खंड के निवासी थे। इन्होने अपने 'छत्र प्रकाश' नामक ग्रंथ में पन्ना के इतिहास प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल का जीवन-चरित दोहे-चौपाइयो में वर्णन किया है। इसमें वर्णित घटनायें इतिहासानुमोदित हैं। इनका विषय बड़ा ही प्रभावपूर्ण है। संबंध का निर्वाह, मार्मिक स्थलो की पहचान आदि प्रबन्ध काव्य की कुछ आवश्यक बातो का ज्ञान इस कवि को पूर्ण रूप से था। इसी से अपनी प्रबन्ध रचना में बड़ी पटुता दिखाई है। इस दृष्टि से हिन्दी के इने गिने प्रबन्धकर्त्ताओं में इनकी गणना की जाती है। भाषा और भाव दोनों में किसी प्रकार का आडबर अथवा कृत्रिमता नही पाई जाती। व्यर्थ के उक्ति वैचित्र्य और कल्पना की उड़ान से कवि-दूर ही रहा। छत्रसाल अपने काल के प्रधान लोकनायकों में थे। अतः 'छत्र प्रकाश' का साहित्य की दृष्टि से तो महत्व है ही, इतिहास की दृष्टि से भी यह काव्य बहुत उपयोगी है। एक और ग्रंथ 'विष्णु विलास' इनका रचा हुआ कहा जाता है। इनकी ब्रज भाषा में बुदेलखडी का पुट है। 'इनका'छत्र प्रकाश' नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है। इनकी कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

बान दया घमसान में, जाके हिये उछाह।
सोई वीर बखानिये, ज्यों छत्ता छितिनाह॥
जिनमें छिति छत्री छवि जाये। चारिहु युगन होत जे आये॥
भूमि भार भुज दंडिन थम्भे। पूरन करें जु काज अरम्भे॥
छत्रिन की यह वृत्त बनाई। सदा जंग की खाँय कमाई॥
गाय वेद विप्रन प्रतिपालै। घाउ ऐंड़धारिन पर घालै॥

घनानंद—आचार्य शुक्ल जी ने इन्हे रस की मूर्ति और वृज भाषा काव्य का एक प्रधान स्तंभ माना है। इनका जन्म सं० १७४६ के लगभग अनुमान किया जाता है। ये कायस्थ जाति के थे और निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव मतावलवी थे। नादिरशाह के आक्रमण के समय सं० १७९६ में कुछ आततायियो ने इन्हे मार डाला। इनकी मृत्यु का कारण था इनका दिल्ली के बादशाह मीरमुहम्मद शाह का मंत्री होना। एक बेअदबी के कारण बादशाह ने इन्हें दिल्ली के बाहर निकाल दिया। अपनी प्रेमिका सुजान वेश्या से भी इन्हें निराश होना पड़ा। ये विरक्त होकर वृन्दावन मे रहने लगे। नादिरशाही आक्रमण के समय कुछ सिपाहियो ने बादशाह का मीर मुंशी जान कर धन प्राप्ति के लालच मे इन्हें आ घेरा। अंत में धन न मिलने के कारण क्रोध मे आकर इनके हाथ काट दिये।

घनानंद जी प्रथम कोटि के गायक और कवि थे। रीतिकाल मे होने वाली शृंगार की मुक्तक कविता के क्षेत्र मे इन्होंने एकच्छत्र राज्य किया। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ सुजान सागर है।

इनके समान सरस, शुद्ध प्रौढ और प्रभाव शालिनी व्रजभाषा और कोई कवि न लिख सका। इन्होने प्रधान रूप से वियोग शृंगार पर अपनी लेखनी उठाई है। जैसा कि स्व० शुक्ल जी ने अपने इतिहास में लिखा

है, प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नही हुआ। इनकी प्रत्येक पक्ति में हृदय की हूक छिपी है। इनकी कविताओ मे 'सुजान' शब्द का निरंतर प्रयोग हुआ है पर वह कृष्ण के अर्थ में समझना चाहिए। घनानद की कलम ने रीतिकालीन शृगारिक कविता को अधिक अन्तर्मुखी बना दिया। सवैये इन्होंने बहुत ही अच्छे लिखे हैं। सुजानसागर के अतिरिक्त विरह लीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकांड भी इन्ही के रचे हुए है। अतिम समय में घनानद जी यद्यपि भगवत्प्रेम की ओर विशेष रूप से झुके थे, पर उनकी अधिकांश कविता शृगार रस के अंतर्गत ही आयगी।

कुलकानि छोड कर पार्थिव प्रेम की उपासना करने वाले इस कवि ने ब्रजभाषा काव्य मे एक नई धारा बहाई जिसे ठाकुर, बोधा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बल प्रदान किया। 'नेह की पीर' और बेचैनी इन्होंने बड़े उच्छ्वासपूर्ण स्वर में मुखरित की। पावस के धुंधले प्रभात जैसे दुख और विषाद की पृष्ठ भूमिपर यह प्रेम की कसक खूब खिलती है। सवैया छद लिखने में ये बेजोड है। हृदय का और आत्मा का सौन्दर्य आपसे आप इनकी कविता मेंझलक उठता है। उदाहरण देखिये—

तब तो दूरि दूरहि ते मुसकाय बचाय कै और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी रचाय कै नैनन में सरसे॥
अब तो उर माँहि बसाय के मारत एजू बिसासं कहाँ धौं बसे।
कछु नेह निबाहन जानत है तो सनेह की धार में काहे धंसे॥

उर्दू मे जो स्थान मीर का है वही हिन्दी मे इनका माना जायगा।

नागरीदास—ये कृष्णगढ़ (राजपूताना) के राजा थे। इनका यथार्थ नाम सावंतसिंह है। नागरीदास इनका कविता का उपनाम था।

इनका जन्म सं० १७५६ है। इन्होंने भक्ति रस की बहुत अच्छी कविता की है। इनकी पत्नी भी कविता करती थी। कौटुंबिक झगड़ों से तंग आकर ये विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे थे। सं० १८२१ में इनकी मृत्यु हुई। इन्होने भक्ति रस के लगभग ७३ ग्रंथों की रचना की। कही कही सुन्दर और नवीन भावो की व्यंजना है। इनके रचे ७३ ग्रन्थों को विभिन्न वर्णनो के लिये लिखे गये छन्दो के छोटे छोटे संग्रह समझना चाहिये। फारसी कविता की मादकता और सूफी भावधारा का भाव भी इन पर है। गाने के पदो के अतिरिक्त अनेक छन्दो का उपयोग इन्होने किया है।

जोधदास—इन्होने हम्मीर रासो की रचना की। ये वीर रस के अच्छे कवि थे और इन्होंने अपने रासो मे प्राय छप्पय छंद का ही प्रयोग किया है। कवि ने कुछ घटनाओ की कल्पना भी की है।

गिरिधर कविराय—इनका जन्म स० १७७० अनुमान किया जाता है। इनकी बनाई हुई नीति की कुडलियाँ बड़ी लोक प्रिय हुई। इनकी भाषा की जाँच करने पर यह अनुमान होता है कि इनका जन्म अवध के किसी स्थान मे हुआ था। कहा जाता है कि इनकी स्त्री ने भी कुछ कुडलियो की रचना की है। अनुमान से 'साईं' शब्द से आरंभ होने वाली कुंडलियाँ गिरिधर की पत्नी की रची हुई हैं। इनकी कविता में जीवन के अनुभवों का मर्म भरा होता है। एक उदाहरण देखिये—

सोना लादन पिय गये, सूना करि गये देश।
सोना मिले न पिय मिले, रूपा ह्वै गये केश॥
रूपा ह्वै गये केश, रोय रँग रूप गँवावा।
सेजन को बिसराम, पिया बिन कबहूँ न पावा॥
कहे गिरिधर कविराय, लोन बिन सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आव, कहा करिहौं लै सोना॥

उक्ति चमत्कार इनकी कविता का प्राण है और इनकी लोक प्रियता का रहस्य।

गुमान मिश्र—इनके जन्म-मरण के सवत् का ठीक ठीक पता नही लगता। इन्होने अली अकवर खां के कहने पर श्री हर्ष के नैषध का विभिन्न प्रकार के छदो में अनुवाद किया। ये सस्कृत के अच्छे जानकार होने के वावजूद नैषध के अच्छे अनुवाद में विशेष सफल न हो सके। वैसे स्वयं में यह प्रवन्ध काव्य सुन्दर वन पड़ा है। कही कही अनुवाद मूल से अधिक जटिल हो गया है। इसके अतिरिक्त कृष्णचद्रिका, छदा-वटी और रस रहस्य भी इनके द्वारा रचित माने जाते है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार था।

सूदन—ये मथुरा के रहने वाले थे और भरतपुर के महाराज सूरजमल इनके आश्रयदाता थे। इनके जन्म-मरण के संवत् का पता नही लगता। इनके सुजान-चरित्र नामक ग्रंथ में सूरजमल के जीवन काल के युद्ध तथा अन्य घटनाओ का वर्णन है। सूदन वीर रस की कविता में वहुत सफल हुए है। भूषण और लाल के वाद इनका ही नाम लेना पड़ता है। इनकी भाषा में व्रज भाषा और खड़ी वोली का मिश्रण मिलता है। इन्हे अपने प्रवंध काव्य के प्रधान चरित के लिये एक सच्चा वीर चरित्र नायक मिल गया। सुजान चरित्र पर चारण और भाटो की रचनाओ का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। भाषा के साथ कवि ने कही कही अवांछनीय स्वाधीनता ली है। जहाँ देखो वहाँ कवि प्रचुरता का प्रदर्शन करना चाहता है। वीर काव्य की रचना के लिये या लोक वीर की चरित्र सृष्टि के लिये जिस गंभीरता की आवश्यकता है वह कवि में नही। डिंगल भाषा के शव्दो की प्रचुरता और उसी शैली की शव्द योजना है। भिन्न भिन्न युद्धो का वर्णन होने के कारण एक-एक अध्याय एक एक जंग है।

ब्रजवासीदास—इनका जन्म सं० १७९० के आसपास अनुमान किया जाता है। इनका ब्रज-विलास प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमे भगवान कृष्ण की ब्रज लीला का वर्णन दोहे चौपाइयों मे किया गया है। कवि ने इसे तुलसीकृत रामायण के आदर्श पर रचने का प्रयत्न किया है। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से रामायण और ब्रज-विलास की कोई तुलना नही। हाँ कृष्ण भक्तो में अवश्य इस ग्रन्थ का खूब प्रचार है। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

ठाढ़ी अजिर जसोदा रानी। गोदी लिये श्याम सुखदानी॥
उदय भयो ससि सरस सुहावन। लागी सुत को मात दिखावन।
देखहु स्याम चंद यह आवत। अति सीतल दृग ताप नसावत॥
चित रहे हरि एकटक ताही। करते निकट बुलावत ताही॥

बोधा—इनका प्रथम नाम बुद्धिसेन था। कोई इन्हें राजापुर और कोई फिरोजाबाद का निवासी बताता है। पर ये बोधा शायद राजापुर के ही थे। इनके जन्म-मरण की तिथि के संबंध में कुछ ज्ञात नही। शिवसिंह सरोज के अनुसार ये सं० १८०४ में पैदा हुए थे।

ये पन्ना दरबार में बहुत सम्मानित थे। संस्कृत और फारसी के भी अच्छे जानकार थे। पन्ना नरेश की एक वेश्या से इनका कुछ संबंध हो जाने के कारण ये ६ माह के लिए राज्य से निकाल दिये गये। जला-वतनी में इन्होने विरह-वारीश की रचना की। लौटकर इन्होंने यह ग्रथ जब पन्ना नरेश को सुनाया तो वे इतने प्रसन्न हुए कि उस वेश्या को इनके हवाले कर दिया। 'इश्कनामा' इनका दूसरा ग्रथ है।

बोधा बड़े ही प्रेमी कवि थे। इनका काव्य सागर प्रेम की तरगों से तरगित है।

दीनदयालगिरि—ये सन्यासी थे और काशी मे रहा करते थे। इनके जन्मादि के बारे मे भी कुछ नही मालूम होता। इनकी कविता से मालूम पडता है कि ये बडे ही उदार हृदय के व्यक्ति थे। इनका स्वभाव बडा ही विनोदी था। इनकी लोकोक्तियाँ भी बहुत लोकप्रिय हुई। इन्हे तत्कालीन काशी नरेश से कुछ आर्थिक सहायता भी प्राप्त होती थी। विजयानन्द त्रिपाठी के मतानुसार ये स० १९२२ मे गोलोकवासी हुए। ये काफी दिनो तक जीवित रहे। इनके लिखे हुए पाँच ग्रथ कहे गये है—अनुराग बाग, दृष्टात, तरगिणी, अन्योक्ति-माला, वैराग्यदिनेश और अन्योक्ति कल्पद्रुम।

ऊपर वर्णित कवियो के अतिरिक्त इस काल मे और भी कवि हुए जिन्होने अलग अलग विषयो पर सुन्दर काव्य रचना की है। पर स्थानाभाव के कारण हम केवल उनका नाम देकर ही सतोष करते है।

महाराजा विश्वनाथ सिंह (१७७८), बख्शी हसराज (१७९९), भूपति (१८३१), चाचा हितवृन्दावनदास (१७६५), भगवन्त-राय खीची, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, (१८४०)। रामचन्द्र (१८४०), मधुसूदनदास (१८३९), नवलसिंह कायस्थ (१८७३), रामचन्द्र, रामसहायदास (१८६०)। पजनेस (१९००), ठाकुर (१८५०) और चंद्रशेखर (१८५५)।

आधुनिक काल

संवत् १९००—२०००

गद्य का आरम्भिक विकास

आधुनिक काल को गद्य युग कहा जाता है। प्रत्येक साहित्य के या जातीय जीवन के प्रारंभिक काल में पद्य की प्रवृत्ति विशेष रूप में देखी जाती है पर प्रौढ़ावस्था आते ही गद्य का विकास प्रारम्भ हो जाता है। साहित्य रचना की दृष्टि से गद्य में लेखक को अधिक सुविधा और स्वाधीनता है। दैनिक सामाजिक और पारिवारिक जीवन में उसें विचार विनिमय के लिये गद्य का ही आश्रय लेना पड़ता है। विश्व-साहित्य मे आज गद्य असख्य शक्तिवान लेखको के व्यक्तित्व से अनुप्राणित होकर अभिव्यक्ति का प्रभावशाली माध्यम बन गया है। एक अँगरेज लेखक का कथन है कि कविता अपेक्षाकृत अपरिपक्व युग या मन की उपज है। इसीलिये उसमे वैयक्तिकता और भाव प्रवणता अधिक रहती है। कविता व्यक्ति की जातिगत मूल प्रवृत्तियो को विशेष कौशल से व्यक्त करती है। गद्य उसे सामाजिक पात्र के रूप मे चित्रित करता है। आज के सघर्ष प्रधान सामाजिक युग की मुख्य प्रवृत्ति गद्य है। बड़े से बड़े कवि को भी आज गद्य लिखे बिना अपनी रचना अधूरी लगती है। कारण इस युग के आरभ होते होते सामाजिक, साम्प्रदायिक, राजनीतिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे जो हलचल मची—जो परिवर्तन हुए उनकी झलक और सजीव चित्रण के लिये गद्य का विकास अनिवार्य था। साहित्य के तत्त्व सदैव जीवन से आते है। जैसे जैसे जीवन की वास्तविकता जटिल होती जायगी वैसे वैसे उसकी अभिव्यक्ति के साधन भी

बढते जायंगे। शिक्षा के प्रचार और लोक जागर्ति के प्रसार के साथ साथ जनता की रुचि भी राजनीतिक अभिज्ञता, धार्मिक चेतना और सामाजिक प्रकाश की ओर जाती है। राजा लक्ष्मणसिंह के ही समय में हिन्दी गद्य की भाषा अपने भावी रूप और उसकी सभावनाओ का आभास दे चुकी थी। बाद में जो सशक्त प्रतिभाशाली लेखको की परपरा आई उसने उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित किया। आज हिन्दी गद्य की भाषा की अभिव्यजना शक्ति इतनी बढ गई है कि उसमें गभीर से गभीर और सूक्ष्म से सूक्ष्म भावो को प्रगट करने की क्षमता आ गई है। भाषा व्यवहार के विस्तृत क्षेत्र की ओर बढी है। नये नये विचार नई नई भावनाओ के प्रवाह ने उसे विभिन्नता और बहु-रसता प्रदान की है। आगे हम खडी बोली गद्य के विकास के क्रम का उल्लेख करते हुए आधुनिक युग की साहित्य सृष्टि का परिचय देंगे।

१९०० के पूर्व हिन्दी साहित्य की भाषा ब्रजभाषा होने के कारण उस समय गद्य भी ब्रज भाषा में लिखा जाता था। सवत् १४०७ के आस-पास गद्य में लिखे हुए कुछ गोरखपथी ग्रन्थ मिले है। इस गद्य को हम उस समय के ब्रजभाषा गद्य का नमूना मान सकते है। ब्रजभाषा का १४०० का प्राप्त यह पुराना रूप नीचे दिये अवतरण से स्पष्ट होगा :—

"श्री गुरु परमानद तिनको दडवत है। है कैसे परमानद, आनद-स्वरूप है सरीर जिन्हिको, जिन्हिके नित्य गायें ते सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है।"

इसके बाद भक्ति काल में कृष्णभक्ति शाखा के भीतर श्री वल्लभा-चार्य के पुत्र गोसाई विट्ठल नाथ कृत श्रृगार-रस-मडन नामकग्रन्थ ब्रज-भाषा गद्य में प्राप्त होता है। तदुपरान्त चौरासी वैष्णवो की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता के दो गद्य ग्रन्थ ब्रज भाषा में और मिलते हैं। इन ग्रन्थो में वैष्णव भक्तो और आचार्य जी की महिमा

प्रकट करने वाली कथाये लिखी गयी है। नाभादास ने संवत् १६६० मे अष्टयाम और १६८० मे ओरछा के वैकुठमणि शुक्ल ने अगहन माहात्म्य और वैसाख माहात्म्य नाम के ग्रन्थ व्रजभाषा गद्य मे लिखे। सूरति मिश्र ने १७६७ मे बैताल पचीसी नामक पुस्तक लिखी। पर इन ग्रन्थो के द्वारा गद्य के विकास पर कोई प्रभाव न पड़ा। साहित्य की रचना पद्यो में ही होती थी। यही व्रज भाषा गद्य का प्रवर्तन रुक जाता है। आगे का गद्य लेखन काव्यो की अव्यवस्थित अशक्त टीकाओ द्वारा होता रहा। जो सस्कृत टीकाओ की रूढ़ शैली पर लिखी जाती थी। केशवदास की कवि प्रिया, रसिक प्रिया आदि पर सरदार कवि द्वारा लिखी गई टीकाये मे इस समय भी मिलती है। पर उनसे गद्य का कोई विकास नही परिलक्षित होता।

अब हम खडी बोली के गद्य पर आते है। खडी बोली का एक रोचक इतिहास है। मेरठ के चारो ओर के प्रदेश मे यह बोली जाती थी। इसके बाहर इसका प्रचार बहुत कम था। देश मे जब मुसलमानों का आधिपत्य तथा प्रभाव बढा तब उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खडी बोली को अपनाया। दिल्ली की खड़ी बोली व्यावहारिक भाषा हो चली। विक्रम की चौदहवी शताब्दी मे खुसरो ने व्रज भाषा के साथ खड़ी बोली मे भी पद्य और पहेलियाँ लिखी थी। मुसलमानो ने अपनी सस्कृति के प्रचार का साधन मान कर इस भाषा को खूब उन्नत किया। जहाँ जहाँ वे फैलते गये इसे अपने साथ लेते गये। उन्होंने इसमें केवल अरबी फारसी के शब्दो की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नही कर दी बल्कि इसके व्याकरण पर भी फारसी अरबी व्याकरण का रग चढाया। खड़ी बोली के अनेक शब्द हिन्दी भाषी प्रान्तों की जनता में लोकप्रिय हो गये। धीरे धीरे कथावाचको, महात्माओ और अन्त मे लेखको की रचनाओ मे भी वे शब्द पहुँचे। इस प्रकार के गद्य का नमूना सवत् १५७२

के लगभग गंग भाट कृत 'चन्द छन्द वरनन की महिमा' नामक पुस्तक में प्राप्त होता है। संवत् १७९८ में राम निरंजन 'निरंजनी' का 'भाषा योग वशिष्ठ' गद्य ग्रन्थ प्राप्त होता है। आचार्य शुक्ल जी ने इसी ग्रन्थ को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और लेखक को प्रथम प्रौढ़ गद्य लेखक माना है। इस समय तक खड़ी बोली का गद्य शृङ्खलाबद्ध रूप में विकसित हो चुका था। संवत् १८१८ में (मध्य प्रान्त) बसवा निवासी दौलतराम ने पद्म पुराण का भावानुवाद करके शिष्ट जनता में स्वाभाविक रूप में प्रचलित खड़ी बोली का रूप सामने रक्खा।

खड़ी बोली का प्रारंभिक विकास मुसलमानों के संपर्क से हुआ पर रीतिकाल के समाप्त होते होते अँगरेजों के संपर्क का भी उस पर प्रभाव पड़ा। इसी संपर्क ने हिन्दी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर किया। यहाँ जमते ही अँगरेज शासकों की इच्छा लोक भाषा के व्यवहारी रूप का परिचय प्राप्त करने की हुई। परिणाम स्वरूप फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के अध्यापक जान गिलक्राइस्ट ने संवत् १८६० में हिन्दी उर्दू में गद्य पुस्तकें तैयार करने की व्यवस्था की। तदनुसार लल्लूजी लाल ने 'प्रेम सागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक खड़ी बोली के श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखे। इसी समय मुंशी सदासुखलाल नियाज और सैयद — इंशा अल्ला खाँ ने भी क्रम से 'मुन्तखबुत्तवारीख' और 'रानी केतकी की कहानी' लिख कर खड़ी बोली में गद्य ग्रन्थों का निर्माण किया। हम कह सकते हैं कि १७६० के लगभग खड़ी बोली के गद्य का आधुनिक विकास इन्हीं चार लेखकों द्वारा हुआ। आधुनिक हिन्दी की पहले पहल प्रतिष्ठा करके उन्होंने ग्रन्थ रचना की चेष्टा की। यहीं से उर्दू और स्वतंत्र खड़ी बोली का अस्तित्व भी अलग अलग स्वीकार किया गया।

मुंशी सदासुख लाल—इनका जन्म संवत् १८०३ में और मृत्यु १८८१ में हुई। यह ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से चुनार (मिर्जा-

पुर) मे नौकरी करते थे। इन्होने उर्दू फारसी मे बहुत सी किताबें लिखी हैं और शायरी की है। सवत् १८७५ में इन्होने मुन्तखबुत्त-वारीख नामक भगवद्भक्ति से पूर्ण पुस्तक लिखी। इन्होने संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है। दिल्ली के निवासी होते हुए भी इन्होने हिन्दी के उस रूप को अपनी शैली में ग्रहण किया जो आगे चल कर साहित्यक भाषा के रूप में स्वीकृत हुआ। कारण ये साधु संतों के बीच रहते थे। इनकी भाषा शेष तीन लेखकों की अपेक्षा अधिक साधु है।

सैयद इन्शाअल्ला खाँ—ये उच्चकोटि के शायर थे। इनका जन्म मुर्शिदाबाद में हुआ था। बगाल के नवाब सिराजुद्दौला के मारे जाने पर ये दिल्ली चले आये और शाह आलम द्वितीय के दरबार मे रहने लगे। सवत् १८५५ मे लखनऊ चले आये और नवाब सआदत अली खाँ के दरबार मे आने जाने लगे। 'रानी केतकी की कहानी' नामक ठेठ बोलचाल की भाषा मे इन्होने एक पुस्तक सवत् १८६० के लगभग लिखी जो लोकप्रिय हुई। इन्होने अपनी भाषा को बाहर की बोली (अरबी, फारसी, तुरकी) गँवारी (ब्रजभाषा अवधी आदि) और भाखा-पन (सस्कृत शब्दो का मेल) से मुक्त रखने की चेष्टा की है। पर फारसी के ढग का वाक्य-विन्यास कही कही—विशेषतः बड़े वाक्यो में आ ही गया है। इनकी शैली शुद्ध तद्भव शब्दो के प्रयोग के कारण सरल, सुन्दर, प्रवाह पूर्ण, मुहाविरेदार और आकर्षक है। उर्दू के सिद्ध-हस्त लेखक होने के कारण इन्हे वही सुविधा रही जो आगे चल कर प्रेम-चन्द को अपने गद्य में मिली। बोलचाल के चलते चटपटे नमूने इनकी भाषा मे पग पग पर मिलते है।

लल्लूलाल जी—आगरे के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म काल सवत् १८२० और मरण काल १८८२ है। इन्होने खड़ी बोली

गद्य में प्रेम सागर लिखा जिसमें भागवत दशम स्कध की दशा का वर्णन है। अपने आने के पूर्व हिन्दी में गद्य का अस्तित्व न स्वीकार करने वाले अँगरेजो के कारण लल्लूलाल जी को भ्रमवश खडी बोली गद्य के जन्म-दाता होने का श्रेय मिल जाता है। इन्होने अपनी भाषा में विदेशी शब्दो का पूर्ण बेहिष्कार करने का यत्न किया है पर प्रेम सागर मे भिन्न-भिन्न प्रयोगो के रूप स्थिर नही देख पडते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय करिके, बुलाय कर आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। कवित्वपूर्ण गद्य अधिक है— नित्य व्यवहार की भाषा कम। उर्दू में भी इन्होने सिंहासन बत्तीसी, बैताल बत्तीसी, शकुन्तला नाटक, माधोनल आदि पुस्तकें लिखी हैं। हितोपदेश की कहानियो का सकलन इनकी पुस्तक 'राजनीति' मे है जो ब्रजभाषा गद्य मे लिखी गयी है। लाल चन्द्रिका इनके द्वारा लिखी गई बिहारी की सतसई की टीका है। भाषा की सजावट इन मे पूरी है। मुहाविरो के प्रयोग कम है। आधुनिक गद्य के विकास क्रम में ये ऐतिहासिक स्थान के अधिकारी हैं।

सदल मिश्र—ये बिहार निवासी थे। फोर्ट विलियम कालेज में ये भी काम करते थे। कालेज के अधिकारियो की प्रेरणा से इन्होने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक ग्रन्थ लिखा। इन्होने लोक-व्यवहार की भाषा की ओर विशेष ध्यान दिया है पर वह साफ सुथरी नही है। खडी बोली के व्यवहार की प्रधानता होने पर भी इनके ग्रन्थ में ब्रजभाषा और पूर्वी बोली के शब्दो का यत्र तत्र प्रयोग हुआ है। 'प्रेम सागर' की भाषा और इसकी भाषा मे बहुत अन्तर है। उसमें ब्रजभाषा की परपरागत काव्य पदावली का प्रयोग बहुत कम है।

संवत् १८८१ मे जटमल की 'गोरा बादल की कथा' पुस्तक में खड़ी बोली के गद्य का नमूना प्राप्त होता है।

हिन्दी में गद्य की परंपरा एक साथ चलाने वाले इन चारों लेखकों में रचना काल की पूर्वता और भाषा की साधुता की दृष्टि से मुंशी सदासुख का शीर्ष स्थान है।

सम्वत् १९१४ के पहिले हिन्दी गद्य का रूप यही तक स्थिर होकर रह गया। बीच का काल गद्य रचना की दृष्टि से प्रायः शून्य है। संवत् १९१४ के गदर के बाद यह परंपरा फिर प्रगति क्रम में बढती है। इसके पूर्ण विकास के कई कारण थे। विदेशो से आई हुई क्रिश्चियन मत का प्रचार करने वाली धर्म सस्थाओ अथवा मिशनो ने हिन्दी में अपने कुछ धर्म ग्रन्थो, विशेषकर बाइबिल का अनुवाद किया। यह अनुवाद भाषा की दृष्टि से बडे महत्व का हैं। ईसाइयो ने तो अपने धर्म के प्रचार के लिये अपनाया पर हिन्दी गद्य का इससे अद्भुत विकास हुआ। ये अनुवाद शुद्ध हिन्दी में किये गये। उर्दूपन उससे बहुत दूर रक्खा गया। उपर्युक्त अनुवाद ग्रन्थो में ब्रज बोली के प्रयोगो का बहिष्कार कर मानो खडी बोली के आगामी प्रसार की पूर्व सचना दे दी गई। छापेखानो के खुल जाने से हिन्दी की पुस्तके शीघ्रता से बढ़ चली। ईसाई प्रचारक शुद्ध ठेठ हिन्दी मे छाप छाप कर साहित्य वितरित करते थे। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के लिये स्थान स्थान पर स्कूल खुले। हिन्दी-उर्दू की पढ़ाई का प्रबन्ध होने के कारण बालको के लिये सरल हिन्दी की पुस्तकों की माँग हुई। हिन्दी उर्दू का झगडा भी शुरू किया गया जो काशी के राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के समय तक चला आया। अन्त में राजा साहब के प्रयत्न से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई। स्कूलो में हिन्दी को स्थान मिला। राजा राममोहन राय ने वेदांत सूत्रों का हिन्दी अनुवाद करके प्रकाशित कराया और साथ ही हिन्दी में बंगदूत पत्र का प्रकाशन भी किया।

अदालतों मे हिन्दी तथा नागरी लिपि का ह्रास किया गया था।

हिन्दी विरोधी सरकारी स्कूलो में हिन्दी की पढाई का विरोध करने लगे। मुसलमानो कीओर से सरकार को यह समझाया गया कि संयुक्त प्रान्त की भाषा एक मात्र उर्दू हैं। लेकिन देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता और उसका देश व्यापी प्रचलन अँगरेजो की दृष्टि में आ चुका था। वे देख रहे थे कि देश में हिन्दी अक्षरो का—वर्णमाला का प्रचार अधिकाधिक बढ रहा है। इसलिये शिक्षा विधान में देश की असली भाषा हिन्दी को ही स्थान देना पडा। इस कार्य में राजा शिवप्रसाद ने बहुत प्रयत्न किया। उन्होंने अपने अनेक परिचित मित्रो से पुस्तकें लिखवाई और स्वयं भी लिखी। उनकी लिखी कुछ अच्छी हिन्दी मिलती है पर अधिकाश मे उनकी भाषा उर्दू प्रधान है। राजा साहब का जन्म सवत् १८८० और निधन सवत् १९५२ है।

ईसाइयों का प्रचार कार्य बढता जा रहा था। स्वामी दयानन्द ने एक ओर उसका विरोध किया और दूसरी ओर हिन्दू समाज को निर्बल बनाने वाली सामाजिक धार्मिक रूढियो पर भी कठोर प्रहार किया। स्वामी जी के ग्रन्थ देवनागरी लिपि मे है। अपने आन्दोलन को अधिक से अधिक व्यापक बनाने के लिये उन्हे जनता की भाषा का सहारा लेना पड़ा। स्वामी जी ने आर्य समाज की स्थापना की—हिन्दी भाषा को आर्य भाषा नाम दिया। उनके अनुयायी उपदेशको ने—भजनीको ने सारे देश में हिन्दी भाषा द्वारा प्रचार कार्य कर उसकी व्यापकता को और प्रबल कर दिया। युक्त प्रान्त के पश्चिमी जिलो और पजाब में आर्य समाज के प्रभाव से हिन्दी गद्य का प्रचार तेजी से हुआ। स्वामी जी ने अपना प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी मे ही प्रकाशित कराया। वेदो का भाषान्त भी उन्होंने सस्कृत हिन्दी दोनो में किया। इसी प्रकार पंजाब में प० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने हिन्दी प्रचार के लिये अटूट उद्योग किया। पजाब के सब छोटे बड़े स्थानो मे घूम घूम कर ये उपदेश और

वक्तृतायें देते—रामायण-महाभारत आदि की कथायें सुनाते थे। हिन्दी गद्य मे इन्होंने बहुत कुछ लिखा है। तत्वदीपक, धर्म रक्षा, उपदेश सग्रह, शतोपदेश आदि धर्म पुस्तको के अतिरिक्त भाग्यवती नाम का इनका एक सामाजिक उपन्यास है।

धार्मिक दृष्टि के साथ साथ शिक्षा की दृष्टि से पजाब में हिन्दी के प्रचार का प्रबल आन्दोलन हुआ। वहाँ यह कार्य श्री नवीनचन्द्र राय कर रहे थे। सवत् १९२० और १९३७ के बीच नवीन बाबू ने भिन्न-भिन्न विषयो पर हिन्दी पुस्तकें तैयार की और अपने मित्रों से तैयार कराई। ये समाज सुधारक थे और स्त्री शिक्षा के बड़े समर्थक थे। राजा राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये इन्होंने समय समय पर कई पत्रिकाये निकाली। उर्दू के प्रवेश से मुक्त शुद्ध हिन्दी गद्य के यह समर्थक थे। 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' इन्होने संवत् १९२४ में निकाली थी। हिन्दी मे शिक्षा और साधारण ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी लेख लिखने की ओर भी इनका ध्यान गया था। विधवा विवाह व्यवस्था नामक पुस्तक भी इन्होने लिखी। इनकी प्रेरणा से पजाब में कई हिन्दी लेखक उस समय पैदा हुए जिनमें सुख दयाल शास्त्री का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का उल्लेख ऊपर आया है। संवत् १९१३ में यह शिक्षा विभाग के इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। इनकी रची हुई पुस्तको के नाम है—वर्णमाला, बालबोध, विधांकुर, वामामन रंजन, हिन्दी व्याकरण, भूगोल हस्तामलक, छोटा हस्तामलक भूगोल, इतिहास तिमिरनाशक, गुटका, मानव-धर्म-सार, सैंट फोर्ड ऐंड मार्टिन, सिखो का उदय और अस्त, स्वयं बोध उर्दू, अँगरेजी अक्षरों के सीखने का उपाय, राजा भोज का सपना और वीर सिंह का वृत्तान्त। इन ग्रन्थो में से कई सग्रह मात्र है और अधिकतर राजा साहब के ही बनाये है। सर-

कारी नीति का पालन करते हुए और समय की आवश्यकताओ को देखते हुए इन्होंने अपनी भाषा को अरबी फारसी शब्दो से भर दिया है। इसके लिये उन्हे दोष नहीं दिया जा सकता। अदालत की भाषा उस समय उर्दू थी और वही सभ्यो की भाषा समझी जाती थी। हिन्दी का संस्कार अभी न हुआ था। उसमें ब्रज बोली, अवधी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं का मेल था। राजा साहब भाषा को बोलियों के मेल से शुद्ध रखना चाहते थे। उन्होंने सरकार से प्रार्थना की थी कि वह हिन्दी उर्दू पाठ्य-पुस्तको की भाषा को परस्पर निकट लाने का यत्न करे। हिन्दी के पक्ष में इसका फल अच्छा न हुआ। हिन्दी उर्दू की खाई को पाट कर हिन्दुस्तानी की सृष्टि उन्होने करनी चाही। पर हिन्दी के उपासकों के बीच उनके विरोध की अनावश्यक प्रतिक्रिया हुई। राजा साहब प्रचलित और शुद्ध हिन्दी के विरोधी नही थे। राजा भोज का सपना और मानव धर्मसार नामक अपनी पुस्तकों में उन्होंने प्रवाहित हिन्दी की शैली का प्रयोग किया है। अनेक प्रकार की भाषा शैलियो का प्रयोग करते हुए भी राजा साहब का लक्ष्य ऐसी भाषा का निर्माण करना था जो हिन्दी उर्दू के बीच में रहे उस समय वे अधिक विरोध पैदा भी न करना चाहते थे।

राजा साहब का अनुकरण शिक्षा विभाग के बाहर मुशी देवी प्रसाद और देवकीनन्दन खत्री ने किया। उन्होने केवल प्रचलित अरबी फारसी शब्दो का प्रयोग कर हिन्दुस्तानी को रूप देने का प्रयत्न किया। शिक्षा विभाग के श्री बीरेश्वर चक्रवर्ती ने राजा साहब की शैली नही अपनाई। इसी समय हिन्दी में सस्कृत के शकुन्तला नाटक आदि का अनुवाद करने वाले राजा लक्ष्मण सिंह हुए। इनकी भाषा राजा साहब की भाषा के ठीक विरोध में उत्पन्न कही जा सकती है। लक्ष्मणसिंह जी उर्दू-फारसी के ज्ञाता होकर भी इन भाषाओं के शब्दों के पूर्णतः बहिष्कार के समर्थक थे। इनकी भाषा में संस्कृत शब्दो का बहुत प्रयोग

हुआ है और ब्रजभाषा का भी पुट है। इन्होंने संवत् १९१९ में शकुन्तला नाटक का अनुवाद प्रकाशित कराया। संवत् १९३२ में विलायत के प्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी पिनकाट महाशय ने इसे इँगलिस्तान में छपाया। सवत् १९३४ मे राजा साहब ने रघुवश का अनुवाद गद्य में मूल श्लोकों के साथ प्रकाशित किया। मेघदूत के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनो का अनुवाद प्रकाशित कर इन्होंने ग्रन्थ पूर्ण कर दिया। संवत् १९१८ मे इन्होंने प्रजा हितैषी नाम का एक पत्र शुद्ध हिन्दी में निकाला। अपने अनुवादो में इन्होंने प्राय: सभी प्रचलित छन्दो का प्रयोग किया है जिनमे घनाक्षरी-सवैया अधिक हैं। दोहा, सोरठा, चौपाइयों में इन्होंने तुलसीदास की भाषा रक्खी है—शेष छन्दो मे ब्रजभाषा आगरा के निवासी होने के कारण इनके गद्य पर भी ब्रज भाषा का प्रभाव दिखता है। पर इनकी भाषा मधुर और निर्दोष है। इनका कविता काल सवत् १९१६ के इधर उधर है। जन्म संवत् १८८३ मे और स्वर्गवास १९५३ में हुआ।

सामाजिक हिन्दी जनता ने राजा लक्ष्मणसिंह की शैली को अधिक अपनाया। लेखको ने सस्कृत शब्दो को ग्रहण किया—फारसी शब्दावली के घर घर प्रचलित रूप को छोड कर उससे वचने की चेष्टा की। वह एक प्रकार से अतिवाद का युग था। एक सीमान्त पर राजा शिवप्रसाद थे—दूसरे पर राजा लक्ष्मणसिंह। पर शैलियो की इस विभिन्नता ने हिन्दी के प्रचार और प्रसार को बल पहुँचाया। भाषा का स्वरूप अस्थिर था। उसके सर्वसम्मत स्थिरीकरण की आवश्यकता थी। ऐसे सशक्त व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो भाषा का परिपूर्ण परिमार्जन करके उसे सुव्यवस्थित और बलवती बनाये। शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल साहित्य के विधान की भी आवश्यकता थी। इसी समय भारतेन्दु का क्रान्तिकारी उदय हुआ।

भारतेन्दु काल

प्रौढ़तर गद्य का प्रसार

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कार्य क्षेत्र मे आते ही हिन्दी गद्य में अभूतपूर्व समुन्नति का युग आया। वे आधुनिक साहित्य के जनक के नाम से पुकारे जाते हैं। उनका प्रभाव भाषा और साहित्य दोनो पर पड़ा। एक प्रकार से साहित्य की सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार उन्होने खोला। उन्होंने राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के मध्य का मार्ग अपनाया। अभी तक खडी बोली के गद्य के विकास का समय था। पाठशालाओ या लोक जीवन की शिक्षा के अनुरूप छोटी छोटी पुस्तकें लिखी जाती थी। भारतेन्दु का ध्यान साहित्य के भिन्न भिन्न अगो के परिवर्धन की ओर गया। लेखन शैली में उस समय विभिन्नता थी। घरो में प्रान्तीय बोलियो का चलन था। गद्य लेखन की कोई निश्चित नीति न थी। भारतेन्दु के सामने बहुत बडा कार्य था—एक पूर्ण परिष्कृत शैली का आदर्श स्वीकार कर हिन्दी के आन्दोलन को आगे बढाना। भाषा सस्कार के लिए किया गया उनका महान् कार्य हिन्दी के इतिहास में अमर है। उन्होंने दो प्रकार की भाषाये स्वीकार की। पहली सस्कृत शब्दो से पूर्ण और दूसरी शुद्ध हिन्दी। पर दोनो मे ऐसे विदेशी शब्दो के प्रयोग है जो बोलचाल की भाषा मे घुल-मिल गए है। मुहावरो का प्रयोग भी देखने को मिलता है। विषयो के अनुसार भाषा का प्रयोग हरिश्चन्द्र की विशेषता है। गम्भीर विवेचन और तत्त्व निरूपण के लिए पहली प्रकार की भाषा का प्रयोग है। दूसरी प्रकार की भाषा अनेक शैलियो में व्यवहार मे आई है। नाटको में रस निष्पत्ति के लिए बोल-चाल की भाषा

व्यवहार मे आई है। आचार्य शुक्ल जी ने भारतेन्दु की दोनों शैलियों को भावावेश की शैली और तथ्य निरूपण की शैली का नाम दिया है। उस समय संस्कृत साहित्य के अनुवादो और आर्य समाज के आन्दोलन, ने सस्कृत पदावली का अनावश्यक भार हिन्दी गद्य पर लाद रक्खा था। भारतेन्दु की रचना शैली मे इस तत्समता के विरुद्ध प्रतिक्रिया मिलती है। भारतेन्दु के गद्य में स्थान स्थान पर व्रजभाषा का प्रयोग और प्रभाव मिलता है। भाषा के स्वरूप की रचना की जो अभी तक भूमिका चली आ रही थी वह अब समाप्त हो गई। खडी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप स्थिर हुआ। भारतेन्दु का गद्य उस युग के लेखकों का आदर्श बना और वह सशक्त और सृजन की प्रेरणा से ओत-प्रोत आदर्श बना।

अब हम भारतेन्दु के साहित्य-सृजन और साहित्य-संरक्षण की प्रवृत्ति पर आते है। वे अतिशय धनी थे। लाखो रुपया उन्होंने हिन्दी के प्रचार और प्रसार मे खर्च किया। इनका जन्म सवत् १९०७ भाद्रपद शुक्ल ७ को काशी मे एक प्रतिष्ठित अग्रवाल कुल मे हुआ। इनके पिता बाबू गोपालदास गिरिधरदास व्रज भाषा के श्रेष्ठ कवि थे। बचपन से हिन्दी में बड़े भावुक और काव्यानुरागी थे। प्रतिभा भी इनकी बडी प्रखर थी। काव्य-शास्त्र-विनोद और अध्ययन के प्रति तीव्र प्रवृत्ति थी। इनके व्यक्तित्व में एक प्रबल आकर्षण था और उस समय के लगभग सभी सुलेखक इनके सगठन मे थे। प्राचीन भारतीय इतिहास और धार्मिक अनुश्रुतियो की ओर इनका ध्यान गया। इन्होने अपने साहित्य द्वारा प्राचीन भारत की सच्ची परिस्थिति का पता लगाने और अपने नाटको-उपन्यासो द्वारा उसका निर्माण करने की बराबर चेष्टा की। ये और इनके दल के समस्त लेखक समाज सुधार की तीव्र भावना से उत्प्रेरित थे। यही नही तत्कालीन जनता के जीवन का यथार्थ सजीव चित्रण भी इन लेखकों की कृतियों में देखने को मिलता है। इस अर्थ में भारतेन्दु ऊँचे से ऊँचे प्रकार के प्रगतिशील थे।

कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मेगजीन आदि कई मासिक पत्र इन्होंने निकाले इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से प्रेरित और प्रभावित होकर न जाने कितने नये नये लेखको का उदय हुआ। नाटक, कहानी, काव्य, स्तोत्र, परिहास, इतिहास आदि सब मौलिक तो उन्होंने लिखे ही बंगला से ऐतिहासिक पौराणिक नाटको का अनुवाद भी किया। इनकी लिखी पुस्तको की संख्या १४० है। इनके नाटको का सर्वसाधारण मे खूब प्रचार हुआ। इन्हें भारतव्यापिनी कीर्ति मिली और जनता ने इन्हें भारतेन्दु की उपाधि से विभूषित किया। इन्होंने छोटे छोटे निबंध भी लिखे। इनकी नाटक रचना शैली मे भारतीय और पाश्चात्य शैलियों का सम्मिश्रण हुआ है। सत्य, प्रेम, स्वदेशानुराग आदि इनके नाटको के कुछ विषय है। कथानक निर्माण कला का भी इन्होंने अच्छा परिचय दिया है। देश प्रेम और जाति प्रेम की व्यापक भावना तो जैसे भारतेन्दु के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में व्याप्त है। पर पद्माकर और द्विज देव की परपरा पर उन्होंने मधुर भावों से परिपूर्ण प्रेम और शृंगार की भिन्न भिन्न स्थितियों की वर्णना भी की है। इन्हें सच्चे अर्थ में युग प्रवर्तक का नाम दिया जा सकता है। इन्ही के जीवन काल में हिन्दी अपना बाल्य काल समाप्त कर यौवन की प्रौढ़तर सशक्त जीवन भूमि पर आई। इनका निधन सवत् १९४२ में केवल ३५ वर्ष की अवस्था मे हुआ।

पं० प्रतापनारायण मिश्र—इस दल के अन्यतम प्रतिभाशाली लेखक-कवि थे। इनका जन्म सवत् १९१३ में हुआ और मृत्यु संवत् १९५१ में। ये भारतेन्दु को हर प्रकार से अपना गुरु और आदर्श मानते थे पर इनकी शैली में उनकी शैली से एक स्पष्ट भिन्नता लक्षित होती है। ये बड़े स्वतंत्र प्रवृत्ति के मनमौजी, फक्कड और जीवनमुक्त साहित्यिक थे। स्वभाव में विशेष प्रकार की विनोद-प्रियता होने के कारण इनकी शैली में एक व्यंग पूर्ण वक्रता है। गंभीर से गंभीर विषय को ये

मनोरंजक और हास्यपूर्ण ढंग से उपस्थित करने में कुशल थे। इनके पिता पं० सकठाप्रसाद मिश्र अच्छे ज्योतिषी थे। सस्कृत और फारसी दोनों में इनकी समान गति थी। इन्होने 'ब्राह्मण' नामक एक मासिक पत्र निकाला जो अधिक चल न सका। कुछ दिन तक कालाकाँकर से निकलने वाले दैनिक हिन्दुस्तान के संपादकीय विभाग मे भी रहे। नाटकों की रचना करने के साथ साथ ये रग मच पर अभिनय भी करते थे। इनकी प्रकाशित पुस्तको मे राजसिह, इन्दिरा, सगीत शाकुन्तल, कलि कौतुक रूपक, हठी हमीर, गो-सकट नाटक और शृगार विलास मुख्य है। इनके फुटकल गद्य प्रबंध भी भावपूर्ण और साहित्यिक नोकझोक से भरे हुए है। उर्दू में अच्छी कविता भी करते थे। कान्यकुब्ज होने के कारण इनकी रचनाओं में बैसवारी का प्रयोग काफी पाया जाता है। वे अलकारो और काव्योपयोगी प्रयोगो से मुक्त है। इनकी शैली में एक चुलबुलापन है जो कहावतो और चुस्त मुहावरो के प्रयोग के कारण बढ गया है। निबधो में इनकी शैली का एक विकास क्रम स्पष्ट परिलक्षित होता है। इनकी रचनाओं में झलकती हुई देश भक्ति, जाति प्रेम और सस्कृति के अभिमान की प्रशंसा करनी पडती है।

पं० बालकृष्ण भट्ट—भारतेन्दु मंडल के एक प्रमुख सदस्य थे। शब्दों के चुनाव, विचारो के प्रकाशन और नागरिकता के सम्बन्ध मे ये अधिक सतर्क थे। इनका जन्म प्रयाग मे सवत् १९०१ मे और परलोक वास संवत् १९७१ मे हुआ। ये प्रयाग के कायस्थ पाठशाला कालेज मे सस्कृत के अध्यापक थे। सवत् १९३४ मे इन्होने प्रयाग से हिन्दी प्रदीप नामक एक सुन्दर मासिक निकाला जो ३२ वर्ष तक निकलता रहा। भट्ट जी ने बराबर उसका सपादन किया। सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, साहित्यिक सब प्रकार के गद्य प्रबध ये अपने पत्र मे लिखते रहे। शैली प्रतापनारायण जी की शैली से मिलती जुलती है। स्थान स्थान पर कहावतें और मुहा-

वरो को छटा है। पद्मावती, शर्मिष्ठा और चन्द्रसेन नामक उत्तम नाटक ग्रन्थ भी भट्ट जी ने लिखे है। ये सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। आर्थिक संकटो में भी इन्होंने अपने हिन्दी प्रेम की ज्योति मंद नही पडने दी। इनके पत्र के द्वारा हिन्दी में अनेक नयी प्रतिभाओ का विकास हुआ; कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल विवाह नाटक, सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी आदि इनके लेख चमत्कार पूर्ण हैं। व्यग और बाँकपन भी इनकी रचनाओ में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अगरेजी और अरबी फारसी के शब्द ही नही वडे वडे वाक्य खड तक इनकी रचनाओ में मिलते हैं। इनके वाक्य कुछ वडे वड़े होते थे और पूरबी प्रयोग भी रचना म बराबर मिलते है। पद विन्यास और शैली के निरालेपन की दृष्टि से ये हिन्दी लेखको में अनोखा स्थान रखते है। इन्होंने गद्य साहित्य की एक लेखन शैली का निर्माण किया और तीव्र आलोचना की नीव डाली।

पं० बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन'—मिर्जापुर जिले के एक प्रतिष्ठित सरजूपारी परिवार में पैदा हुए। जन्म सवत् १९१२ मे और मृत्यु सवत् १९७९ में हुई। हिन्दी, सस्कृत, अँगरेजी, फारसी की इन्होंने ऊँची शिक्षा पाई। ये गद्य-पद्य के सिद्धहस्त लेखक थे। उर्दू रचनाओ में अपना उपनाम 'अब्र' रखते थे। इनकी शैली सबसे विलक्षण थी। गद्य रचना को ये कलम की कारीगरी या कला के रूप मे ग्रहण करते थे। रचनाओ के परिमार्जन और परिष्कार मे इनका अटूट विश्वास था। इनकी अनुप्रासमयी चुहचुहाती भाषा मे कही शब्दाडम्बर और व्यर्थ का प्रदर्शन नही है। पर अलकृत भाषा के वडे पक्षपाती थे। अर्थ गाम्भीर्य और सूक्ष्म विचार श्रृंखला इनके निबन्धो की विशेषता है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दो में लखनऊ की उर्दू का आदर्श इन्होंने अपनी हिन्दी में उतारा। इन्होंने आनद-कादबिनी मासिक और 'नागरी नीरद' साप्ताहिक पत्र भी

निकाले। भारतेन्दु के ये घनिष्ठ मित्रों में से थे। विनोद पूर्ण प्रहसनों के लिए इनके मन मे बड़ा आकर्षण था। इनके अभिव्यक्ति प्रकाशन में बड़ी प्रौढ़ता है। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ये सभापति भी हो चुके है। साहित्यालोचना का सूत्रपात एक प्रकार से भट्ट जी और प्रेमघन ने ही किया। इसके पूर्व आलोच्य पुस्तक के गुण दोषो का विस्तृत विवेचन न होता था। 'प्रेमघन सर्वस्व' नाम से दो भागों में आपकी श्रेष्ठ गद्य-पद्य रचनाओ का संग्रह सम्मेलन ने प्रकाशित किया है। अपनी रंगीन लहजे भरी भाषा के कारण ये बड़े लोक प्रिय शैलीकार है। इन्होंने कई नाटक भी लिखे हैं। पर उनमें पात्रो की अधिकता और प्रायः सभी प्रातीय भाषाओ के प्रयोग के कारण उनका अभिनय अत्यन्त कठिन है।

लाला श्रीनिवासदास—का जन्म सवत् १९०८ मे और मृत्यु संवत् १९४४ में हुई। भारतेन्दु के समसामियक लेखको में ये विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने प्रह्लाद चरित्र, तप्ता सवरण और रणधीर और प्रेम मोहिनी ये तीन नाटक लिखे। इनमे अतिम अधिक प्रसिद्ध हुआ। इनका परीक्षा गुरू उपन्यास शिक्षाप्रद है। इनकी भाषा बोलचाल की और मुहावरो के प्रयोग से निखरी हुई है। व्यवहार कुशल और ससारी बुद्धि में दक्ष होने के कारण इनकी भाषा में नपी तुली व्यवस्था और रचना में उद्देश्य की भावना है। इन्होने नाटको मे पात्रो के अनुरूप भाषा रखने के प्रयत्न में उसे घोर उर्दू बना दिया है। इसीलिए इनकी रचनाओं में भाषा सौष्ठव कम है। दिल्ली की उर्दू शैली के प्रभाव से बचना इनके लिए कठिन भी था। इनके नाटक रंगशाला के उपयुक्त नही है। शब्द-चयन में कोमलता और मधुरता की ओर इन्होने विशेष ध्यान दिया है।

ठाकुर जगमोहन सिंह—मध्यप्रदेश के विजय राघवगढ़ के राजकुमार थे। इनका जन्म संवत् १९१४ और मृत्यु संवत् १९५६ है। शिक्षा के लिए काशी में रहते हुए ये भारतेन्दु के संपर्क में आये। वहीं से इन्हें हिन्दी

की ओर अनुराग और साहित्य सेवा की रुचि उत्पन्न हुई। इनका स्वभाव भारतेन्दु जैसा ही था। उस पर रियासत की वैसी ही छाप थी। गद्य रचना के साथ साथ प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण करने वाली कवितायें भी ये लिखते थे। सस्कृत और अँगरेजी के अच्छे जानकार होने के कारण इनकी लेखनी में एक नैसर्गिक सस्कारशीलता थी। भारतीय ग्राम्य जीवन का प्राकृतिक माधुर्य और प्रसन्न प्रभाव भारतीय सस्कृति की पृष्ठभूमि के साथ साथ इनकी रचनाओ मे वडे मनोरम रूप में चित्रित हुआ है। भारतेन्दु मडल के लेखको में इस दृष्टि से इनका स्थान विलकुल अलग है। अपने देश की वन्य माधुरी और रूप सम्पत्ति के लिए इनके मन में गहरी आत्मीयता थी। इनका श्यामा स्वप्न नामक उपन्यास प्रकृति निरीक्षण, सौदर्याङ्कन और कवित्व पूर्ण भापा की दृष्टि से वेजोड है। कल्पना विन्यास भी इनमे है और संस्कृत की गभीर शब्दावली में ये व्रज माधुरी घोल देते है। कही कही भावावेश की प्रवलता एक विलक्षणता पैदा कर देती है। भापा सौष्ठव और गति इनकी शैली की विशेषता है। वडा प्रेमी और सौन्दर्य-पूजक हृदय इन्होने पाया था। इतनी कम अवस्था में इनका देहान्त न हो जाता तो इनकी शैली पूर्णतर होकर अधिकाधिक रूपविधान की ओर जाती।

राधाचरण गोस्वामी—का जन्म सवत् १९१५ में हुआ। ये व्रजभाषा के सुकवि और खड़ी बोली के सुलेखक थे। सस्कृत के उच्चकोटि के जानकार थे। हरिश्चन्द्र मेगजीन के पाठक होने के कारण इनमें देश भक्ति और समाज सुधार के भाव जगे थे। इनमे समाज सुधार का उत्साह था और सभा समाजो मे ये वरावर भाग लेते थे। हिन्दी की उन्नति और साहित्य सेवा के लिए इन्होने भारतेन्दु मासिक पत्र का प्रकाशन किया और कई सस्थायें स्थापित की। इनकी सुगठित भाषा शुद्ध संस्कृतमय होते हुए भी व्रज भापा से प्रभावित थी। भारतेन्दु मडल के ये प्रमख सदस्य थे। इन्होने

कई उत्तम मौलिक नाटक लिखे है जैसे सुदामा नाटक, सती चंद्रावली अमर सिह राठौर, तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण। कल्पित और ऐतिहासिक दोनो प्रकार के नाटक इन्होंने लिखे है। नाटको के अतिरिक्त इन्होने तीन बँगला उपन्यासो के अनुवाद किये और कुछ साहित्यिक और समाज सुधार सबधी पुस्तकों की रचना भी की। संवत् १९८२ में इनका देहान्त हुआ।

बाबू तोताराम—का जन्म सवत् १९०४ और मृत्यु संवत् १९५९ है। हेड मास्टरी की नौकरी छोड़कर इन्होने अलीगढ में प्रेस खोल भारत बंधु नामक पत्र निकाला। हिन्दी के आन्दोलन के ये सबल समर्थक और क्रियाशील कार्यकर्ता थे। भारतेन्दु का इन्होने बराबर साथ दिया। 'भाषा सवर्द्धिनी' नाम की एक सभा भी स्थापित की। केटो-वृत्तान्त, कीर्तिकेतु (नाटक), स्त्री सुबोधिनी आदि इनके ग्रन्थ है। भाषा में कोई साहित्यिक विशेषता नही है पर वह सरल और शुद्ध है। अपनी पुस्तको की आय ये हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए स्थापित अपनी सभा को दे दिया करते थे। वाल्मीकि रामायण का पद्यानुवाद भी इन्होने किया था।

पं० अम्बिकादत्त व्यास—का जन्म संवत् १९१५ और मृत्यु संवत् १९५७ में हुई। ये उच्चकोटि के सस्कृत के विद्वान् तथा कट्टर सनातन धर्मी थे। आर्य समाज के कट्टर विरोधी थे और सनातन धर्म संबधी इनका उत्साह इनके उपदेशो और व्याख्यानो में प्रकट होता था। दयानन्द पाषंड खंडन, अवतार मीमांसा, मूर्ति पूजा आदि पुस्तको में धार्मिक प्रतिपादन है। ये लेखक वक्ता दोनो थे। आश्चर्य वृत्तान्त इनका सुन्दर उपन्यास है। पावस पचासा, गद्य काव्य मीमासा, बिहारी विहार, गो-सकट नाटक आदि इनके अन्य ग्रन्थ है। ब्रजभाषा के ये अच्छे कवि थे। ब्रज भाषा में कृष्ण लीला को लेकर इन्होंने 'ललिता' नाटिका लिखी थी। कहते है इनकी पुस्तकों की संख्या ७८ है। इनकी भाषा सस्कृत प्रधान है पर विषय प्रतिपादन की शैली

और क्षमता इनमें अपूर्व थी। भाषा में कही कही भव्यता और वाक्यो में लम्बाई है। अपने युग के मौलिक लेखको में इनकी गणना है।

इन लेखको के साथ और भी साहित्यिक और हिन्दी निर्माता है। जिन्होने अपनी कृतियो द्वारा हिन्दी की गद्य शैली के विकास में योग दिया और गद्य के विभिन्न अगो को लेकर बडे उत्साह के साथ मौलिक रचनायें लिखी। इन सब की कृतियो मे देश, सस्कृति और इतिहास के गौरवमय अतीत के लिए—धार्मिक परपराओ के लिए आदर और जातीय गर्व है। इन सब को सच्चे अर्थो में हिन्दी का उन्नायक कहा जा सकता है।

मुशी देवीप्रसाद (जन्म सवत् १९०४, निघन सवत् १९८०)
राजा रामपाल सिंह (जन्म सवत् १९०५, निघन सवत् १९६६)
बाबू गदाधर सिंह (जन्म सवत् १९०५, निघन सवत् १९५५)
रायबहादुर प० लक्ष्मीशकर मिश्र (जन्म स० १९०६, निघन सवत् १९६३)
बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री (जन्म स० १९०८, निघन स० १९६१)
पडित भीमसेन शर्मा (जन्म सं० १९१०, निघन स० १९७४)
पडित केशवराम भट्ट (जन्म सं० १९११, निघन स० १९६२)
रायबहादुर लाला सीताराम (जन्म सं० १९१५ निघन स० १९९३)
प० दुर्गाप्रसाद मिश्र (जन्म सं० १९१६, निघन स० १९६७)
बाबू रामकृष्ण वर्मा (जन्म स० १९१६, निघन सं० १९६३)
महामहोपाध्याय पडित सुधाकर द्विवेदी (जन्म स० १९१७, निघन सवत् १९६७)
बाबू शिवनन्दन सहाय (जन्म स० १९१७, निधन स० १९८९)
बाबू देवकीनदन खत्री (जन्म स० १९१८, निधन स० १९७०)
पडित लज्जाराम मेहता (जन्म स० १९२०, निधन स० १९८८)

ये सब नाम इतिहास की दृष्टि से तो महत्व पूर्ण है ही साहित्य को इन्होंने सरसता और विविधता प्रदान की। इसी प्रकार राधाकृष्णदास, काशीनाथ खत्री, मोहनलाल विष्णु लाल पड्या, फ्रेडरिक पिन्काट आदि के नाम भी बहुत महत्वपूर्ण है। राधाकृष्णदास नाटककार की दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखते है, अपनी व्यवस्थित वस्तु योजना की दृष्टि से। बँगला के कई उपन्यासो के अनुवाद भी उन्होंने किये है। पत्रकारो में बालमुकुन्द गुप्त सबसे अधिक प्रसिद्ध है। सात वर्ष बगवासी का सम्पादन करके ये भारत मित्र के जीवन पर्यन्त संपादक रहे। रत्नावली नाटिका, हरिदास, शिवशभु का चिट्ठा, स्फुट कविता, खिलौना आदि आपकी रची लोक प्रिय पुस्तकें है। इनका गद्य पद्य दोनो बडा मनोरंजक और शिक्षाप्रद होता था। पत्र पत्रिकाओ और साहित्यिक संस्थाओ की स्थापना की दृष्टि से भी भारतेन्दु काल पर्याप्त उन्नत था। साहित्य के विकास भाषा के प्रसार की आशाप्रद प्रेरणा और उत्साह वर्धक लहर चारो ओर फैली थी। साहित्य के सब अगो की उन्नति हो चली थी। प्रत्येक क्षेत्र मे अच्छे अच्छे लेखको का उदय हो रहा था। दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र निकल रहे थे जिनमे शैली और विषय दोनो दृष्टियो से उच्चकोटि के लेख प्रकाशित होते थे। आरम्भिक काल मे राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'बनारस अखबार', तारामोहन मित्र का 'सुधाकर', पडित बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप' प्रमुख स्थान रखते थे। आगरा से मुशी सदासुख लाल का 'बुद्धि प्रकाश' निकलता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्यिक और सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण करते ही 'कवि वचन सुधा' 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'बालाबोधिनी' का प्रकाशन किया। सवत् १९२८ मे पडित सदानद मिश्र ने 'अल्मोड़ा अखबार' का सपादन और प्रकाशन किया। यह साप्ताहिक पत्र था। बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री ने इसी समय साप्ताहिक हिन्दी दीप्ति प्रकाश और प्रेम विलासिनी पत्रिका निकाली।

कलकत्ते में भारत मित्र की स्थापना हुई जिसमें प० दुर्गा प्रसाद मिश्र पडित छोटूलाल मिश्र, वावू जगन्नाथ खन्ना और पडित सदानद मिश्र का हाथ था। अनेक वर्षो तक यह निकलता रहा। परन्तु सवसे महत्वपूर्ण पत्र कालाकाँकर से प्रकाशित होने वाला दैनिक हिन्दुस्तान था। इसके संचालक देशभक्त राजा रामपाल सिंह थे। उस समय के कई महारथियो ने (महर्षि मालवीय जी, वावू वालमुकुन्द गुप्त, पडित प्रताप नारायण मिश्र) इसका संपादन किया। १९४२ सवत् मे यह निकला था। काशी से निकलने वाला वावू रामकृष्ण वर्मा का भारत-जीवन भी बहुत दिनो तक निकलता रहा। ज्ञान प्रदीपिनी, हिन्दू बाँधव, मित्र विलास सार, सुधानिधि आदि भी अपने समय में वडी धाक रखते थे।

इसके वाद हिन्दी के उत्कर्ष की दृष्टि से दो ऐसी वातें हुई जिन्होने साहित्य की श्री वृद्धि को अपूर्व गति प्रदान की। सवत् १९५० मे काशी के कुछ उत्साही नवयुवक साहित्यिको ने स्वर्गीय डा० श्यामसुन्दरदास के नेतृत्व मे नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की। सभा ने अनेक ऐसे कार्य किये जिन पर किसी भी सस्था को आदर्श सफलता कूती जा सकती है। प० रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह का इस सदनुष्ठान मे आरंभ से योग रहा। सभा ने संयुक्त प्रान्त के न्यायालयो मे हिन्दी को स्थान दिलाया और नागरी लिपि का प्रचार करने का अपना उद्देश्य एक वडी सीमा तक पूरा किया। उसने प्राचीन ग्रन्थो का अनुसधान, शोध और संपादन कराया। गभीर और विविध विषयक साहित्य के प्रकाशन को उसके द्वारा वडा प्रोत्साहन मिला। हिन्दी में विज्ञान सवधी शब्दों की रचना हुई। 'हिन्दी वैज्ञानिक कोष' और हिन्दी शब्द सागर के समान वृहत् और महत्व पूर्ण शब्द कोष वने जिनकी प्रामाणिकता आज भी असदिग्ध है। हिन्दी साहित्य के निर्माण क्षेत्र की भूमिका भारतेन्दु के उपरान्त सभा ने ही तैयार की। स्थापना के तीन वर्ष पीछे ही सभा ने

अपनी पत्रिका निकाली जो साहित्य के अनुसधान और पर्यालोचन से परिपूर्ण थी। सभा की ही खोज के फलस्वरूप आज कई सौ ऐसे कवियो की कृतियो का परिचय हमे प्राप्त है जिनका पहले पता न था। इस प्रकार हिन्दी साहित्य का इतिहास सुस्थिर और सपन्न हुआ। सभा एक प्रकार से हिन्दी प्रेमियो और हितैषियो की आकाक्षाओ और प्रवृत्तियो का जीवित माध्यम बन गई। सभा के कार्यो और लगन की ओर सरकार का ध्यान भी आकर्षित हुआ। सरकारी सहायता मिलने लगी जो धीरे धीरे बढ़ती गई। जैसा कहा जा चुका है महर्षि मालवीय जी के नेतृत्व में सभा का एक शिष्ट मडल तत्कालीन गवर्नर से मिला था। फलस्वरूप संवत् १९५७ मे कचहरियो में नागरी का प्रवेश हो गया। इस प्रकार भारतेन्दु के समय से चले आ रहे इस महत्वपूर्ण आन्दोलन की सुखद समाप्ति हुई।

१८९९ ईसवी मे नागरी प्रचारिणी सभा की सरक्षता में सरस्वती पत्रिका का सपादन आरभ हुआ। १९०३ मे इस पत्रिका का सपादन प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के हाथ मे आया। द्विवेदी जी के समय में सरस्वती द्वारा भाषा सस्कार का युग परिवर्तनकारी उद्योग हुआ। इस समय तक खड़ी बोली हिन्दी गद्य की सामान्य रूप से और पद्य की आशिक रूप से भाषा बन चुकी थी। पर एक ओर उसकी अस्थिरता को दूर करता था—दूसरी ओर उसकी अभिव्यजना शक्ति और गभीर सूक्ष्म भावो को प्रकट करने की प्रवृत्ति को बढाना था। भाषा मे प्रान्तीयता के प्रयोग बराबर चलते थे। हिन्दी की प्रकृति को न पहचान कर बँगला और अँगरेजी वाक्यगठन, शब्दो और मुहाविरो के अनुवाद हो जाते थे और गद्य शिथिल हो जाता था। साथ ही व्याकरण के नियमो की उपेक्षा होती थी। द्विवेदी जी ने हिन्दी के स्वतंत्र व्याकरण की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया। विभक्ति प्रयोग का आन्दोलन चलाया और लिग-भेद की भूलो को दूर करने की चेष्टा की। भाषा का संपूर्ण

परिमार्जन करके उन्होने उसे सुसस्कृत बनाया। भाषा मे प्रौढ़ता आई और विषयो की विभिन्नता बढने से अनेक सुन्दर शैलियो का आविर्भाव हुआ। द्विवेदी जी ने स्वय अपने लेखन मे मध्यम मार्ग अपनाया। सस्कृत मिश्रित होते हुए भी उनकी भाषा मे बहतापन है क्योकि उर्दू शब्दो का भी उसमे यथोचित समावेश होता है। द्विवेदी जी ने स्वय ऐसे अनेक विषयो पर लेखनी उठाई जिन पर लिखने वाले उस समय न थे। फलस्वरूप नये लेखको को प्रोत्साहन मिला। अँगरेजी पढे लिखे नवयुवको में हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रेम जाग्रत हुआ। द्विवेदी जी की दृष्टि ज्ञान विज्ञान की विवेचना और रचनात्मक साहित्य दोनो ओर थी। पर अपने युग के साहित्यिको पर उनकी ऐसी छाप थी कि शैलियो और व्यक्तित्वो की भिन्नता उनके सामने अधिक उभर न पाई। आचार्य शुक्ल जी तथा अन्य साहित्य मीमासको की दृष्टि में द्विवेदी जी की मौलिक रचनाओ का अधिक मूल्य नही है। पर उनकी विशुद्ध टकसाली भाषा के कारण उन्हे एक महान् साहित्यिक शक्ति का प्रतीक माना जाता है। इसीलिए ईसा की बीसवी शताब्दी के प्रथम पच्चीस वर्षो को हम द्विवेदी-युग के नाम से पुकारते है। वे गद्य शैली के विकास में एक मजिल थे। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—जो कुछ कार्य द्विवेदी जी ने किया वह अनुवाद का हो, काव्य रचना का हो, आलोचना का हो अथवा भाषा-सस्कार का हो या केवल साहित्यिक नेतृत्व का ही हो—वह स्थायी महत्व का हो या अस्थायी-हिन्दी में युग-विशेष के प्रवर्तन और निर्माण में सहायक हुआ है। उसका ऐतिहासिक महत्व है।" हिन्दी की वर्तमान एकरूपता और स्थिरीकरण का सारा श्रेय उन्ही को है।

हिन्दी गद्य की उन्नति में ये दोनो घटनाये अत्यधिक सहायक हुई है। इनके साथ ही अँगरेजी रचना प्रणाली के प्रभाव ने भी हिन्दी गद्य की शैली-विविधता को बढाया है। राजनीतिक आन्दोलन, शिक्षा की उन्नति

और पत्र पत्रिकाओ की वृद्धि ने साहित्य की गति को आगे बढाया। जब विश्व विद्यालयो मे हिन्दी उच्चतम कक्षाओं में पढाई जाने लगी तब विविध विषयों की महत्वपूर्ण पुस्तको का प्रकाशन अनिवार्य हो गया। इस प्रकार मौलिक ग्रन्थ प्रणयन और हिन्दी और नागरी लिपि के प्रचार के उद्योग साथ साथ चले। अन्य प्रान्तो के निवासी भी हिन्दी की ओर आकर्षित हुए। हिन्दी में वेंकटेश्वर समाचार का प्रकाशन शुरू हुआ। मेरठ के प० गौरीदत्त ने नागरी प्रचार मे बहुत काम किया। आर्य समाज ने तो हिन्दी के प्रचार और उर्दू के स्थान पर उसकी स्थापना का झडा ही उठा लिया था। हिन्दी को राज-भाषा और आगे चल कर राष्ट्र-भाषा बनाने के आन्दोलन का सूत्रपात्र भी यही से होता है। इस प्रसग में फ्रेडरिक पिंकाट, सर जार्ज ग्रियर्सन की साहित्य सेवा और हिन्दी समर्थन भी स्मरणीय हैं। हिन्दी रचनाओ का स्तर ऊँचा हो चला था। उनके प्रभाव क्षेत्र की व्यापकता बढ रही थी।

नाटकों के सबध मे ऊपर लिखा जा चुका है कि भारतेन्दु ने मौलिक नाटक रचना को गति दी। हिन्दी के तत्कालीन सभी प्रसिद्ध लेखको ने नाटक लिखे। गद्य साहित्य का निर्माण इस युग में इतने परिमाण मे हुआ है कि छोटे बडे समस्त ग्रन्थो का उल्लेख करना कठिन है। भारतेन्दु के पीछे मौलिक नाटको की प्रवृत्ति तो कम हो गई पर अनुवादो की परंपरा चलती रही। बगला नाटको के अनुवाद के लिए बा० रामकृष्ण वर्मा और पं० रूपनारायण पाडेय, अगरेजी नाटकों के अनुवादक पुरोहित गोपीनाथ और मथुरा प्रसाद चौधरी, सस्कृत नाटको के अनुवाद के लिए लाला सीताराम, प० ज्वाला प्रसाद मिश्र, सत्यनारायण कविरत्न आदि प्रसिद्ध है। मौलिक नाटको के लिए प० किशोरीलाल गोस्वामी, ज्वाला प्रसाद मिश्र, बलदेव प्रसाद मिश्र, बाबू शिवनदन सहाय, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि उल्लेखनीय हैं। अभिनय की दृष्टि से ये नाटक बड़े महत्व के हैं।

पर दुख की बात है कि आज भी हिन्दी रंगमंच जहाँ का तहाँ पड़ा है। इसीलिए वर्तमान नाटको में अभिनेयता की कमी है।

भारतेन्दु ने एक शैली की नीव डाली थी। उसी को विकसित करने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की रचनाओं का सहारा लिया गया था। उपन्यासो के प्रणयन की गति भी तीव्रतर होती गई। अनुवाद और मौलिक उपन्यासो की बाढ आ गई। बाबू गदाधर सिंह, राधाकृष्णदास, प० प्रताप-नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, रामकृष्ण वर्मा, कार्तिक प्रसाद खत्री, गोपालराम गहमरी, मुशी उदित नारायण लाल, ईश्वरी प्रसाद शर्मा, रूपनारायण पांडेय, रामचन्द्र वर्मा आदि के अनुवादो और देवकी-नदन खत्री, हरिकृष्ण जौहर, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्या सिंह उपा-ध्याय, लज्जाराम मेहता, बाबू ब्रजनन्दन सहाय आदि के मौलिक उपन्यासो का हिन्दी गद्य के विकास क्रम मे अपना स्थान है।

अब हम पद्य साहित्य की प्रगति पर आते है। भारतेन्दु काल पद्य रचना की दृष्टि से उतनी समृद्धि नही है। कारण साहित्यकारो का ध्यान गद्य रचना की ओर अधिक था। उसी में उन्हें युग की माँग की पूर्ति दिखाई देती थी। काव्य भाषा के रूप मे ब्रजभाषा की ही प्रबलता थी पर खड़ी बोली का पद्य की भाषा के रूप में स्थान भी स्वीकृत हो रहा था। हिन्दी की ह्रासकारिणी शृगारिक कविता की रूढि भारतेन्दु ने अपने देशप्रेम से परिपूर्ण नाटकों के गीतो में पहले ही तोड़ दी थी। राष्ट्रीय भावनाओं और जातीय जागरण का वेग उसी दिन वाणी की अदम्यता के साथ हिन्दी कविता मे फूटा था। नवीन जीवन और स्थितियो का प्रकाश अब कविता में उदभासित हो रहा था। पर भाषा सम्बन्धी स्पष्टता न थी। खडी बोली और ब्रजभाषा की मिश्रित पदावली में कवितायें होती थी। न तो शुद्ध ब्रज भाषा काव्य भाषा थी—न शुद्ध खडी बोली। स्वयं भारतेन्दु की कविता की भाषा कही ब्रजभाषा, कही

खड़ी बोली और कही दोनो की मिश्रित भाषा है। भाषा मे हमें वह मार्जन और शुद्धता नही मिलती जो महाकवि पद्माकर के समय तक थी या जो बाद में मैथिलीशरण गुप्त से आकर आरभ हुई।

काव्य के विषयो मे अवश्य अभीष्ट परिवर्तन हुआ। जातीय उद्बोधन और राष्ट्रीय चेतना, समाज सुधार की प्रबल कामना, सामाजिक जीवन और जडता की व्यापक अभिव्यक्ति, रूढियो की अनिष्टकर परम्परा को तोड़ने की स्फूर्तिमयी भावना, प्राचीन गौरव और इतिहास का दर्द और दर्प जगाने की प्रवृत्ति, देश के पराभव पर ग्लानि और संताप यह सब बडी हार्दिकता के साथ कविता मे उच्छ्वासित हुआ यद्यपि कला की कुशलता का अभाव सा था। सोता हुआ साहित्य जाग तो पडा था पर पूरी तैयारी और रूप-सज्जा के साथ उठ कर खडा न हुआ था। अँगरेजी शिक्षा और पाश्चात्य जाग्रति और सभ्यता के प्रभाव से नवीन परिस्थितियो और सामाजिक परिवर्तनो का प्रादुर्भाव हो चला था। जीवन के आचारिक और नैतिक मूल्य बदल रहे थे। नई नई सामाजिक प्रवृत्तियो के भीतर धार्मिक और लौकिक परिपूर्तियो का आग्रह भी था। साथ ही पुराने समय से चली आ रही शृगार और प्रेम काव्य की परपरा भी थी और उसके प्रति भी साहित्यिको और जनता का आकर्षण कम न हुआ था। अनुभूति और काव्य कला की दृष्टि से उस समय की कविता का यही अश सर्व-श्रेष्ठ है। जहाँ राष्ट्रीय अवनति या सास्कृतिक अध पतन, विवाह संबधी कुरीतियाँ, शिक्षा का अभाव, आत्मबल और जातीय बल की कमी कविता का वर्ण विषय रहा वहाँ कविता कविता न रह कर उपदेशक की शुष्क वृत्ति से भर गयी। भारतेन्दु के समय की काव्य-धारा को हम विशेषतया तीन दिशाओ की ओर बढता पाते है। वैष्णव काव्य धारा, शृगार प्रधान काव्य और जातीय और राष्ट्रीय काव्य। पहली दो धारायें भारतीय साहित्य की परपरा से सम्बन्धित थी। तीसरी समय और

परिस्थितियो की उपज थी। इतना और मानना पडता है कि अपना कवित्व गुण खोकर भी हिन्दी कविता शिक्षित जनता के साहचर्य मे आ गई थी। अभिव्यजना का ढग और मूर्तिमत्ता रीतिकालीन होने पर भी समाज के वर्ग विशेष को लेकर जो व्यग किये जाते थे या जो प्रकृति निरीक्षण होता था वह शिक्षा मे अभिरुचि रखने वाले पाठको को पसन्द आता था। इस समय के व्रजभाषा तथा मिश्रित भाषा में लिखने वाले प्रमुख कवि निम्नलिखित है—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—वर्तमान गद्य के प्रवर्तक होने के साथ साथ प्रेम और भक्ति के उच्चकोटि के कवि थे। वडा सुकुमार भावुक कवि हृदय इन्होने पाया था और इनके कवित्त सवैये मार्मिकता से भरे है। भाषा भी वोलचाल की सरल है और उसमे कही 'कच्चापन' नही है। व्रजभाषा और खड़ी वोली दोनो की भाषा इनकी चलती हुई है। प्रेम माधुरी इनके कवित्त, सवैये का सग्रह है। प्रेम फुलवारी, प्रेम मालिका,प्रेम प्रलाप इनक पदो और गानो के सग्रह है। भारतेन्दु की देशानुराग से भरी जाति प्रेम की कविताओ मे वह तन्मयता और भावना की अनुभूत तीव्रता नही है जो इन मरन्द-मधुर कविताओ मे है। उनकी सुधारक कविताओ मे निवधों की सी वुद्धिगम्य विचार प्रणाली है भावो का तरगित उच्छ्वास नही। पर परपरावादी कवित्त सवैयो मे रस का अजस्र श्रोत है। देखिये—

रोकहुँ जो तो असंगल होय औ, नेह नसै जो कहौं प्रिय जाइये।
जो कहौं जाहु न तो प्रभुता औ कहूँ न कहौं तो सनेह नसाइये॥
जो कहौं जीहौं न आपु विना तो भला हरिचन्द जू क्यो पति आइये।
यातें पयान समै तुमसे हम कहा कहे आपु हमें समुझाइये॥

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहाति।
बिच बिच छहराति बूँद मध्य मुकता-मनि पोहति।

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत ।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ॥

प्रतापनारायण मिश्र—की कविता सरस और प्रभावोत्पादक होती थी। ये बड़े लहरी कवि थे। श्रृंगार रस की समस्या पूर्तिया बडी सुन्दर करते थे। लावनी भी इन्होने बहुत लिखी है। सामाजिक विषयो पर और हास्य विनोद की इनकी कवितायें प्रशंसनीय हैं। देश दशा पर आँसू बहाने के अतिरिक्त इन्होंने बुढापा और गोरक्षा जैसे विषय भी कविता के लिए चुने। इनके कुछ इतिवृत्तात्मक पद्य भी पाये जाते हैं। पर मिश्र जी के हँसोड़ जीवन्मुक्त व्यक्तित्व की झलक इनकी हास्य विनोद पूर्ण कविताओं मे ही दखाई पडती है, जिनमे हास्य विनोद के साथ भाव व्यजना भी है। एक उदाहरण दिया जाता है—

पितु मात सहायक स्वामि सखा तुम ही इक नाथ हमारे हौ ।
जिनके कछु और अधार नहीं तिनके तुम ही रखवारे हौ ।
सब भाँति सदा सुखदायक हौ दुख दुर्गुन नासन हारे हौ ।
प्रतिपाल करौं सगरे जग को अति सै करुना उर धारे हो ॥

अम्बिकादत्त व्यास—कवि समाजो में समस्या पूर्तियाँ सुनाया करते थे। इनकी कविता प्राचीन ढग की होती थी। भाव साधारण होते हुए भी कविता मधुर होती थी। अन्त्यानुप्रास रहित खडी बोली मे इनका कंस बध महाकाव्य है। कविता मे इनका उपनाम सुकवि था। महाकवि विहारी की सतसई की टीका इन्होंने कुडलिया छन्द में की है—

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय ।
जा तन की झाँईं परे श्याम हरित दुति होय ।
श्याम हरति दुति होय परत तन पीरीझाईं ।

राधा हू पुनि हरी होत लहि स्यामल छाईं ।
नयन हरे लखि होत रूप अरु रंग अगाधा ।
सुकवि जुगुल छवि धाम हरहु मेरी भव बाधा ।।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—की प्रतिभा गद्य और पद्य में समान थी। इन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनो में विस्तार से लिखा है। अपने समय के प्राय. प्रत्येक विशेष अवसर पर इन्होंने कविता लिखी है। नवीन विषयो के लिए ये रोला छद लेते थे। इनके दोनो नाटको में भी इनकी सरस और प्रांजल कवितायें है। अधिकाश कविताओ की भाषा में प्रवाह और मधुरता है। मुहावरो की छटा भी देखने को मिलती है। सामयिक समस्याओ और देश की सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियो का इनकी काव्य-प्रेरणा पर बराबर प्रभाव पड़ता रहा है। उदाहरण देखिए—

जय जय भारत भूमि भवानी ।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी ।
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी ।
सकल कला गुन सहित सभ्यता जहँ सो सबहि सुभ्कानी ।
भये असंख्य जहाँ जोगी तापस ऋषिवर मुनि ज्ञानी ।
जा श्री सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी ।।

लाला सीताराम का उपनाम कविता मे भूप था। कालिदास कृत मेघदूत तथा रघुवंश का अनुवाद इन्होंने किया है। भाषा साधारण चलती हुई है—न शुद्ध ब्रज भाषा है न शुद्ध खड़ी बोली। छन्दो में घनाक्षरी, दोहा और चौपाई मुख्य हैं ।

ठाकुर जगमोहन सिंह—ब्रजभाषा में बड़ी सरस कविता करते थे। शृगार रस के कवित्त, सवैये उन्होंने लिखे है। सस्कृत काव्यो के ढग का

प्रकृति वर्णन इन्होने किया है। अपनी भावनाओ के रंग में रग कर ही प्रकृति को नही देखा वरन् उसका स्वतन्त्र रूप भी स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दो में "अपनी प्रेमचर्या की मधुर स्मृति से समन्वित विन्ध्यप्रदेश के रमणीय स्थलो को जिस अनुराग की दृष्टि से उन्होने देखा है वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होने हिन्दी काव्य मे एक नूतन विधान का आभास दिया था।" पर इनकी कविता नये विषयो को अपनाने मे असमर्थ रही। 'प्रेम सम्पत्ति लता', 'श्यामलता', 'श्यामा सरोजिनी' नामक काव्य पुस्तको मे इनकी अनेक श्रेष्ठ कवितायें सग्रहीत है। कालिदास के मेघदूत का इन्होने सुन्दर शब्दो मे अनुवाद किया है। इनके काव्य सौन्दर्य और लालित्य की प्रशसा करनी पड़ती है।

राजा लक्ष्मणसिंह ने महाकवि कालिदास कृत शकुन्तला, मेघदूत और रघुवंश के अनुवाद किये। अनुवादो मे मूल भावनाओ की रक्षा हुई है और उनकी सफलता असदिग्ध है। उच्चकोटि की शुद्ध सरस ब्रजभाषा इन्होने लिखी है। इसी प्रकार नवनीतलाल चतुर्वेदी भी शुद्ध ब्रजभाषा के कवि थे। इन्होने रीतिकालीन परिपाटी अपनाई है। ये स्वर्गीय महाकवि जगन्नाथदास रत्नाकर के गुरु थे। ऐसी माधुर्यपूर्ण, प्रवाहमयी भाषा इन्होने लिखी है जो देखते ही बनती है। कुब्जा पचीसी इनका सबसे सुन्दर काव्य है। राधाकृष्णदास, विजयानद त्रिपाठी और श्री विनायक राव का नाम भी इस प्रसग में उल्लेखनीय हैं। इसी समय प्रसिद्ध कृष्णभक्त नागरीदास हुए जिन्होने इश्क की फारसी पदावली और गजलबाजी की शैली अपनाई। इनकी परपरा मे ही प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त ललित किशोरी और ललित माधुरी का नाम आता है। नजीर अकबराबादी ने भी कृष्ण लीला सबधी बहुत से पद हिन्दी खडी बोली मे लिखे। प्राचीन परिपाटी का अक्षरश. पालन करने वालो में द्विजदेव (अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह)

सरदार कवि, गोविन्द गिल्ला भाई, रसिक विहारी रसिकेश, चन्द्रशेखर वाजपेयी आदि के नाम आते हैं।

यह समय व्रजभाषा और खडी बोली की प्रतिद्वन्द्विता का था। इस समय के प्राय. सभी कवियो ने व्रजभाषा में कविता लिखी है पर इनकी कविता पर खड़ी बोली का प्रभाव बढता जा रहा था। अनेक कवियो ने इसीलिए खिचडी भाषा का प्रयोग किया है। छन्दो के चुनाव और विचारधारा में भी परिवर्तन हुआ। कविता मे सरल और प्राकृतिक भाव बढ रहे थे। विलासिता के ऊपर शुद्ध प्रेम की प्रतिष्ठा हो रही थी। अलंकार प्रधान शैली धीरे धीरे छूटती जा रही थी। प्रसाद गुण और रस परिपाक की ओर लोगो का ध्यान बढ रहा था। इसी बीच एक युग लावनीबाजो का भी आया। लावनी की भाषा खडी बोली रहती थी और पीछे तो इनके द्वारा उर्दू के छद भी लिये जाने लगे। ख्यालबाज भी इसी [illegible]य हुए जो अपने ढग पर ठेठ हिन्दी का प्रयोग करते थे। इस प्रकार खडी बोली कविता का आरंभिक रूप कवित्त सवैया प्रणाली, उर्दू छदो की प्रणाली और लावनी के ढग पर पनपने लगा। खड़ी बोली को काव्य भाषा के रूप में स्वीकृत कराने में बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री और प० चद्रशेखरधर मिश्र का भी बडा हाथ रहा। इसी समय कुछ प्रतिभाशाली रस सिद्ध कवि ऐसे हुए जिन्होने पहले तो शुद्ध टकसाली व्रज भाषा मे रचनायें की पर बाद मे युग की नवीन शक्तियो ने उन्हे इतना प्रभावित किया कि वे शुद्ध खडी बोली में कविता लिखने लगे। खडी बोली के इन आदि कवियो मे प० श्रीधर पाठक, नाथूराम शकर शर्मा और राय देवी प्रसाद पूर्ण प्रमुख थे। बाद मे तो इनकी एक परपरा ही बन गई जो आज तक चली जा रही है।

पं० श्रीधर पाठक काव्य में स्वच्छन्दवाद के जिसे रोमान्सवाद के नाम से भी पुकारा जाता है, प्रवर्तक हैं। एकान्तवासी योगी और

ऊजड़-ग्राम इनकी खड़ी बोली की रचनायें हैं। साथ ही बहुत सी स्फुट कवितायें और सवैयें भी इन्होने लिखे। इनकी प्रतिभा रचना के लिए बराबर नये नये मार्ग निकालती थी। ब्रजभाषा में भी ये बड़ी सरस कविता लिखते थे। मधुर गीत भी इन्होने लिखे हैं। प्रकृति के सौदर्य का भी मार्मिक चित्रण इनकी कविता मे है। उसके यथार्थ चित्रण को अपना आदर्श बना कर भी उसकी स्थापना जनता के दु:खों-सुखो आचार विचारो और सामाजिक भावनाओ में की है। नये ढाँचे के मधुर लययुक्त छन्द इन्होंने निर्मित किये और नये सुरो का परिचय दिया। समाज सुधार की भावना, देश भक्ति और राष्ट्रीयता भी इनकी कविता मे पर्याप्त मात्रा मे मिलती है। उस काल की कर्कश खड़ी बोली को इन्होने काव्योपयुक्त कोमलता प्रदान की। इनकी पुस्तको के नाम है—आराध्य शोकाजलि, श्री गोखले प्रशस्ति, एकान्तवासी योगी, ऊजड ग्राम, श्रान्त पथिक, जगत सचाई सार, काश्मीर सुखमा, मनोविनोद, श्री गोखले गुणाष्टक, देहरादून, तिलिस्माती मुँदरी, गोपिका गीत, भारत गीत। इनकी खड़ी बोली का नमूना देखिये—

ये सब भाँति भाँति के पक्षी ये सब रंग रंग के फूल।
ये बन की लहलही लता नवललित ललित शोभा के मूल॥
ये नदियाँ ये झील सरोवर कमलों पर भौरों की गुंज।
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल घनी वृक्षों की कुंज।

नाथूराम शंकर शर्मा का छन्द विधान बहुत नपा तुला और सुन्दर होता था। समस्या पूर्ति भी ये उच्चकोटि की करते थे। आर्य समाजी कट्टरता के कारण इनकी पदावली मे कही कही उद्दडता आ गई है। पर यह वही हैं जहाँ इन्होंने उग्र सुधारक वृत्ति के कारण सामाजिक अंध-विश्वासों और कुरीतियों का विरोध किया है। यों इनके कवित्त सवैये भाषा सौष्ठव और रस परिपाक की दृष्टि से उच्चकोटि के है। उक्तियों में

मौलिकता और मनोहरता है। व्यग, फबती और फटकार से भी इन्होने काम लिया है। नई सभ्यता के अनाचारो पर इन्होने कठोर प्रहार किये हैं। अपनी बहुमुख प्रतिभा और रस सिद्धि के कारण ये कविता कामिनी कान्त कहलाते थे। शकर सरोज, अनुराग रत्न, गर्भ रडा-रहस्य, वायस विजय आदि इनकी मुख्य पुस्तके है जो प्रकाशित हुई है।

राय देवीप्रसाद पूर्ण—ब्रजभाषा काव्य परपरा के बहुत ही प्रौढ कवि थे। पहिले जब खडी बोली की कविता का प्रचार बढा तब इन्होने उसमें भी कवितायें की। उस युग के अन्य कवियो की भाँति इनकी कविता मे भी देश-भक्ति और राष्ट्र-भक्ति का समन्वय पाया जाता है। ब्रजभाषा मे भी इन्होंने भारतेन्दु की भाँति नूतन विषय अपनाये है। इनकी अधिकाश कवितायें इति वृत्तात्मक है। पर जहाँ कवि ने कल्पना का आश्रय लिया है वहाँ कविता मे अधिक सौंदर्य आ गया है। प्रकृति निरीक्षण, धार्मिक प्रवृत्ति और देश प्रेम आपकी कविता की प्रमुख विशेषतायें है। इनकी कवितायें पूर्ण सग्रह में संकलित है।

उपरोक्त तीनो कवियो में यद्यपि कवित्व प० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी से अधिक है पर भाषा का मार्जना इन तीनो की अपेक्षा उन्होंने अधिक किया है। उसका स्वरूप निश्चित कर उन्होंने उसे काव्योपयुक्त बनाया है। इसलिए इनकी कविता का ऐतिहासिक महत्व है। उनका काव्य उनकी काव्य सबधी धारणाओ और आकाक्षाओ का प्रतिबिम्ब है। आचार्य शुक्ल जी ने इसीलिए इन्हें पद्य रचना की एक प्रणाली का प्रवर्त्तक कहा है। गद्य और पद्य की भाषा की एकता पर जोर देने के कारण और अपनी कविता द्वारा उसका प्रयोग दिखाने की प्रवृत्ति के कारण इनकी भाषा बड़ी नीरस हो गई है। रस सचार और प्रेषणीता का गुण तो प्रायः है ही नही। संस्कृत वृत्तो का प्रयोग इन्होंने अधिक किया है पर हिन्दी के कुछ प्रचलित छद भी अपनाये है। संस्कृत के कुमार सभव का अनुवाद

इनका बहुत सुन्दर हुआ है]। द्विवेदी जी के अनुयायियो में कई बड़े बड़े कवि निकले जिनमें राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त सबसे यशस्वी हैं। पं० रामचरित उपाध्याय, सियारामशरण गुप्त, लोचन प्रसाद पांडेय, अन्य उल्लेखनीय कवि है। मैथिलीशरण जी खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि है। हिन्दी कवियो में वे आज सर्वाधिक लोक प्रिय है। उनकी कविता में कही कृत्रिमता नही देख पड़ती। इन्होने परवर्ती काव्य शैलियाँ भी अपनाई है और कथात्मक खंडकाव्य, महा काव्य और मुक्तक सभी कुछ लिखे है। बँगला काव्य पुस्तकों के अनुवाद भी इन्होनें किये है जिनमें इन्हें अद्भुत सफलता मिली है। गुप्त जी पर भारतीय भक्त परंपरा, भावुकता और आराधनात्मक प्रवृत्ति का पूरा प्रभाव है। इनकी सरल अभिव्यक्ति और प्रसाद गुण ही इनके काव्य के व्यापक प्रभाव का रहस्य है। वीर पूजा की भावना उनमें बलवती है। प्राचीन कथाओ को नवीन आदर्शो का निरूपक बना कर उन्होंनें प्रस्तुत किया है। भारत भारती को हम हिन्दी की पहली राष्ट्रीय रचना कह सकते है जिसमें जातीय ह्रास और राष्ट्रीय पराभव पर तीव्र असन्तोष प्रकट किया गया है। गुप्त जी की काव्य परंपरा पर राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनो का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। साकेत, भारत भारती, जयद्रथ वध, गुरुकुल, हिन्दू, पंचवटी, अनघ, स्वदेश सगति, बक सहार, वन वैभव, सैरन्ध्री, झकार, शक्ति, विकट भट रग मे भग, किसान, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, गुरु तेज बहादुर, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज, मंगल घट, वीरागना, विरहिणी व्रजांगना, प्लासी का युद्ध, स्वप्न, स्वप्न वासवदत्ता, मेघनाथ वध, रुबाइयात उमर खैयाम, चन्द्रहदास, त्रिलोत्तमा, कावा और कर्बला आदि आपके मौलिक और अनुवादित ग्रन्थ है। आपने देश मे जागर्ति और उत्साह का मत्र फूका है।

द्विवेदी जी के प्रभाव के बाहर के कवियो का भी सरसता और भावपूर्णता की दृष्टि से हिन्दी कवियो मे अपना स्थान है। पं० अयोध्यासिह उपा-

ध्याय 'हरिऔध', पं० गया प्रसाद शुक्ल सनेही, प० सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन 'दीन', प० रामनरेश त्रिपाठी, प० रूपनारायण पाडेय, प० रामचन्द्र शुक्ल, प० मातादीन शुक्ल, स्वर्गीय मन्नव द्विवेदी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, प० कामताप्रसाद गुरु, प० माखनलाल चतुर्वेदी, सैयद अमीरअली मीर, माधव शुक्ल आदि के नाम उल्लेखनीय है। हरिऔध जी खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनो के महाकवि थे। संस्कृत वृत्तो में प्रिय-प्रवास उनकी अति सुन्दर रचना है। उनकी साहित्य सृष्टि अनेकमुखी है। उन्होंने काव्य में मुहावरो का चमत्कार दिखाया है और उपदेशो और व्यगो द्वारा समाज सुधार की प्रेरणा भी दी है। उनकी कोमलकान्त पदावली माधुर्य्य से परिपूर्ण है। भाव व्यजनात्मक और वर्णनात्मक दोनो प्रकार की कवितायें उन्होंने बडी सफलता के साथ लिखी है। शब्द भडार पर इतना अद्भुत अधिकार अन्य किसी आधुनिक कवि का नही है। 'रस कलश' और 'वैदेही वनवास' उनके अन्य प्रसिद्ध काव्य ग्रथ है।

व्रजभाषा के आधुनिक कवियो में सत्यनारायण शर्मा कविरत्न, जगन्नाथदास रत्नाकर, वियोगी हरि, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, डा० रामशकर शुक्ल'रसाल', प० मातादीन शुक्ल 'सुकवि नरेश', प० रामचद्र शुक्ल 'सरस', बचनेश, द्विज श्याम, दुलारेलाल भार्गव, डा० बल्देवप्रसाद मिश्र, रामनाथ ज्योतिपी आदि प्रसिद्ध हैं। श्री सत्यनारायण कविरत्न की रचनाये व्रज-माधुरी से परिपूर्ण होती थी। स्वदेशानुराग की सच्ची झलक उनकी कविता मे मिलती है। देश के कुछ महापुरुपो की प्रशस्तियाँ उन्होंने भावुकतापूर्ण ढग से लिखी है। भवभूति के मालती माधव नाटक का उन्होंने सरस और मधुर अनुवाद किया है। इनकी कविता में एक ओर भक्तिकाल की कृष्ण भक्ति के दर्शन होते है तो दूसरी ओर भारतेन्दु काल की नूतन विचारधारा और जागृति का सदेश भी मिलता है। इनकी व्रजभाषा परपरागत व्रजभाषा नही, वहती बोलती व्रजभाषा है। उत्तर रामचरित्र

का अनुवाद, मेकाले के अँगरेजी खड काव्य होरेशस का पद्यवद्ध अनुवाद, प्रेमकली, भ्रमरगीत आदि इनके अन्य ग्रन्थ है। श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ब्रजभाषा के सर्वोत्कृष्ट आधुनिक कवि है। इनकी भाषा शैली पद्माकर की सी है। अनुभावो के प्रस्तुत करने मे कवि ने आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तो का उपयोग किया है। छदो की कारीगरी और संगीतात्मकता मे रत्नाकर जी वेजोड है। हरिश्चन्द्र, गगावतरण, उद्धव शतक इनके मुख्य काव्य ग्रथ है। कवि ने स्थान स्थान पर प्रकृति के नाना रूपो के साथ अपने हार्दिक भावो का सामंजस्य दिखाया है। इनकी कविता मे निर्वन्ध स्वाभाविक प्रवाह है।

महाकाव्यो की रचना भी इस युग मे हुई है। प्रसाद जी की कामायनी छायावाद युग की सबसे सशक्त और प्रौढ़ कृति है। प्रियप्रवास, साकेत का उल्लेख पहले हो चुका है। प० द्वारकाप्रसाद मिश्र का कृष्णायन इस युग की उच्चतम कोटि की कृति है और कदाचित् अवधी काव्य परंपरा का अतिम ग्रन्थ है। कृष्ण के चरित का—उनके लोक संग्रह का बड़ा ही प्राणवान् चित्र कवि ने प्रदान किया है। रामायण की पद्धति पर रचा गया यह महाकाव्य सच्चे अर्थ मे अपने नाम को चरितार्थ करता है। कवि ने इसमे युग और भारतीय मानवता को एक नया सदेश सुनाया है। वर्णन करने की अपूर्व शक्ति मिश्र जी में है और कल्पना की उड़ान, भावोत्कर्ष और रस परिपाक की दृष्टि से भी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यो मे यह गिना जाता है। कृष्ण के जीवन का ऐसा प्रबंधवद्ध व्यवस्थित और विदग्ध चित्र एक स्थान पर अन्यत्र कही नही मिलता।

डा० बल्देव प्रसाद मिश्र का साकेत सन्त, पुरोहित प्रतापनारायण का नल नरेश, श्याम नारायण पाडेय का हल्दी घाटी और जौहर, दिनकर का कुरुक्षेत्र, रामनाथ ज्योतिषी का रामचन्द्रोदय आदि भी साहित्य के

इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित कर चुके हैं। श्री गिरिजादत्त 'गिरीश' और हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ नाटककार प० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी महा-काव्य 'दिये' हैं। ये सब साहित्य की स्थायी निधि हैं।

हिन्दी के राष्ट्रीय कवियो मे पं० माखनलाल चतुर्वेदी अग्रणी हैं। उन्होंने आत्म बलिदान और राष्ट्र पूजा की व्यापक प्रेरणा दी हैं। प० बालकृष्ण शर्मा, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी आदि अन्य उल्लेखनीय कवि हैं। द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता और स्थूल वर्णन की प्रतिक्रिया स्वरूप छायावाद के रूप में एक स्वतत्र काव्य दर्शन का उदय हिन्दी में हुआ। सौन्दर्यानुभूति और चित्रात्मक कल्पना इस काव्य धारा का प्रमुख गुण हैं। बँगला और अँगरेजी कविता से मिली प्रेरणा ने इसका सूत्रपात किया। बाद मे प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ने इसे अपनी साधना मे एक जीवन्त शक्ति प्रदान की। प्रसाद जी की कविता ने हिन्दी को एक विशिष्ट शैली ही नही एक विशिष्ट शब्द-कोष भी प्रदान किया। भावनाओं की ऐसी सुकुमार योजना उन्होंने दी कि अभिव्यजना के क्षेत्र में क्रान्ति हो गयी। निराला जी ने सबल सशक्त पौरुष के स्वरो मे भारतीय अद्वैतवाद का काव्य में प्रतिपादन किया। उनकी कविताओं का-सा दार्शनिक प्रकाश अन्यत्र दुर्लभ हैं। प्रसाद की कामायनी और निराला का तुलसीदास छायावाद के दो विराम स्थल हैं। कामायनी में कवि ने आनंदवाद की विराट भावना को अपने दार्शनिक विश्वास के आवरण में उपस्थित किया है। कवि ने श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय का सदेश इसमे सुनाया है। काव्य, विशद कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियो से पूर्ण है। भाषा का संगीतमय माधुर्य और कवि की वचन-विदग्धता देखते ही बनती है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दो में "प्रसाद जी प्रबध क्षेत्र मे भी छायावाद की चित्र प्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशा बँधा गये हैं।" सचमुच कामायनी को पाकर हिन्दी कविता निहाल हो गई है।

आधुनिक सौन्दर्य-दृष्टि का भारत की सास्कृतिक विरासत के साथ बडा कलात्मक विनियोग इसमें हुआ है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने पश्चिमी शैली का आश्रय लिया है और रवीन्द्रनाथ की भाँति उन पर वैष्णव कवियो का प्रभाव पड़ा है। इनकी भावो की उडान बहुत ऊँची है। अन्य कवियो मे जहाँ कोमलता अन्त होती है वहाँ पन जी मे आरभ होती है। मूर्तिमती लाक्षणिकता का आभास इनमे शुरू से पाया जाता है। इनकी कविता मे प्रकृति के साथ सीधा प्रेम संवध पाया जाता है। इनकी कविता का क्रमिक विकास एक प्रकार से आधुनिक खडी बोली कविता का ही क्रम विकास है। छायावादी कहे जाने वाले कवियो मे श्रीमती महादेवी वर्मा रहस्यवाद के भीतर रही है। आधुनिक युग की ये सर्वश्रेष्ठ गीतकार है। इनकी पदावली माधुर्य और स्निग्धता मे डूबी हुई है। यदि निराला जी ने हिन्दी को मुक्त छन्द दिया है तो देवी जी ने गीतो की लयमयी परिणति। ये वेदना की रसमयी सृष्टि अपनी कविता मे करती है।

हिन्दी कविता आज प्रगति के मोड पर आकर रुक सी गयी है। जीवन की महान् और चिरकालीन भावनाओ को लेकर कविता इस उथल पुथल और द्रुत परिवर्तन के युग मे यदि नही लिखी जा सकती तो यह साहित्य का अभाव ही माना जायगा। पर नयी नयी प्रतिभायें बराबर क्षेत्र मे आ रही है। भविष्य में वही कवि इस विराम को गति दान देगा जो नव जागरण और सास्कृतिक परंपरा का रसमय समन्वय कर सके। आज या तो कवि इतने अन्तर्मुख है कि कोई सामाजिक और भौमिक लगाव ही नही अनुभव करते या फिर सस्ते भावहीन वर्णनो में पडकर द्विवेदीकालीन गद्यात्मकता की ओर लौटने लगते है। आवश्यकता प्रयोग और परिवर्तन की ओर से हट कर ठोस जीवन-भूमि पर आने की है। हिन्दी कविता का नया विकास भविष्य के गर्भ मे है। इस अस्थिरता को सर्वतोव्याप्त हलचल के बाद

जब जीवन की शक्तियो का स्थिरीकरण होगा तब कविता में नये प्राण फूटेंगे। अभी तो प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और प्रतीकवाद के झमेले में पडी कविता को देख कर लगता है जैसे उसमें आत्मा का सर्वश्रेष्ठ सत्य अभिव्यक्त नहीं हो पा रहा है। यह सक्रान्ति युग का ही विषम प्रभाव है।

गद्य के विभिन्न अंगों का विकास

साहित्यिक समालोचना का आरम्भ भारतेन्दु के समय में ही हो गया था। पर उसका स्वरूप द्विवेदी जी के समय मे निश्चित हुआ। मासिक, साप्ताहिक पत्रो में चलने वाली पुस्तक समीक्षा की सक्षिप्त प्रणाली का सूत्रपात द्विवेदी जी ने किया। आलोचना का सयत ढग भी उन्होंने हिन्दी को दिया। द्विवेदी जी की आलोचनायें खडनात्मक है जिनका उद्देश्य साहित्य नही वरन् भाषा का सुधार करना होता था। विशेष अध्ययन पूर्ण मूल्याकन के स्थान पर द्विवेदी जी ने परिचयात्मक शैली को ही आगे बढाया। साथ ही उनमे निर्णयात्मक प्रवृत्ति भी थी। द्विवेदी जी के समकालीन आलोचकों में मिश्रबधु प्रमुख थे। उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास ग्रन्थ अपने ढग का अपूर्व है। हिन्दी नवरत्न मे कवियो की समालोचना का सूत्रपात है जो श्रेणी विभाजन पर आधारित है। गुण दोष विवेचन की प्रवृत्ति अवश्य है पर उसकी जीवन में कोई गहरी पकड नही है। हिन्दी आलोचना के इतिहास मे मिश्रबधुओ का ऐतिहासिक स्थान माना जायगा। पडित पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन 'दीन' और प० कृष्ण विहारी मिश्र की आलोचनाये इसके बाद अधिक प्रकाश मे आई। वह युग कवियो की पारस्परिक श्रेष्ठता के प्रचार और प्रतिपादन का था। शर्मा जी ने हिन्दी मे तुलनात्मक आलोचना की नीव डाली जिसे मिश्र जी ने आगे बढाया। शर्मा जी की आलोचना मे कला के बाह्य अगो पर विशेष ध्यान दिया गया है अतस्थ की ओर नही। उनकी उर्दू मिश्रित भाषा मे मुशायरो की कदरदानी वाला लहजा है। मिश्र जी अपेक्षाकृत गभीर सतुलित आलोचना पद्धति को लेकर

चले है। देव और विहारी को लेकर उस युग मे एक साहित्यिक विवाद ही खड़ा हो गया था। लाला भगवानदीन 'दीन' ने मिश्र जी की पुस्तक 'देव और विहारी' के उत्तर मे 'विहारी और देव' लिखी थी। इन लेखकों की आलोचना ने पाठको मे काव्यानुराग और काव्यानुशीलन की भावना अवश्य उत्पन्न की। इन लेखको ने अपने प्रिय कवियो के ग्रन्थो का सपादन और टीकायें भी की। अँगरेजी ढंग की आलोचनाये लिखने मे बावू श्यामसुन्दर-दास और पडित रामचन्द्र शुक्ल प्रमुख थे। दोनो ने आलोचना सबंधी सिद्धान्तो का निरूपण किया और हिन्दी भाषा के स्वरूप का परिचय कराया। बावू साहव ने भारतीय आलोचना परंपरा की रक्षा करते हुए पश्चिमी ढग पर अच्छी आलोचनाये की। इनके ग्रन्थ साहित्यालोचन, रूपक रहस्य, भाषा और साहित्य, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गोस्वामी तुलसीदास आदि है। शुक्ल जी ने जायसी, तुलसी, सूर आदि पर वडी पैनी और गंभीर विश्लेषणात्मक आलोचना लिखी। डा० रामरतन भटनागर के शब्दो मे उन्होने पूर्व की इस पद्धति को पश्चिमी आलोचना के दृष्टिकोण से परि-मार्जित करके उसे साहित्य का मापदंड बनाया।" शुक्ल जी ने कवियो के मानसिक और कलात्मक विकास पर प्रकाश डाला। हिन्दी आलोचना को उन्होने एक नई दिशा—नई दृष्टि प्रदान की। उनकी कृतियाँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधियाँ है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी, नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, विनयमोहन शर्मा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० दीनदयालु गुप्त, डा० केशरीनारायण शुक्ल, गुलाव राय, डा० नगेन्द्र आदि इस युग के उल्लेखनीय आलोचक है। हिन्दी आलोचना आज वहुत आगे वढ़ आई है। आज रचना में केवल रस की शास्त्रीय खोज नही वरन् सामाजिक प्रेरणा और प्रभावो को भी परखा जाता है। और भी वहुत से नये पुराने आलोचना-लेखक

है जो अपनी मननपूर्ण सारगर्भित कृतियो से साहित्य का भडार भरा करते हैं।

नाटक का क्षेत्र अभी उतना भरापूरा नही है जितना होना चाहिए। हिन्दी के स्वतत्र रग मच का न होना भी नाटक के सम्यक् विकास मे बाधक हुआ है। अन्य प्रान्तीय भाषाओ के अपने रगमच होने के कारण वहाँ नाटक रचना की प्रगति सन्तोषप्रद रही है। प्रसाद जी और प० लक्ष्मी-नारायण मिश्र ये दो प्रमुख नाटककार है जिनकी अपनी धारायें है। प्रसाद जी प्राचीन भारतीय इतिहास और सस्कृति से नाटक का कथानक और परिस्थितियाँ चुनते है। सघर्ष अत्यन्त स्पष्ट रूप से उनके नाटकों मे उभरता है। पर उनके सभी पात्र दार्शनिक और भाव प्रधान होते है। इसीलिए नाटक मे लम्बे लम्बे प्रवचनो के बीच भाषा और विचारो की दुरूहता और भी अस्वाभाविक जँचती है। उनके कामना नाटक मे मानसिक वृत्तियो को पात्रो का स्वरूप दिया गया है। भाषा, भाव, नाटकीयता और देश काल के अनुरूप पात्रो और वातावरण की सृष्टि इस दृष्टि से प्रसाद जी के नाटक हिन्दी मे श्रेष्ठतम स्थान रखते है। प० लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों मे आधुनिकता की झलक है। वे समस्या प्रधान है। उनमे सामा-जिक रूढियो और असगतियो पर आघात है। नपेतुले वाक्य और कथोप कथन के साथ साथ मनोविज्ञान का भी पूर्ण परिचय लेखक देता है। प० बदरीनाथ भट्ट, प० गोविन्दवल्लभ पत, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी, प० उदयशकर भट्ट, हरिकृष्ण जोहर आदि हिन्दी के अन्य उल्लेखनीय नाटककार हैं। उग्र का 'महात्मा ईसा' और प्रेमचन्द जी के 'सग्राम' और 'कर्बला' भी उल्लेखनीय नाटक हैं। प० कृपानाथ मिश्र का 'मणि गोस्वामी' अपने ढग का अनोखा है। प० बदरीनाथ भट्ट के नाटक व्यग और विनोद की दृष्टि से अच्छे हैं। जी० पी० श्रीवास्तव के हास्य रस के नाटको और प्रहसनो का समय अब जा चुका है। एकाकी नाटककारो मे रामकुमार

वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद, गणेश प्रसाद द्विवेदी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और विष्णु प्रभाकर के नाम उल्लेखनीय है।

उपन्यास क्षेत्र मे प्रेमचन्द जी ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। उनके पहले के उपन्यासकारो और उनकी रचनाओ का उल्लेख पहले हो चुका है। उनके मौलिक उपन्यास सेवासदन और प्रेमाश्रम ने निकलते ही धूम मचा दी। रगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा, गबन, निर्मला, कर्मभूमि, गोदान आदि उनके अन्य प्रसिद्ध उपन्यास है। उनके उपन्यासो मे घटनाओं और भावनाओ का ऐसा सुन्दर मेल है कि पढकर पाठक कथा के रस-प्रवाह मे बहता चला जाता है। सामाजिक सघर्ष का सच्चा प्रतिविम्ब इनको रचनाओ मे है। देहाती समाज और जीवन का मार्मिक चित्रण इनके उपन्यासो मे हुआ है। इनकी जैसी चलती हुई और पात्रो के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा पहले नही देखी गई। डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों मे—"प्रेमचन्द ने समाज के असाधारण वर्गों की ओर से दृष्टि को हटा कर मध्यम तथा निचली श्रेणी के लोगो की नित्यप्रति की समस्याओ की ओर हिन्दी पाठको का ध्यान आकृष्ट किया।" प्रेमचन्द से पहले उपन्यास साहित्य मे जीवन को कोई स्थान न था। प्रेमचन्द जी ने अपनी सूक्तियों और व्यगो के सहारे उसे और भी भाव व्यंजक बना दिया है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी उनके उपन्यास बेजोड है। आदर्श और यथार्थ का विचित्र समन्वय उनकी कला में मिलता है। अन्य उपन्यासकारो में प्रसाद जी, कौशिक, भगवती प्रसाद वाजपेयी, वृन्दावन लाल वर्मा, जैनेन्द्रकुमार भगवती चरण वर्मा, यशपाल, उग्र, चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमण सिह आदि प्रसिद्ध है। उग्र जी हिन्दी मे यथार्थवाद के प्रतिनिधि कलाकार है। भगवती प्रसाद वाजपेयी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और कथा-गुंफन के लिए प्रसिद्ध है। वृन्दावन लाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकारो में अग्रणी है। किसी भी प्रान्तीय भाषा के श्रेष्ठतम ऐतिहासिक उपन्यासकार से

उनकी कला की तुलना हो सकती है। चतुरसेन शास्त्री की भाषा का प्रवाह दर्शनीय है। यशपाल का दृष्टिकोण समाजवादी है और वे सामाजिक, आर्थिक क्रान्ति के प्रचारक है।

कहानी के क्षेत्र मे हिन्दी साहित्य आज बहुत आगे है। सस्कृत की हितोपदेश या राज-तरगिणी की शैली पर न लिखी जाकर ये अँगरेजी की छोटी कहानियो की शैली पर लिखी गई है। इनके नाना प्रकार है। प्रेमचन्द हिन्दी कहानी के क्षेत्र में भी अग्रणी है। यो हिन्दी मे छोटी कहानी का आरभ श्री गिरिजा कुमार घोष ने किया। श्री गुलेरी जी, गोपालराम गहमरी, ज्वालादत्त शर्मा आदि ने भी उसे आगे बढाया। प्रेमचन्द और प्रसाद ने युगान्तर उपस्थित कर दिया। प्रेमचन्द की कहानियाँ घटना प्रधान है—प्रसाद की भाव प्रधान। वे कवित्वपूर्ण भाषा और हृदय के सुकुमारतम आवेगो की अभिव्यक्ति के कारण एक मादकता का वातावरण उपस्थित करती है। प्रेमचन्द की कहानियाँ सामाजिक आचारो और समस्याओ को लेकर चलती है। लेखक स्वय परिस्थितियो की मार्मिक व्याख्या करता है। प्रेमचन्द ने सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी है और बडी सफलता के साथ लिखी है। प्रेम कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, पशु जीवन से सबध रखने वाली कहानियाँ, काग्रेस के राष्ट्रीय जीवन की सजीव कहानियाँ, हास्य रस की कहानियाँ सब उन्होने लिखी है। कौशिक जी की कहानियो मे कथोपकथन और पारिवारिक जीवन का सौन्दर्य दर्शनीय है। प्रेमचन्द की भाँति ये भी आदर्शवादी लेखक है। सुदर्शन जी भी आदर्शवाद के हिमायती है। कहानी कला का सर्वोच्च विकास इनकी कहानियो में पाया जाता है। अन्य कहानीकारो में चतुरसेन शास्त्री, उग्र, राय कृष्णदास, भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र कुमार, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, यशपाल, विष्णु प्रभाकर, चन्द्रकिरण सौनरिक्शा, उषादेवी मित्रा, अन्नपूर्णानन्द, कृष्णानद गुप्त आदि के नाम

उल्लेखनीय है। हिन्दी कहानी आज बहुत आगे बढ आई है। उग्र जी की कहानियों ने हिन्दी कहानी साहित्य मे युगान्तर उपस्थित किया है। भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानियाँ चरित्र सृष्टि और वस्तु योजना की दृष्टि से सब से आगे हैं। विष्णु प्रभाकर और जैनेन्द्र मानवतावादी हैं और कला के नैतिक मूल्यो को आगे रखते हैं। यशपाल और अन्य नये कहानी लेखक जीवन के कुरूप यथार्थों की कटु आलोचना करते है। राहुल जी और भगवतशरण उपाध्याय ने संस्कृति के ऐतिहासिक विकास का क्रम दिखाने वाली कहानियाँ लिखी है। उषादेवी मित्रा की कहानियाँ कवित्व-मयी भावुकता से परिपूर्ण होती है। कहानी लेखिकाओ मे उनका स्थान सब से ऊँचा है। कहानी आज हमारे साहित्य का सब से लोकप्रिय अंग है और मनस्तत्व का विश्लेषण उसमें बराबर बढ़ता जाता है।

निबंधों की दिशा हिन्दी मे उतनी संपन्न नही है। आलोचनात्मक निबंध तो हमारे यहाँ उच्चकोटि के हैं पर शेष सभी निबंध साधारण है। भावात्मक निबंध सरदार पूर्ण सिंह के उच्चकोटि के हैं। दार्शनिक निबंध गुलाबराय, कन्नोमल और वासुदेव शरण जी अग्रवाल के अच्छे हैं। निबंध रचना में सब से ऊँचा स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। मन के आवेग-प्रवेगों का विश्लेषण करते हुए उन्होने भिन्न भिन्न भावों पर बडे गंभीर निबंध लिखे है जो उनकी पैनी अन्तर्दृष्टि के परिचायक है। शुक्ल जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा निबंध के क्षेत्र मे चमकी है। आलोचनात्मक निबंध तो उनके उच्चतम कोटि के है ही, मनोवैज्ञानिक निबंधों में भी वे सब से आगे है। सत्य यह है कि हिन्दी में इतने ऊँचे बौद्धिक स्तर का लेखक दूसरा नही हुआ। उनकी शैली, विषय प्रतिपादन और सूक्ष्म विषय-मनन अपने ढंग का निराला है। साहित्यिक निबंध लिखने वालों मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य ललिता प्रसाद शुक्ल, जैनेन्द्र कुमार, नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र आदि के नाम लिये

जा सकते है। विवरणात्मक निबंध की दिशा बहुत खाली है। यात्रा, भ्रमण, जीवन दर्शन, सामाजिक प्रश्न आदि पर जो लिखा गया है वह साधारण कोटि का है। विज्ञान, भूगोल, इतिहास, राजनीति, मनोविज्ञान आदि पर बहुत कम लिखा गया है। जो कुछ है भी उसमे मौलिक बहुत कम—विदेशी लेखकों का जूठन अधिक है। न जाने कितने नये और पुराने विषय ऐसे है जिन पर हिन्दी में कोई सामग्री नही मिलेगी। जो कुछ मिलता है वह या तो पाठ्य पुस्तको के प्रणयन के रूप में मिलता है या अनूदित सामग्री के रूप में। इतिहास की वेदना उत्पन्न करने वाली मार्मिक शैली में लिखे गये डा० रघुवीर सिंह के निबंध हिन्दी में अपने ढग के है। इसी प्रकार सस्कृति का ऐतिहासिक विकास और विभिन्न सस्कृतियो की कशमकश दिखाने वाले श्री भगवतशरण उपाध्याय के निबंध साहित्य के भंडार को सपन्न करते है। श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन के आत्म विश्लेषणात्मक निबंधो मे अनासक्त व्यग की चोट है। सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार परपरा की अपेक्षा रखने वाले विषयो पर निबंधो की कमी है। अधिकतर निबंधों में भावात्मक प्रणाली ही काम मे लाई जाती है।

गद्य हमारे साहित्य की नई प्रवृत्ति है। लगभग एक हजार वर्ष तक हम कविता की भाषा में सोचते रहे है। जैसे जैसे जीवन की जटिलता बढी और नई नई उलझन से भरी परिस्थितियां सामने आई वैसे वैसे अभिव्यक्ति का यह माध्यम हमें संकीर्ण लगा और गद्य का प्रवर्तन हुआ। पर इस थोड़े से समय में ही हिन्दी गद्य ने शैलियो की अपूर्व विविधता और विभिन्नता को जन्म दिया है। शैली की दिशा में न जाने कितने प्रयोग हुए हैं। आज के लेखक की अनुभूति बड़ी जटिल और संशयग्रस्त है। मनुष्य का मन ज्ञान विज्ञान के अध्ययन द्वारा अनेक रूपो में खुलने मुंदने लगा है। अपनी अभिव्यंजना के लिए वह नये नये प्रयोग करता है—अभिव्यक्ति के नये नये तरीके निकालता है। साथ ही आज का युग आलोचना

न रेक पनबिजलीघर वख्श ऊर्जा सोपान
का सिरमौर है। उससे शुरू होनेवाली
ताजिक एल्यूमीनियम
-रसायन संयत्र के
पर्वतमाला
रें पार कर
हुचाती है।
से प्रमुख
क्षेत्रीय
न-